प्रकास हिन्दुस्तानी जंबूर

श्री तारतम वाणी

प्रकास हिन्दुस्तानी

टीका व भावार्थ

श्री राजन स्वामी

प्रकाशक

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

नकुड़ रोड, सरसावा, सहारनपुर, उ.प्र.

www.spjin.org

सर्वाधिकार सुरक्षित (चौपाई छोड़कर)

© २०१५, श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ ट्रस्ट

पी.डी.एफ. संस्करण – २०१८

अनुक्रमणिका

	अनुभूमिका	8
1	कछु इन विध कियो रास	14
2	याद करो तुम साथ जी (साथ को प्रबोध)	24
3	साथ सकल तुम याद करो	51
4	ना कछू मन में ना कछू चित (लीला को प्रकास होना – आत्मा को प्रकास उपज्यो)	59
5	श्री सुंदरबाई स्यामाजी अवतार (श्री सुंदरबाई के अंतरध्यान की बीतक)	82
6	ओहि ओहि करती फिरों (विलाप)	121

7	मेरी सैयल रे (जाटी भाखा का विलाप)	200
8	पुकार चले मेरे पिउजी	218
9	एक लवो याद आवे सही (चौपाई प्रगटी है)	243
10	विनती एक सुनो मेरे प्यारे (सुन्दरसाथ की विनती)	268
11	आपन में बैठे आधार	300
12	मैं लिखूं श्री धनीजी के गुन	317
13	सुनो साथ मेरे सिरदार (साथ को सिखापन)	378
14	मेरे अंध अभागी जीव (जीव को सिखापन)	382
15	मेरे जीव अभागी रे	390

16	मेरे जीव सोहागी रे	408
17	मेरे साथ सोहागी रे	415
18	श्री धनीजी के लागूं पाए	437
19	अखंड दंडवत करूं परनाम	446
20	अब करूं अस्तुत आधार (अस्तुत कर गुन फिराए हैं)	466
21	सुन मेरे जीव कहूं वृतांत (जीव को सिखापन)	588
22	आंखां खोल तूं आप अपनी	620
23	वारने जाऊं वनराए वल्लभ की	632
24	अब अस्तुत ऊपर एक विनती कहूं	655
25	भट परो तिन नींद को (जाटी प्रबोध – कातनी को द्रष्टांत)	680
26	भट परो नींद मोह की	708

27	अब तूं जिन भूल आतम मेरी	730
28	भोरी तूं न भूल इंद्रावती	741
29	मैं जानूं निध एकली लेऊं (लखमीजी को दृष्टांत)	752
30	सोई ने सोई सूते क्या करो जी (प्रगटबानी प्रकास की)	825
31	बेहद के साथी सुनो (बेहद वानी)	887
32	हो वतनी बांधो कमर तुम बांधो (दूध पानी का निबेरा)	1027
33	सुनियो साथ कहूं विचार (श्री भागवत को सार)	1053
34	अब कहूं सो हिरदे रख (पख पुष्ट मरजाद प्रवाह)	1092

35	अब कछुक मैं अपनी करूं (गुनन की आसंका)	1114
36	गुन केते कहूं मेरे पिउ जी	1128
37	निजनाम श्री जी साहिब जी (श्री प्रकटवाणी)	1135

श्री कुलजम स्वरूप

निजनाम श्री जी साहेब जी, अनादि अक्षरातीत।

सो तो अब जाहेर भए, सब विध वतन सहित।।

प्रकास हिन्दुस्तानी – जंबूर

अतीत में यहूदी समाज गहन अन्धकार में डूबा हुआ था। वह निर्णय ही नहीं कर पा रहा था कि वह किसे अपना आराध्य बनाये और किस प्रकार उसकी उपासना करे।

ऐसे विकट समय में दाऊद पैगम्बर का प्रकटन हुआ, जिन्होंने अपने जंबूर ग्रन्थ से समस्त यहूदी समाज को स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद का निर्देश दिया। परिणामस्वरूप, दिशा विहीन समाज एक परब्रह्म की उपासना की ओर चल पड़ा।

जंबूर का अर्थ होता है प्रकाश करने वाला। दाऊद ने अपने अलौकिक ज्ञान से अज्ञानता के अन्धकार में भटकते हुए समाज को प्रकाश के स्वर्णिम पथ पर चलना सिखाया। विदित हो कि सत्य सनातन वैदिक धर्म से ही पारसी मत प्रकट हुआ, जिससे यहूदी मत निकला। इसी यहूदी मत से ईसाई एवं मुस्लिम समाज की उत्पत्ति हुई। ओल्ड टेस्टामेन्ट (पुराने विधान) का एक भाग जंबूर है, तो दूसरा भाग तौरेत। जबकि न्यू टेस्टामेन्ट (नवीन विधान) इंजील कहलाया।

यह कथानक जागनी लीला में इस प्रकार घटित होता है– सदगुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान होने के पश्चात् सुन्दरसाथ में अन्धकार छा गया। परमधाम की वाणी के अवतरण न होने से प्रायः सभी को अक्षरातीत के साथ अपने अखण्ड सम्बन्ध का बोध नहीं था। कुछ

ने तो यह मान लिया कि हमारे धनी परमधाम चले गये हैं। इसके साथ ही कुछ ने यह भी मान लिया कि वे अपनी गादी में बैठे हैं। बिहारी जी के गादी पर बैठने के पश्चात् तो बहुसंख्यक सुन्दरसाथ में यह धारणा ही बन गयी थी कि हमारे धाम धनी श्री बिहारी जी के अन्दर विराजमान हैं, क्योंकि वे ही गादी पर बैठे हैं।

परमधाम की आत्माओं को इन भ्रान्तियों से निकालने के लिये हब्शे में ही रास ग्रन्थ के साथ प्रकाश गुजराती का अवतरण हुआ, जिसका हिन्दुस्तानी भाषा में रूपान्तरण धाम धनी के आवेश से अनूप शहर में हुआ। यह कहना कदापि उचित नहीं है कि श्री महामति जी ने प्रकाश गुजराती का हिन्दुस्तानी भाषा में अनुवाद किया। वस्तुतः प्रकाश गुजराती एवं हिन्दुस्तानी, दोनों ही ग्रन्थ श्री राज जी के आवेश से अवतरित हुए हैं। जब प्र. हि.

४/१४ में स्वयं महामति जी कहते हैं कि "ए वचन महामति से प्रगट न होए", तो उन्हें प्रकाश गुजराती या कलश गुजराती का हिन्दुस्तानी भाषा में अनुवाद करने वाला कैसे कहा जा सकता है?

यथार्थता तो यह है कि श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर स्वयं अक्षरातीत ने ही प्रकाश गुजराती एवं कलश गुजराती को हिन्दुस्तानी भाषा में प्रकट किया है। गुजराती एवं हिन्दुस्तानी के दोनों ग्रन्थों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रन्थों में कई चौपाइयों का प्रसंग दूसरे में नहीं है। संख्या की दृष्टि से भी इनमें अन्तर है। जैसे प्रकाश गुजराती में १०६४ चौपाइयाँ हैं, जबकि प्रकाश हिन्दुस्तानी में ११८५ चौपाइयाँ हैं। इसी प्रकार कलश गुजराती में मात्र ५०६ चौपाइयाँ हैं और कलश हिन्दुस्तानी में ७७१ चौपाइयाँ

हैं।

जैसा कि पूर्व में यह कहा जा चुका है कि प्रकाश वाणी के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है, इस परम सत्य का स्पष्ट निरूपण करना कि श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में लीला करने वाले अक्षरातीत अपनी सम्पूर्ण शोभा के साथ श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। जो उन्हें नहीं पहचानेगा , वह अन्ततोगत्वा पश्चाताप के ही आँसू बहायेगा। संक्षेप में प्रकाश वाणी के ये अंश देखने योग्य हैं–

नींद उड़ाए जो देखिए आपन, तो आए हैं आप ले निध जी।

प्र. हि. २/४

सो रोसनाई ले तारतम की, आए आपन में आधार जी।

प्र. हि. २/१५

अब इन उजाले जो न पेहेचानो, तो आपन बड़े गुन्हेगार जी।

प्र. हि. २/१६

हिरदे बैठ कहे वचन एह, कारन साथ किए सनेह।

प्र. हि. ४/२

तिन कारन तुम सुनियो साथ, आपन में आए प्राणनाथ।

प्र. हि. ४/६

श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप की पहचान देने के साथ-साथ प्रकाश वाणी से विरह का वह निर्मल झरना बहता है, जिसके मधुर जल का रसास्वादन किये बिना आत्म-जाग्रति के दिव्य महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता। "बेहद वाणी" का अनुपम ज्ञान जहाँ प्रत्येक ब्रह्मवादी को अपनी ओर आकर्षित करता है, वहीं "प्रकट वाणी" की मनोरम उक्तियाँ सबका मन मोह लेती हैं कि किस प्रकार मात्र ११८ चौपाइयों में ही सम्पूर्ण लीला (परमधाम,

व्रज, रास, तथा जागनी) को समाहित कर दिया गया है। अब प्रस्तुत है, प्रकाश वाणी की अमृत धारा–

कछु इन विध कियो रास, खेल फिरे घर।

खेल देखन के कारने, आइयां उमेदां कर।।१।।

प्राणेश्वर अक्षरातीत ने कुछ इस प्रकार की विचित्र लीला की, जिसमें हम सभी सखियाँ योगमाया के ब्रह्माण्ड में रास खेलने के पश्चात् परमधाम पहुँची और अपने मूल तनों में जाग्रत हुईं। किन्तु अभी भी हमारे मन में माया का खेल देखने की इच्छा बनी हुई थी, इसलिये हम इस नश्वर जगत में पुनः आयीं, जिससे कि माया का खेल पूरी तरह (जी भरकर) देख सकें।

उमेदां न हुइयां पूरन, धाख मन में रही।

तब धनीजीऐ अंतरगत, हुकम कियो सही।।२।।

व्रज–रास की लीला में माया का खेल देखने की हमारी इच्छा यथार्थ रूप से पूर्ण नहीं हो सकी थी। वह बार – बार हमारे मन में कचोटती (तड़पाती) रहती थी। इसलिये धाम धनी ने हमारी इच्छा को पूर्ण करने के लिये कालमाया का यह नया ब्रह्माण्ड बनाने का आदेश दिया।

भावार्थ– अपनी अपूर्ण इच्छा को पूर्ण करने के लिये मन में जो प्रबल चाहना होती है, उसे धाख रखना कहते हैं। यद्यपि "अन्तर्गत" का मूल आशय "अन्दर" से लिया जाता है, किन्तु उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में आए शब्द "अंतरगत" का तात्पर्य ब्रह्माण्ड से है। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी के ये कथन देखने योग्य हैं–

१. अन्तरगत ब्रह्माण्ड थें, सदा साहेब के हजूर।

किरंतन ६५/१८

२. सुन्दरबाई अन्तरगत कहे, प्रकास वचन अति भारी जी।

प्र. हि. ३/२

३. चित में चेतन अन्तरगत आपे, सकल में रहया समाई।

किरंतन १८/६

४. ए वानी धनी अन्तरगत कही, केहने की सोभा कालबुत को भई।

प्र. हि. २९/५

५. अन्तरगत में रेहे गए, धनी के दो एक वचन।

किरंतन ९६/१५

तब तीसरो रचके खेल, स्यामाजी आए इत।

तब हम भी आइयां तित, स्यामाजी खेले जित।।३।।

तब धाम धनी ने अपने आदेश से इस ब्रह्माण्ड की

रचना करवायी। इसमें जागनी लीला के रूप में तीसरा खेल चल रहा है। श्यामा जी इसी ब्रह्माण्ड में आकर लीला कर रही हैं। उनके साथ हम सब सखियाँ भी जागनी लीला में भाग लेने के लिये आयी हुई हैं।

भावार्थ– इस ब्रह्माण्ड की रचना करवाने का तात्पर्य मात्र इस सौर मण्डल वाले ब्रह्माण्ड से है, असंख्य ग्लैक्सियों वाली इस सम्पूर्ण सृष्टि (समष्टि ब्रह्माण्ड) से नहीं। यह विदित हो कि निहारिकाओं से सर्वदा ही हमारे सौर मण्डल जैसे अनेकों सौर मण्डल बनते रहते हैं। इन्हें ही बोल चाल की भाषा में नये ब्रह्माण्ड का बनना कह सकते हैं।

जब व्रज लीला मात्र पृथ्वी लोक में अवतरित हुई थी, तो रास के समय पृथ्वी सहित सम्पूर्ण सौर मण्डल (सूर्य + नव ग्रह + सभी उपग्रह) का ही लय कहना उचित

है, असंख्य निहारिकाओं वाले इस सम्पूर्ण जगत का लय करना कभी भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि इस सृष्टि में अब तक लगभग ५ अरब निहारिकाओं का पता चला है, जिसमें हमारी निहारिका (आकाश गंगा, ग्लैक्सी) में लगभग ३ अरब नक्षत्र (तारे, सूर्य) हैं। हमारी पृथ्वी जैसी लगभग २० करोड़ पृथ्वियाँ इस आकाशगंगा में हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण सृष्टि का लय करना ईश्वरीय मर्यादा के विपरीत लगता है।

व्रज लीला में भाग लेने वाले जीवों को ही केवल अखण्ड मुक्ति मिली थी, सारी सृष्टि को नहीं। पृथ्वी लोक (सौर मण्डल) के सभी प्राणियों को जब अखण्ड मुक्ति मात्र इस जागनी लीला में मिलनी है, तो असंख्य पृथ्वी लोकों को लय करना युक्तिसंगत नहीं लगता। क. हि.

२३/७६ में कहा गया है–

पेहेले दृष्टें हमारे जो आइया, तेते मिने उजास।

हम खेले तिन उजास में, और लोक सबको नास।।

वस्तुतः सौर मण्डल को ही लोक भाषा (पौराणिक मान्यता) में १४ लोकों के ब्रह्माण्ड की संज्ञा दी जा सकती है। जागनी ब्रह्माण्ड के रूप में इसी की उत्पत्ति हुई है और इसी का रास के समय में प्रलय कर दिया गया था। (इस सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान के लिये कृपया "ब्रह्माण्ड रहस्य" नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें)

यद्यपि चौपाई की प्रथम पंक्ति के शाब्दिक अर्थ से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि श्यामा जी ने इस खेल को बनाया है, किन्तु सूक्ष्म आशय यही है कि खेल को धाम धनी ने बनाया है, क्योंकि सम्पूर्ण लीला श्री राज जी के आदेश से ही हो रही है। इन लीलाओं में श्यामा जी पर भी नींद

का आवरण रहा है, इसलिये वे स्वयं ही खेल को नहीं बना सकतीं। श्यामा जी के लिये अतिशय शोभायुक्त शब्दावली के प्रयोग के कारण इस तरह की बात कही जा सकती है, किन्तु उसका भी गुह्य तात्पर्य खेल बनवाने से है, खेल बनाने से नहीं।

स्यामाजी को धनिऐं, आवेस अपनो दियो।

सब केहे के हकीकत, हुकम ऐसो कियो।।४।।

श्याम जी के मन्दिर में श्री श्यामा जी (श्री देवचन्द्र जी) को प्रियतम अक्षरातीत ने अपने आवेश स्वरूप से दर्शन दिया और उनके धाम हृदय में विराजमान हुए। वार्तालाप के मध्य में उन्होंने परमधाम से सखियों के द्वारा व्रज–रास में आने के पश्चात् इस जागनी ब्रह्माण्ड में आने का वर्णन किया तथा उन्हें आदेश दिया कि सभी आत्माओं

को जाग्रत करके ले आओ, तभी परमधाम चल सकेंगे।

भावार्थ– परमधाम में अक्षरातीत का नूरमयी स्वरूप विद्यमान है। वह कालमाया या योगमाया में नहीं आ सकता। यही कारण है कि उनका आवेश स्वरूप ही कालमाया या योगमाया में लीला करता है। यह स्वरूप उनके हृदय की इच्छा (आदेश) से प्रकट हुआ होता है तथा नूरमयी स्वरूप जैसा ही प्रतीत होता है। इसकी लीला को अक्षरातीत की लीला कहते हैं। इसकी शोभा, शक्ति, ज्ञान, आदि सभी निधियाँ नूरमयी स्वरूप जैसी ही प्रतीत होती हैं। श्यामा जी के धाम हृदय में विराजमान होने को ही, उन्हें अपना आवेश देना कहा गया है।

इंद्रावती लागे पाए, सुनो प्यारे साथ जी।

तुम चेतो इन अवसर, आयो है हाथ जी।।५।।

सब सुन्दरसाथ के चरणों में प्रणाम करते हुए श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे प्राणप्रिय सुन्दरसाथ जी! मेरी बात सुनिये। अक्षरातीत को रिझाने के लिये आपको यह सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ है, जिसे आप व्यर्थ में न गँवाइये। इस जागनी ब्रह्माण्ड में प्रियतम को अपने धाम हृदय में बसा लेने के प्रति सावधान हो जाइए।

भावार्थ– इस चौपाई के प्रथम चरण में यह संशय होता है कि श्री इन्द्रावती जी किसके चरणों में प्रणाम करके कह रही है, श्री राज जी के या सुन्दर साथ के?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि श्री इन्द्रावती जी के लिये अक्षरातीत तो सर्वस्व हैं ही, किन्तु सुन्दर साथ को शिक्षा (सिखापन) देने के समय इस प्रकार की अभिव्यक्ति सुन्दरसाथ के लिये भी की जाती है, जैसे–

इन्द्रावती बाई कहे धामना साथनो, हूं नमी नमी लागूं पाए।

प्र. हि. ७/१२

तुम सयाने मेरे साथ जी, जिन रहो विखे रस लाग।

पाऊं पकड़ कहे इंद्रावती, उठ खड़े रहो जाग।।

प्र. हि. १७/२१

इस प्रकार के उद्गार, कभी तो सुन्दरसाथ के द्वारा सीख को अनिवार्य रूप से ग्रहण करने के लिये दबाव के रूप में निकलते हैं, तो कभी व्यंग्यपूर्वक सीख देने के लिये निकलते हैं।

प्रकरण ।।१।। चौपाई ।।५।।

साथ को सिखापन – राग धनाश्री

इस प्रकरण में सुन्दरसाथ को यह सीख दी गयी है कि इस जागनी ब्रह्माण्ड में अब हमें क्या करना चाहिए।

याद करो तुम साथ जी, हाथ आयो अवसर जी।

आप डारया ज्यों पेहेले फेरे, भी डारियो निसंक फेर जी।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! अब आप के पास यह स्वर्णिम अवसर है कि आप अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत को प्रत्यक्ष पा लीजिए। अपनी उस व्रज लीला को याद कीजिए जिसमें आपने बाँसुरी की आवाज सुनने मात्र से अपने शरीर और संसार को छोड़ दिया था। उसी प्रकार इस जागनी ब्रह्माण्ड में भी बिना किसी संशय के अपने धाम धनी पर न्योछावर हो जाइए।

भावार्थ– यह तो सर्वविदित ही है वि.सं. १७१२ में

सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी का धामगमन हो गया था तथा उनके शरीर का दाह संस्कार भी कर दिया गया था। ऐसी स्थिति में अब किस के ऊपर न्योछावर होने की बात कही जा रही है?

स्पष्ट है कि यह कथन श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान युगल स्वरूप के लिये है। आगे की चौपाइयों में यही प्रसंग कहीं सांकेतिक रूप में तो कहीं प्रत्यक्ष रूप में कहा गया है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रकाश वाणी श्री प्राणनाथ जी (युगल स्वरूप) की पहचान के लिये ही अवतरित हुई है।

सुंदरबाई इन फेरे, आए हैं साथ कारन जी।

भेजे धनिऐं आवेस देय के, अब न्यारे न होऐं एक खिन जी।।२।।

परमधाम की आत्माओं को जाग्रत करने के लिये स्वयं

श्यामा जी ही इस जागनी ब्रह्माण्ड में आयी हुई हैं। उनके धाम हृदय में स्वयं श्री राज जी अपने आवेश स्वरूप से विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। वे एक क्षण के लिये भी सुन्दरसाथ से अलग नहीं हो सकते।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के शब्दों का बाह्य अर्थ करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि श्री राज जी ने परमधाम में ही श्यामा जी को अपना आवेश दे कर इस जागनी ब्रह्माण्ड में भेजा है।

आवेश अक्षरातीत से भिन्न कोई नयी वस्तु नहीं है, अपितु परमधाम से बाहर लीला करने के लिये धारण किया गया स्वयं श्री राज जी का ही स्वरूप है। यद्यपि कहीं–कहीं भावात्मक रूप में भावावेश , प्रेमावेश, ज्ञानावेश, क्रोधावेश, आदि की बात की जाती है, जिसका तात्पर्य है कि अमूर्त भाव, प्रेम, ज्ञान, एवं क्रोध

आदि को उस व्यक्ति के माध्यम से मूर्तिमान रूप में वर्णित किया जाता है। इसी प्रकार अक्षरातीत का आवेश न तो नूरमयी तत्त्व है और न त्रिगुणात्मक, बल्कि अक्षरातीत का अपनी इच्छा के द्वारा कालमाया या योगमाया के ब्रह्माण्ड में धारण किया हुआ ऐसा स्वरूप है, जो पूर्णतया (हूबहू) नूरमयी स्वरूप जैसा ही प्रतीत होता है।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा के धाम हृदय में अक्षरातीत सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते ही हैं, किन्तु माया का पर्दा होने के कारण आत्मा को उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो पाता। इसी सन्दर्भ में यह बात कही जा सकती है कि श्यामा जी को जब तीसरी बार श्याम जी के मन्दिर में श्री राज जी का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ, तो वार्ता के उपरान्त श्री राज जी उनके धाम हृदय में लीला करने के लिये प्रत्यक्ष रूप से

विराजमान हुए। तारतम वाणी का कथन है–

"हम को खेल दिखावन काज, हमसों आगूं आए श्री राज।"

धाम धनी अपनी अंगनाओं से एक पल के लिये भी अलग नहीं रह सकते। यदि श्री राज जी ने परमधाम से आकर दर्शन दिया, तो उपरोक्त चौपाइयों के कथन की सार्थकता ही कहाँ रह जाती है? प्रश्न यह होता है कि वि.सं. १६३८–१६७८ तक श्री राज जी कहाँ रहे?

तारतम वाणी के प्रकाश में समीक्षा करने पर यही विदित होता है कि धाम धनी श्यामा जी के धाम हृदय में ही सूक्ष्म रूप से विराजमान थे, किन्तु प्रत्यक्ष लीला करने के लिये श्याम जी के मन्दिर में दर्शन देकर उनके धाम हृदय में विराजमान हुए। अब श्यामा जी के ऊपर से माया का पर्दा हट चुका था और उन्हें यह प्रत्यक्ष रूप से

दिखने लगा था कि मेरे धाम हृदय में ही मेरे प्राणेश्वर विराजमान हैं। इसे ही साक्षात् रूप से विद्यमान होकर लीला करना कहा गया है। बीतक का यह कथन भी इसी ओर संकेत करता है–

"अन्दर तुम्हारे आकार के, आए के बैठे हम।"

सुन्दरसाथ की जागनी के क्षेत्र में पदार्पण (कार्यशील) होने के कारण आलंकारिक भाषा में यह कथन कहा गया है कि श्री राज जी ने हमें जगाने के लिये श्यामा जी को परमधाम से अपना आवेश देकर भेजा है।

सुपने में भी खिन ना छोड़ें, तो क्यों छोड़ें साख्यात जी।
दया देखो पिउजी की हिरदे मांहें, विध विध की विख्यात जी।।३।।

जब व्रज की लीला में धाम धनी ने पल भर के लिये भी हमें अपने से अलग नहीं किया , तो अब इस जागनी

लीला में हमें कैसे छोड़ सकते हैं? ऐसी अवस्था में जबकि हमें तारतम ज्ञान के उजाले में यह अच्छी तरह से विदित हो चुका है कि वे साक्षात् ही आये हैं, हे साथ जी! आप अपने हृदय में प्रियतम की प्रेममयी कृपा रूपी दया का अनुभव कीजिए, जो पल–पल हमारे प्रति अनेक रूपों में हो रही है।

भावार्थ– व्रज में सखियों को अपनी, घर की, तथा प्रियतम की कोई पहचान नहीं थी, इसलिये उसे नींद या स्वप्न की लीला के अन्तर्गत कहा गया है। इस जागनी लीला में तारतम ज्ञान के प्रकाश में यह विदित हो चुका है कि सागर की लहरों की तरह अक्षरातीत पल भर के लिये भी अपनी अंगरूपा आत्माओं से अलग नहीं हो सकते, इसलिये कोई भी ब्रह्मात्मा उन्हें इस नश्वर जगत में भी साक्षात् अनुभव (प्राप्त) कर सकती है।

ऐसी बात करे रे पिउजी, पर ना कछू साथ को सुध जी।
नींद उड़ाए जो देखिए आपन, तो आए हैं आप ले निध जी।।४।।

धाम धनी इस प्रकार अपनी अमृतमयी कृपा कर रहे हैं, किन्तु सुन्दरसाथ को उसकी कुछ भी पहचान नहीं है। यदि हम अपने अन्दर से माया की नींद रूपी अज्ञानता को समाप्त कर दें, तो हमें यह बोध हो जायेगा कि प्रियतम हमारे लिये परमधाम के ज्ञान की अनमोल सम्पदा लेकर आये हैं।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में स्पष्ट कह दिया गया है कि तारतम ज्ञान की अखण्ड निधि लेकर स्वयं अक्षरातीत आये हैं। यह कथन उस समय का है, जब सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी का अन्तर्धान हो चुका था। ऐसी अवस्था में श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में लीला करने वाले स्वरूप को ही यहाँ अक्षरातीत के रूप में

दर्शाया गया है। उनके लिये "जोश" और "हुक्म" जैसी शब्दावली का प्रयोग करके उनके स्वरूप के ऊपर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

सुपने में मनोरथ किए, तो तित भी पिउजी साथ जी।
सुंदरबाई ले आवेस धनी को, न छोड़े अपना हाथ जी।।५।।

व्रज में हमारे मन में जो भी इच्छा होती थी, धाम धनी उसे अवश्य पूर्ण करते थे, क्योंकि वे उस समय प्रत्यक्ष रूप से हमारे साथ थे। किन्तु इस जागनी ब्रह्माण्ड में प्रियतम श्यामा जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं और श्यामा जी किसी भी अवस्था में हमारा हाथ नहीं छोड़ सकती हैं।

भावार्थ– व्रज में श्री कृष्ण जी के तन में अक्षरातीत अक्षर ब्रह्म की आत्मा के साथ लीला कर रहे थे, जिसमें

अक्षर ब्रह्म की आत्मा पूर्ण रूप से नींद के आगोश में थी। उसे कुछ भी नहीं मालूम था कि मैं कौन हूँ और कहाँ से आया हूँ?

इस जागनी ब्रह्माण्ड में अक्षरातीत ने सर्वप्रथम श्री देवचन्द्र जी के तन में विद्यमान श्यामा जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला की है, तत्पश्चात् श्री महामति जी के धाम हृदय (मिहिरराज जी के तन) में लीला की है।

व्रज में श्री राज जी प्रत्यक्ष रूप से श्री कृष्ण जी के तन में लीला कर रहे थे, भले ही उस तन में विद्यमान अक्षर की आत्मा माया की नींद में थी। श्री कृष्ण जी के बाल्यकाल के मोहक रूप एवं प्रेममयी मधुर लीलाओं के कारण गोपियों सहित सम्पूर्ण व्रज मण्डल का उनके प्रेम में डूब जाना स्वाभाविक था।

इसके विपरीत, इस जागनी लीला में धाम धनी कुछ अप्रत्यक्ष (गुप्त) रूप से लीला कर रहे हैं। चाहे श्री देवचन्द्र जी का तन हो या श्री मिहिरराज का, दोनों में ४० वर्ष की अवस्था के बाद ही लीला प्रारम्भ होती है। इस लीला में ज्ञान की प्रधानता होती है, जिसके कारण कभी–कभी मानवीय लीला की भ्रान्ति भी हो जाती है। वैसे तो आड़िका लीला के द्वारा धाम धनी अपनी पहचान देते हैं, किन्तु उसमें स्थायित्व नहीं है। दूसरे तन की लीला में ज्ञान की पूर्णता होने से पहचान भी पूर्ण होती है, किन्तु व्रज की तरह प्रेम नहीं है। यही कारण है कि आत्म–जाग्रति में बाधा पड़ रही है।

धनी न देवें दुख तिल जेता, जो देखिए वचन विचारी जी।
दुख आपन को तो जो होत है, जो माया करत हैं भारी जी।।६।।

हे साथ जी! यदि आप अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत के इन वचनों का विचार करें तो यह स्पष्ट विदित होता है कि धाम धनी हमें तिल मात्र, अर्थात् नाम मात्र, के लिये भी दुःख नहीं दे सकते हैं। इस नश्वर जगत में हमें दुःख का जो भी अनुभव हो रहा है, वह इसलिये हो रहा है क्योंकि हम धाम धनी की अपेक्षा माया से अधिक लगाव (आसक्ति) रखते हैं।

भावार्थ– "भारी करना" एक मुहावरा है, जिसका तात्पर्य है, अधिक महत्व देना या उससे अधिक आसक्ति बाँधना। जब हम धाम धनी से औपचारिक प्रेम निभाते हैं, अर्थात् चितवनी से रहित होकर मात्र कर्मकाण्डों का प्रदर्शन करते हैं एवं संसार के क्षणिक सुखों के पीछे भागते हैं, तो इसे माया को भारी करना कहा जाता है।

अंतरध्यान समें दुख दिए, ए आंसका उपजत जी।

तिन समें संसार न किया भारी, साथें दुख देखे क्यों तित जी।।७।।

मन में यह संशय उत्पन्न होता है कि यदि राज जी हमें नाम मात्र के लिये भी दुःख नहीं देते हैं, तो रास के समय अन्तर्धान होकर उन्होंने विरह का दुःख क्यों दिया? उस समय तो हमने माया (संसार) को अपने ऊपर जरा भी हावी (भारी) नहीं होने दिया था, फिर भी हमने वहाँ विरह का असह्य दुःख क्यों देखा?

दुख तो क्यों ए न देवे रे पिउजी, ए विचार के संसे खोइए जी।

ए याद वचन तो आवे रे सखियो, जो माया छोड़ते घनों रोइए जी।।८।।

हे साथ जी! अपने इस संशय का निवारण करने के लिये इस विचार को अपने मन में बसा लीजिए कि धाम धनी हमें किसी भी प्रकार से दुःख नहीं दे सकते हैं। इस

जागनी लीला में, माया को छोड़ते समय, जब हम बहुत दुःखी होते हैं (रोते हैं) कि माया के ये सुख हमसे क्यों छूटे जा रहे हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि जैसे श्री राज जी हमसे माया के सुखों को छीनकर हमें दुःख देते हैं? उन्होंने हमें रास में भी इसी प्रकार दुःख दिया था। हमें स्वाभाविक रूप से रास की दुःख भरी बातों की याद आ ही जाती है।

भावार्थ– माया छोड़ने के समय बहुत अधिक रोने का आशय यह है कि तारतम वाणी से अपने मूल घर एवं प्रियतम की पहचान हो जाने पर जब हृदय धनी के ईमान (अटूट विश्वास) पर खड़ा होने लगता है, तो माया के सुख छूटने लगते हैं और कुछ दुःख की अनुभूति होने लगती है। ऐसे समय में आत्म–चक्षुओं के पूर्ण रूप से न खुलने के कारण हमें ऐसा लगता है, जैसे धाम धनी हमें

माया का दुःख देते हैं।

खेल याद देने को मेरे पिउजी, दुख दिए अति घनें जी।
साथें मनोरथ एह जो किए, धनिऐं राखे मन आपनें जी।।९।।

हे साथ जी! आपने परमधाम में श्री राज जी से माया का दुःख देखने की इच्छा की थी, इसलिये आपके मन की इच्छा को पूर्ण करने के लिये धाम धनी ने रास लीला के मध्य में अन्तर्धान होकर आपको विरह का बहुत अधिक दुःख दिया था, जिससे आप को यह याद रहे कि आपकी इच्छा को व्रज–रास में पूर्ण कर दिया गया है।

आपन माया की होंस जो करी, और माया तो दुख निधान जी।
सो याद देने को रे साथ जी, पिउ भए अंतरध्यान जी।।१०।।

हे साथ जी! हमने परमधाम में प्रियतम अक्षरातीत से

माया का खेल देखने की इच्छा की थी। यह माया तो दुःख का भण्डार ही है। हमारी माँग को पूरी करने के लिये ही श्री राज जी रास के मध्य अन्तर्धान हो गये, जिससे हमें दुःख का खेल माँगने की स्मृति (याद) बनी रहे।

नातो ए अपना रे पिउजी, अधखिन बिछोहा न सहे जी।
एह विचार जो देखिए साथजी, तो तारतम प्रगट कहे जी।।११।।

अन्यथा प्रेम के सागर रूपी हमारे प्राणेश्वर ऐसे हैं कि वे आधे क्षण के लिये भी हमारा वियोग सहन नहीं कर सकते। हे साथ जी! अपनी आत्माओं को अपने से पल भर के लिये भी अलग न करने के धाम धनी के इस विचार के विषय में यदि हम सोचें, तो तारतम वाणी भी प्रत्यक्ष रूप से इसकी साक्षी देती है।

इन समे तारतम की समझन, क्योंकर कहिए सोए जी।

अनेक विध का तारतम इत, तब घर लीला प्रगट होए जी।।१२।।

इस समय यह कैसे माना (कहा) जाये कि सुन्दरसाथ को तारतम ज्ञान की वास्तविक समझ हो गयी है? वैसे तो तारतम ज्ञान का प्रकटीकरण इस संसार में अनेक रूपों में हुआ है, किन्तु जब तारतम का भी तारतम प्रकट होगा तो परमधाम की सम्पूर्ण लीला का प्रकाश हो जायेगा।

भावार्थ– "तारतम" का तात्पर्य है– माया के अन्धकार (तमस्) से परे शाश्वत सत्य की ओर ले जाने वाला। यह हमारी आत्मा और परब्रह्म के बीच तारतम्य (निरन्तरता) बनाये रखता है। इस प्रकार "तारतम" शब्द संज्ञा है तथा "तारतम्य" विशेषण है।

सामान्यतः नवरंग स्वामी जी के इस कथन–

नूर मन्त्र आवेश निधि, तारतम का तारतम।

बानी लीला मूलतर, ये अष्ट विध तारतम।।

का आधार लेकर यही कहा जाता है कि तारतम के आठ भेद होते हैं, अर्थात आठ प्रकार के तारतम होते हैं। अपने इस कथन की साक्षी में तारतम वाणी, नवरंग वाणी, तथा बीतक की ये चौपाइयाँ प्रस्तुत की जाती हैं–

इन्द्रावती पिया संगे, उदर फल उतपन।

एक निज बुध अवतरी, दूजा नूर तारतम।।

क. हि. २३/९१

श्री देवचन्द्र जी स्वरूप को, हकें दिया तारतम नूर।

तिनका विस्तार कयामत में, होएगा बड़ा मजकूर।

श्री वृन्दावन चन्द्र ने, कह्यो मंत्र तारतम।

धनी देवचन्द्र जी को दियो, वचन ग्यारहमें मर्म।।

जो जाग बैठे निजधाम में, ताए आवेस को क्या कहिए।
तारतम तेज प्रकास पूरन, तिन थें सकल बिध सुख लहिए।।

क. हि. २३/४७

धन धन सखी मैं सोहागनी, जो मो में ए निध आई।

क. हि. २३/५१

पर धाम की निधि, सो कही तारतम। प्र. हि. ३७/९५

तारतम का जो तारतम, अंग इन्द्रावती विस्तार।
पैए देखाए पार के, तिन पार के भी पार।।

क. हि. २३/७२

तारतम बानी वतन की, जिन कियो तिमिर सब नास।

प्र. हि. ३२/२२

यह विचारणीय तथ्य है कि एक शरीर के कई अवयव होते हैं, जैसे हाथ, पैर, आँख, मुख, नासिका, आदि। ये

सभी मिलकर कर एक शरीर की शोभा को धारण करते हैं। इन्हें एक शरीर का अंग तो कहा जा सकता है, किन्तु इन्हें शरीर का भेद या शरीर का प्रकार नहीं कहा जा सकता। हाँ, सामूहिक रूप से अनेक शरीरों के भेद हो सकते हैं, जैसे– लम्बे, ठिगने, दुबले, पतले, मोटे, गोरे, या काले शरीर। एक ही शरीर में ये सभी विशेषतायें नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनमें विरोधाभासी गुण–दोष हैं।

इसी प्रकार, परमधाम के तारतम ज्ञान को आठ प्रकार का कहना उचित नहीं है। इसे आठ प्रकार की विशेषताओं से युक्त तो कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इसकी विशिष्टताओं के आठ भेद या प्रकार हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि परमधाम से आठ प्रकार के तारतम आये।

अक्षरातीत के जिस आवेश स्वरूप ने श्री देवचन्द्र जी

को श्याम जी के मन्दिर में दर्शन देकर सारा ज्ञान दिया, उसी ने श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर १ चौपाई तथा श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान होकर शेष ५ चौपाइयाँ कही। १ या ६ चौपाइयों को "मन्त्र तारतम" कहकर शेष सम्पूर्ण तारतम वाणी को उसका विस्तार कहना उचित है। इसी प्रकार तारतम वाणी के खिलवत, परिक्रमा, सागर, तथा श्रृंगार ग्रन्थ को "तारतम का तारतम" कहना युक्तिसंगत है। किन्तु "निधि तारतम" को तारतम से अलग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निधि शब्द विशेषण है जो तारतम ज्ञान की महिमा के सम्बन्ध में है। श्रीमुखवाणी में इसे इस प्रकार दर्शाया गया है–

बोहोत धन ल्याये धनी धाम थें, विध विध के प्रकार।
सो ए सब मैं तौलिया, तारतम सब में सार।।

क. हि. २३/५४

श्री राज जी के आवेश स्वरूप के द्वारा आड़िका लीला का प्रकटन होता है या दर्शन लीला होती है, जैसे श्रीजी के स्वरूप के द्वारा चर्चा के समय सुन्दरसाथ को युगल स्वरूप, व्रज, रास, श्री देवचन्द्र जी, आदि का प्रत्यक्ष दर्शन होता था। तारतम वाणी का अवतरण या "दर्शन लीला" का प्रकटीकरण श्री राज जी के आवेश से ही होता है। इसलिये आवेश या लीला के साथ तारतम शब्द जोड़कर अलग–अलग कहना उचित नहीं है। वस्तुतः निधि तारतम, वाणी तारतम, तथा आवेश तारतम सभी एकार्थवाची हैं।

हिन्दी में जिसे तारतम कहते हैं, उसे ही अरबी में नूर कहते हैं–

"रूह अल्ला ईसा मसी, नूर नाम तारतम।"

ए नूर आगे थे आइया, अछर ठौर के पार।

ए सब जाहेर कर चल्या, आया निज दरबार।।

क. हि. १/१

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अक्षरातीत द्वारा लाये गये परमधाम के इस तारतम ज्ञान को आठ प्रकार की विशेषताओं से दर्शाया गया है।

अक्षर ब्रह्म की पंचवासनाओं द्वारा सुरति –शब्द (विहंगम) योग के द्वारा हद के ब्रह्माण्ड से परे होकर बेहद का अनुभव किया गया। उनके लिये उनका ज्ञान ही "तारतम" की शोभा को धारण कर सकता है, क्योंकि उसने उन्हें हद से परे बेहद का मार्ग दर्शाया। इसी प्रकार तप एवं योग साधना का आश्रय लेकर जीवसृष्टि ने बैकुण्ठ–निराकार को प्राप्त किया। उन्हें भी अपना ज्ञान "तारतम" के रूप में लगा, क्योंकि उसके ही द्वारा

उन्होंने जन्म–मरण से परे होकर निराकार मण्डल का सुख प्राप्त किया।

पेहेचानवे को पिउजी अपना, करूं तारतम विचार जी।
साथ सकल तुम लीजो दिल में, न रहे संसे लगार जी।।१३।।

अपने प्राण प्रियतम की पहचान करने के लिये अब मैं तारतम ज्ञान के द्वारा विचार करती हूँ। हे साथ जी! आप सभी मेरे इस चिन्तन रूपी फल को अपने हृदय में बसा लीजिए, जिससे आपके मन में नाम मात्र के लिये भी संशय न रहे।

भावार्थ– सम्पूर्ण तारतम वाणी परब्रह्म के आवेश द्वारा अवतरित हुई है। इसे श्री इन्द्रावती जी के विचार रूपी चिन्तन का फल कदापि नहीं कह सकते, किन्तु उपरोक्त चौपाई में विचार करने का कथन तारतम वाणी को यहाँ

के शब्दों में व्यक्त करने की एक शैली के रूप में किया गया है।

पेहेली बेर तहां ए निध न हुती, तारतम जोत रोसन जी।
तो ए फेरा हुआ रे साथ को, तुम देखो विचारी मन जी।।१४।।

हे साथ जी! आप अपने मन में इस बात का विचार कीजिए कि जब हम व्रज में आये थे, तो उस समय तारतम ज्ञान की अलौकिक ज्योति का उजाला नहीं हुआ था। इसलिये अपनी, परमधाम की तथा प्रियतम की पूर्ण पहचान पाने के लिये हमें इस जागनी ब्रह्माण्ड में आना पड़ा है।

आसंका न रहे किसी की, जो कीजे तारतम विचार जी।
सो रोसनाई ले तारतम की, आए आपन में आधार जी।।१५।।

यदि आप तारतम वाणी के वचनों का यथार्थ चिन्तन करते हैं, तो आपके मन में किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहेगा। यही कारण है कि हमारे संशयों को दूर करने के लिये, हमारे प्राणों के आधार स्वयं अक्षरातीत ही तारतम ज्ञान का उजाला लेकर मेरे धाम हृदय में (हमारे मध्य) आकर विराजमान हुए हैं।

भावार्थ– यद्यपि संशय का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है, तथापि इसके केन्द्र में अक्षरातीत, परमधाम, एवं निज स्वरूप की वास्तविक पहचान ही होती है। श्री देवचन्द्र जी के धामगमन के पश्चात् प्रायः सबके मन में संशय के बादल छाये रहते थे कि अब हमारे प्राणेश्वर कहाँ हैं, बिहारी जी की गादी में या परमधाम में या श्री मिहिराज जी के धाम हृदय में, जैसा कि सद्गुरू महाराज ने हमें बताया था?

अब इन उजाले जो न पेहेचानो, तो आपन बड़े गुन्हेगार जी।

चरने लाग कहे इंद्रावती, पिउजी के गुन अपार जी।।१६।।

अब इस तारतम वाणी के उजाले में भी यदि हमने अपने धाम धनी श्री प्राणनाथ जी को नहीं पहचाना, तो निश्चित रूप से हम बहुत बड़े अपराधी कहे जायेंगे। अपने प्राण वल्लभ के चरणों में प्रणाम करती हुई श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कहती हैं कि हे धनी ! आपकी महिमा अनन्त है।

भावार्थ– उपरोक्त दोनों चौपाइयों का यही कथन है कि श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में स्वयं श्री राज जी ही विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। जो उनके स्वरूप को तारतम वाणी के प्रकाश में नहीं पहचानेगा, उसे अक्षम्य अपराध का दोष लगेगा।

प्रकरण ।।२।। चौपाई ।।२१।।

राग धनाश्री

इस प्रकरण में सुन्दरसाथ को आत्म–जाग्रति के लिये सीख (शिक्षा) दी गयी है।

साथ सकल तुम याद करो, जिन जाओ वचन विसर जी।
धनी मिले आपन को माया में, जिन भूलो ए अवसर जी।।१।।

श्री इन्दावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! आप सभी मिलकर परमधाम के उस प्रसंग को याद कीजिए, जिसमें आपने अपने प्रियतम से कहा था कि हम कभी भी, किसी भी स्थिति में, आपको नहीं भूलेंगे। आप अपने उन वचनों को भूलिए नहीं। धाम धनी इस मायावी जगत में एक मानव तन (श्री मिहिरराज जी) में साक्षात् मिले हैं। उनकी पहचान करके रिझाने का अवसर न छोड़िये।

सुंदरबाई अंतरगत कहे, प्रकास वचन अति भारी जी।
साथ वचन ए चित्त दे सुनियो, देखियो तारतम विचारी जी।।२।।

मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर श्यामा जी कह रही हैं कि इस तारतम वाणी में कहे हुए प्रकाश ग्रन्थ के वचन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन वचनों को आप ध्यानपूर्वक सुनिये तथा गम्भीरतापूर्वक विचार करके निर्णय कीजिए कि अब हमें क्या करना चाहिए।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कथित "देखियो" शब्द का भाव आँखों से देखने से नहीं, बल्कि निर्णय करने से है।

एही चाल तुम चलियो साथजी, एही पांउ परवान जी।
प्रगट मैं तुमको पेहेले कह्या, भी कहूं निरवान जी।।३।।

हे साथ जी! आप तारतम वाणी के निर्देशों पर चलते

रहने की नीति अपनाइये। तारतम वाणी के कथनानुसार ही चलना (आचरण करना) सही मार्ग है। पहले भी मैंने आपसे यह बात प्रत्यक्ष रूप से कही थी और इस समय भी मैं वही बात दोहरा रही हूँ (कह रही हूँ)।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में प्रत्यक्ष (प्रकट) रूप में कहने का तात्पर्य, श्री देवचन्द्र जी के तन से होने वाली लीला से है। यद्यपि उस समय तारतम वाणी का अवतरण नहीं हुआ था, किन्तु श्री राज जी के द्वारा श्री देवचन्द्र जी के तन से तारतम ज्ञान की अमृत वर्षा हुआ ही करती थी।

अब जिन माया मन धरो, तुम देखी अनेक जुगत जी।
कई कई विध कह्या मैं तुमको, अजहूँ ना हुए त्रपत जी।।४।।

माया के इस लुभावने खेल को आपने अनेक प्रकार से

अच्छी तरह देख लिया है, इसलिये इस मिथ्या मायाजाल में अपने मन को न लगाइये। मैंने (श्री देवचन्द्र जी के तन से) आपको इससे दूर रहने के लिये अनेक प्रकार से समझाया भी है, किन्तु आपको अभी भी इससे तृप्ति नहीं हो रही है , अर्थात् अभी भी आप इसको छोड़ना नहीं चाहते हैं।

जब लग तुम रहो माया में, जिन खिन छोड़ो रास जी।

पचीस पख लीजो धाम के, ज्यों होए धनी को प्रकास जी।।५।।

इस माया के खेल में जब तक आपको रहना पड़े, तब तक आप रास ग्रन्थ के सार तत्त्व प्रेम को न छोड़िये। परमधाम के पच्चीस पक्षों की अनुपम शोभा को अपने धाम हृदय में बसा लीजिए, जिससे आपको धाम धनी के स्वरूप की यथार्थ रूप से पहचान हो जाये।

भावार्थ– रास ग्रन्थ का चिन्तन करने से उसके सार तत्त्व "प्रेम" को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पैदा होती है, जो हमारी आत्म–जाग्रति का आधार है। परमधाम की प्रेममयी चितवनि के द्वारा ही हृदय के विकार नष्ट होते हैं और धाम धनी की यथार्थ पहचान होती है। केवल शुष्क शाब्दिक ज्ञान के द्वारा प्रियतम को यथार्थ रूप में नहीं जाना जा सकता।

अनेक विध कही मैं तुमको, ढील करो अब जिन जी।
पांउ भरो ए वचन देखके, पेहेले बृज रास चलन जी।।६।।

इस सम्बन्ध में मैंने आपको अनेक प्रकार से समझाया है। तारतम वाणी द्वारा दर्शाये हुए मार्ग का अवलम्बन करने (चलने) में अब थोड़ी सी भी देर न कीजिए, अर्थात् अपने हृदय में प्रियतम का प्रेम लेकर चितवनि में

लग जाइए। व्रज से रास में जाते समय आपने जिस प्रकार इस मायावी जगत का परित्याग कर दिया था, उसी प्रकार तारतम वाणी के वचनों का विचार करके धनी के प्रेम में अपने कदम बढ़ाइये।

भावार्थ– जब बाँसुरी की मोहक ध्वनि को सुनकर सब सखियों ने अपना तन छोड़ दिया तथा योगमाया में जाकर महारास में भाग लिया, तो अक्षरातीत के हृदय से प्रस्फुटित (प्रकट) होने वाली श्यामा जी की रसना रूपी इस अमृतमयी वाणी को सुनकर हमारा हृदय क्यों नहीं पसीजता (पिघलता)? निष्ठुरता, शुष्कता, और कठोरता की चादर ओढ़ी हुई क्या हम वहीं ब्रह्मात्माये हैं, जिन्होंने बाँसुरी की आवाज को सुनते ही विरह में अपना तन छोड़ दिया था। क्या तारतम वाणी की ध्वनि बाँसुरी की ध्वनि से कम मोहक है?

रास प्रकास छोड़ो जिन खिन, जो बीतक अपनी परवान जी।

ए छल तुमसे क्योंए न छूटे, पर मैं ना छोडूं तुमें निरवान जी।।७।।

अपने प्राणेश्वर के साथ महारास की लीला का घटनाक्रम आपके साथ हुआ है, इसलिये पल भर के लिये भी रास के इस प्रेरणादायी ज्ञान को न छोड़िये। मैं अच्छी प्रकार से जानती हूँ कि माया का यह छलमयी संसार आपसे किसी भी प्रकार से छूट नहीं पा रहा है, किन्तु मैं भी आप को किसी भी प्रकार से छोड़ने वाली नहीं हूँ।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के प्रथम चरण में कथित "रास प्रकाश" से दोनों ग्रन्थों (रास एवं प्रकाश) का आशय नहीं है, बल्कि यहाँ रास के ज्ञान रूपी उजाले (प्रकाश) का प्रसंग है। संसार को छोड़कर प्रियतम के प्रेम में स्वयं को डुबो देना ही जागनी रास है, जिसकी

प्रेरणा हमें योगमाया में होने वाली रास लीला से मिलती है। इसलिये रास के घटनाक्रम को प्रेरणास्रोत मानकर, हमें उसे कदापि नहीं छोड़ना चाहिए।

कहे इंद्रावती वचन पिउके, जिन देखाया धाम वतन जी।
अब कोटक छल करे जो माया, तो भी ना छूटे धनी के चरन जी।।८।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! प्रियतम अक्षरातीत मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर परमधाम की जो वाणी कह रहे हैं, उससे हमें अपने परमधाम की पहचान होती है। इस श्रीमुखवाणी का इतना प्रताप है कि अब माया भले ही हमें छलने के लिये करोड़ों प्रपञ्च क्यों न बनाये, फिर भी प्राणेश्वर श्री राज जी के चरण कमल हमसे अब किसी भी स्थिति में नहीं छूट सकते हैं।

प्रकरण ।।३।। चौपाई ।।२९।।

लीला को प्रकास होना – आत्मा को प्रकास उपज्यो

इस प्रकरण में यह बात दर्शायी गयी है कि श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर साक्षात् श्री राज जी ही लीला कर रहे हैं।

ना कछू मन में ना कछू चित, ना कछू मेरे हिरदे एती मत।
एक वचन सीधा कहया न जाए, ए तो आयो जैसे पूर दरियाए।।१।।

श्री महामति जी कहते हैं कि हे साथ जी! मेरे मन में या चित्त में इस प्रकार ज्ञान के कथन की कोई बात ही नहीं थी। सच तो यह है कि मेरे हृदय में इस प्रकार का अलौकिक ज्ञान था ही नहीं। मैं परमधाम से सम्बन्धित एक भी बात कहने में पूर्णतया असमर्थ थी, किन्तु इस समय तो धाम धनी ने ऐसी कृपा कर दी है कि ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मेरे हृदय में ज्ञान का अथाह सागर

ही अपनी अनन्त लहरों के साथ क्रीड़ा कर रहा है।

भावार्थ– मन और चित्त हृदय (सूक्ष्म हृदय, अन्तःकरण) के अंग हैं। मन में संकल्प होता है, जबकि चित्त में संकल्प–विकल्प के आधार रूपी संस्कार निहित रहते हैं। उपरोक्त चौपाई का आशय यह है कि श्री इन्द्रावती जी के हृदय में तारतम वाणी के प्रकटीकरण की कल्पना भी नहीं थी। यह सब कुछ प्रियतम अक्षरातीत की लीला के अनुरूप ही हुआ।

श्री सुंदरबाई धनी धाम दुलहिन, इंद्रावती पर दया पूरन।
हिरदे बैठ कहे वचन एह, कारन साथ किए सनेह।।२।।

श्री श्यामा जी (सुन्दरबाई जी) प्रियतम अक्षरातीत की प्राणेश्वरी (प्राणवल्लभा) हैं। मेरे ऊपर उनकी अपार दया है। अपने प्राणेश्वर के साथ वे मेरे धाम हृदय में साक्षात्

विराजमान हैं तथा सुन्दरसाथ से अत्याधिक प्रेम होने के कारण इस अलौकिक वाणी को कह रही हैं।

भावार्थ– "पूरन" का भाव अनन्त से ही लिया जायेगा। यद्यपि परमधाम के सम्बन्ध से "दया" शब्द उचित नहीं है, किन्तु इस नश्वर जगत की भाषा में धाम धनी की कृपा को दर्शाने के लिये कृतज्ञतापूर्ण भावों में इसी प्रकार की शब्दावली को प्रयोग करना पड़ता है।

वचन एक केहेते इन पर, हम घरों जाए के लेसी खबर।
अद्रष्ट होए के कहे वचन, साथजी द्रढ करी लीजो मन।।३।।

इस सम्बन्ध में सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी (श्यामा जी) एक बात कहा करते थे कि जब मैं अपने धाम (श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय) में विद्यमान होऊँगा, तब मैं सुन्दरसाथ की सुधि लूँगा। हे साथ जी! आप अपने मन

में इस बात को दृढ़तापूर्वक बसा लीजिए कि अपनी अन्तर्धान लीला के पश्चात् वे ही युगल स्वरूप के रूप में मेरे धाम हृदय में विराजमान हैं और तारतम वाणी के इन अमृतमय वचनों को कह रहे हैं।

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होना ही श्री राज जी का धाम अर्थात् घर जाना है। जागनी लीला में ही सुन्दरसाथ की सुधि ली जा सकती है, इसलिये यहाँ श्री इन्द्रावती जी के हृदय को धाम कहा गया है।

आपन करी जो पेहेले चाल, प्रेम मगन बीते ज्यों हाल।
ए सब किया अपने कारन, एही पैंडा अपना चलन।।४।।

हमने व्रज–रास में जिस प्रकार प्रेम की राह अपनायी थी, जिसमें हमारा सम्पूर्ण समय अपने प्राणेश्वर के प्रेम में

खोये–खोये ही बीत जाता था, इस जागनी ब्रह्माण्ड में भी हमें वही राह अपनानी है। हमें जाग्रत करके आत्मिक सुख देने के लिये ही धनी ने ये सारी लीलायें (व्रज, रास तथा जागनी) की हैं।

दिखलाया सब प्रगट कर, साथ सकल लीजो चित धर।
ए जिन करो तुम हलकी बान, धनी कहावत अपनी जान।।५।।

हे साथ जी! आप सभी इस बात को अपने चित्त (हृदय) में बसा लीजिए कि धाम धनी ने हमें सावचेत करने के लिये व्रज–रास की लीलाओं की झलक आड़िका लीला एवं हब्शे में प्रत्यक्ष रूप से दिखा दी है, जिससे आपको पूर्ण विश्वास हो जाये कि हम ही व्रज–रास में थे। प्रियतम ये सारी बातें अपने मूल सम्बन्ध के कारण ही मेरे धाम हृदय से कह रहे हैं। इन वचनों को

हल्के (कम महत्व) में न लीजिए।

भावार्थ– सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा चर्चा के समय व्रज–रास की लीला प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाती थी। इस प्रकार रास के अवतरण के समय भी रास की रामतों का प्रत्यक्ष प्रकटीकरण हुआ, जिससे किसी को जरा भी संशय न रह जाये।

कहियत सदा प्रबोध वचन, पर कबूं न बानी ए उतपन।
तिन कारन तुम सुनियो साथ, आपन में आए प्राणनाथ।।६।।

यद्यपि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज दिन तक आत्म–जाग्रति के लिये प्रबोधित करने वाले वचन सदा ही कहे जाते रहे हैं, किन्तु परमधाम की ऐसी अलौकिक वाणी कभी भी अवतरित नहीं हुई थी। इसलिये हे साथ जी! आप मेरी यह अनमोल बात सुनिए। हमारे मध्य (मेरे

धाम हृदय में) परमधाम की वाणी लेकर स्वयं अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी ही आये हुए हैं।

भावार्थ– वेदों, उपनिषदों, एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में आत्म–जाग्रति से सम्बन्धित अनेकों कथन हैं, जैसे–

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्र।। (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् सभी अमृत पुत्रों! मेरी बात सुनो।

उतिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधयत्।। (कठोपनिषद्)

अर्थात् उठो, जागो, और परम तत्त्व को प्राप्त करो।

बोहोत सिखापन विध विध कही, पर नींद आड़े कछु हिरदे ना रही।

नींद उड़ाओ देख नेहेचल रास, ज्यों हिरदे होए पिउ को प्रकास।।७।।

प्रियतम ने श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर हमें जाग्रत करने के लिये अनेक प्रकार से बहुत

सी शिक्षाएं (सिखापन) दीं, किन्तु माया की नींद का प्रभाव होने से वह सीख हमारे हृदय में न रह सकी। हे साथ जी! अब आप अखण्ड रास की प्रेममयी लीलाओं का चिन्तन कर (देख कर) अपने हृदय में अपने प्राणेश्वर का प्रेम बसा लीजिए, जिससे माया का प्रभाव समाप्त हो जाये और आपके हृदय–मन्दिर में प्रियतम की मोहिनी छवि बस जाये।

अब नींद किए की नाहीं ए बेर, पिउ आए बुलावन उड़ाए अंधेर।
पेहेले कह्या पिउ प्रगट पुकार, अंतर रहे केहेलाया आधार।।८।।

अब यह समय माया की नींद में सोते (भटकते) रहने का नहीं है। माया का अज्ञान रूपी अन्धकार दूर करके, हमें जगाने के लिये स्वयं अक्षरातीत ही आये हुए हैं। हमारे जीवन के आधार प्रियतम श्री राज जी, श्री देवचन्द्र

जी के धाम हृदय में विराजमान रहे और उन्होंने सबको प्रत्यक्ष रूप से पुकार–पुकार कर सावचेत किया।

मोहे एक वचन ना आवे अस्तुत, पर सोभा दई ज्यों कालबुत।
अस्तुत की इत कैसी बात, प्रगट होने करी विख्यात।।९।।

यद्यपि मुझे प्रियतम की स्तुति करने के लिये एक भी कथन कहने का ढंग नहीं था, किन्तु उन्होंने मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर यह अमृतमयी वाणी कहलवायी तथा मेरे इस नश्वर तन को शोभा दे दी। वस्तुतः तारतम वाणी के द्वारा अक्षरातीत की महिमा का कथन ही विशेष नहीं है, अपितु उन्होंने तो मेरे हृदय में साक्षात् प्रकट होकर मुझे अपने ही स्वरूप में प्रसिद्ध कर दिया है।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में यह बात स्पष्ट रूप से कह

दी गई है कि परमधाम की वाणी कहलवा कर धाम धनी ने उन्हें अपनी शोभा दे दी है।

फल वस्त जो भारी वचन, जीव भी न कहे आगे मन।

सो प्रगट किए अपार, जो हुता अखंड घर सार।।१०।।

तारतम वाणी के सार तत्त्व रूपी आत्म–जाग्रति के वचन इतने गहन है कि जीव भी अपने मन के आगे उन्हें यथार्थ रूप से व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं रखता। अपार महिमा वाले अखण्ड परमधाम का जो सार तत्त्व (मूल सम्बन्ध की पूर्ण पहचान) था, उसे प्रियतम अक्षरातीत ने तारतम वाणी के द्वारा प्रकट कर दिया है।

भावार्थ– "तारतम सार जागनी विचार" के कथन से यह सिद्ध है कि आत्म –जाग्रति ही तारतम वाणी का एकमात्र लक्ष्य है। आत्मा के धाम हृदय में नख से शिख

तक प्रियतम की छवि का बस जाना ही जाग्रत होना कहलाता है। इसके अनन्त सुख को जीव भी अंश मात्र में ही अनुभव करता है, किन्तु वह भी उसके लिए अनन्त होता है और उसे पूर्ण रूप से मन के समक्ष व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि आत्म – जाग्रति के सुख को वाणी के द्वारा कहा–सुना नहीं जा सकता।

प्रियतम अक्षरातीत से अपने मूल सम्बन्ध की पूर्ण पहचान (मारिफत) में ही परमधाम की सम्पूर्ण पहचान (शोभा, लीला, प्रेम, आदि) समाहित हो जाती है। यह पहचान तारतम वाणी के प्रकाश में प्रियतम के एकनिष्ठ प्रेम में डूबने पर ही प्राप्त होती है।

प्रगट करी मूल सगाई, कई दिन आपन राखी छिपाई।

वचन बड़ा एक ए निरधार, श्री सुंदरबाई केहेते जो सार।।११।।

प्रियतम ने तारतम वाणी के द्वारा परमधाम के अपने मूल सम्बन्ध की पूर्ण पहचान को प्रकट कर दिया है, जिसे उन्होंने अनादि काल से हमसे छिपाकर रखा था। श्री देवचन्द्र जी के द्वारा कहे हुए वचनों का सार यही है कि निश्चित रूप से मूल सम्बन्ध की पूर्ण पहचान बहुत बड़ी (सर्वोपरि) बात है।

भावार्थ– पाँचवी भूमिका के अतिरिक्त परमधाम की सम्पूर्ण लीला सत्य (हकीकत) के स्तर पर होती है। मूल सम्बन्ध की पूर्ण पहचान ही परम सत्य (मारिफत) है, जिसका रसपान पाँचवी भूमिका में करने पर भी श्यामा जी सहित सखियों को बोध नहीं था, क्योंकि स्वयं के अस्तित्व के समापन के बाद कौन उसे जान सकता है

या व्यक्त करने का सामर्थ्य रख सकता है? यह असम्भव कार्य भी तारतम वाणी के द्वारा इस जागनी ब्रह्माड में हुआ है, जो अनादि काल से लेकर अब तक नहीं हो सका था।

ए लीला होसी विस्तार, सूरज ढांप्या ना रहे लगार।

ए लीला क्यों ढांपी रहे, जाकी रास धनी एती अस्तुत कहे।।१२।।

इस जागनी लीला का भविष्य में बहुत अधिक विस्तार होगा। तारतम ज्ञान के सूर्य के उग जाने पर उसे किसी भी स्थिति में थोड़ा भी ढका नहीं जा सकता। जिस जागनी लीला के आनन्द की महत्ता को स्वयं धाम धनी इतना अधिक बताते हैं, भला वह जागनी लीला कैसे रोकी (छिपायी, ढाँपी) जा सकती है?

भावार्थ– यदि यह संशय किया जाये कि वर्तमान समय

में जागनी का पूर्ण सुख सबको क्यों नहीं मिल रहा जबकि आजकल तारतम वाणी का इतना अधिक प्रकाशन हो रहा है, तो इसका समाधान यह है कि तारतम ज्ञान को आत्मसात् करने अर्थात् धनी की पहचान करके प्रेम में डूबने पर ही जागनी का सुख प्राप्त हो सकता है।

ता कारन तुम सुनियो साथ, प्रगट लीला करी प्राणनाथ।
कोई मन में ना धरियो रोष, जिन कोई देओ महामती को दोष।।१३।।

इसलिए, हे साथ जी! आप मेरी यह बात सुनिये। मेरे अन्दर स्वयं अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी ही प्रत्यक्ष रूप से लीला कर रहे हैं। आप में से कोई भी सुन्दरसाथ मेरे ऊपर इस प्रकार का दोषारोपण करते हुए क्रोध न करें कि महामति ने कवितायें बनाकर स्वयं को ही अक्षरातीत

के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

ए तुम नेहेचे करो सोए, ए वचन महामती से प्रगट न होए।
अपने घर की नहीं ए बात, जो किव कर लिखिए विख्यात।।१४।।

आप यह बात निश्चित रूप से समझ लीजिए कि तारतम वाणी के इन वचनों को कहने का सामर्थ्य मुझ महामति में नहीं है। परमधाम की रहने वाली हम ब्रह्मात्माओं की यह परम्परा नहीं है कि काव्य (ग्रन्थ) रचना करके प्रसिद्धि प्राप्त कर लें और स्वयं को परब्रह्म के रूप में दर्शायें।

भावार्थ– अक्षरातीत का आवेश विराजमान होने के पश्चात् ही उस तन को अक्षरातीत कहलाने की शोभा मिलती है। यह अवस्था मात्र वक्तृत्व (प्रवचन) कला या साहित्य रचना के द्वारा नहीं प्राप्त होती। पौराणिक समाज

ने वेद व्यास जी को जिस प्रकार उनकी बौद्धिक कुशलता के कारण विष्णु भगवान का अवतार घोषित किया है, वही प्रकिया अक्षरातीत के सन्दर्भ में भी नहीं अपनायी जा सकती।

ए बोहोत विध मैं जानूं घना, जो किव नहीं ए काम अपना।

पर ए तो नहीं कछू किव की बात, केहेलाया बैठ हिरदे साख्यात।।१५।।

मैं इस बात को अनेक प्रकार से बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि हम ब्रह्मसृष्टियों का कार्य काव्य रचना नहीं है। तारतम वाणी को मात्र काव्य की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए। इसे तो मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर स्वयं अक्षरातीत ने मुझसे कहलवाया है।

भावार्थ– प्रायः काव्य सौन्दर्य की वृद्धि के लिये कवि लोग अपनी रचनाओं में अलंकार, छन्द, समास, तथा

कल्पना आदि का मिश्रण करते हैं। यह उनकी बौद्धिक कुशलता पर निर्भर करता है। तारतम वाणी का अवतरण परब्रह्म के आवेश से हुआ है, इसलिए इसमें मानवीय बुद्धि का कोई प्रवेश नहीं है। यही कारण है कि श्री महामति जी ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि यह ब्रह्मवाणी अन्य काव्यमय धर्मग्रन्थों की तरह नहीं है।

ए वचन सबे आवेस में कहे, उत्तमबाईऐं भली विध ग्रहे।
यों कर कहया आवेस दे, प्रगट लीला सबमें होसी ए।।१६।।

हब्शे में अक्षरातीत अपने आवेश स्वरूप से मेरे धाम हृदय में विराजमान हुए और उन्होंने यह वाणी मुझसे कहलवायी। उसे अच्छी प्रकार से सुनकर उद्धव राय लिखते गये। इस प्रकार सब सुन्दरसाथ में हब्शे की इस प्रत्यक्ष लीला की बात फैल जायेगी।

द्रष्टव्य– उद्धव राय की आत्मा का नाम (तारतम वाणी की भाषा में) उत्तम बाई था। इसी प्रकार गोर्वधन जी की आत्मा का नाम गुणवन्ती बाई था।

मैं मन मांहें जान्या यों, जो किव होसी तो खेलसी क्यों।
किव भी हुई वचन विचार, खेली इंद्रावती अनेक प्रकार।।१७।।

मेरे मन में ऐसा आभास हुआ करता था कि यदि इसी प्रकार काव्यमय वाणी का प्रकटन होता रहेगा तो मैं जागनी लीला का रसपान कैसे करूँगी? किन्तु धाम धनी की ऐसी विचित्र लीला हुई कि गहन विचारों के वचनों को प्रकट करने वाली काव्यमय तारतम वाणी का अवतरण भी हुआ तथा अनेक प्रकार से मैंने (इन्द्रावती जी) ने जागनी रास लीला भी की।

भावार्थ– जागनी रास खेलने का तात्पर्य है, अपनी

आत्मा के धाम हृदय में प्रियतम को बसाकर अखण्ड आनन्द में डूब जाना। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने से पूर्व तारतम ज्ञान का अवतरण आवश्यक है। हब्शे में श्री राज जी ने पहले दर्शन देकर उनके धाम हृदय में अपना निवास बनाया तथा अति मधुर काव्य वाली तारतम वाणी का अवतरण भी किया। इस प्रकार दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हो गयी, अर्थात् वाणी का प्रकटन एवं दर्शन भी हुआ।

अनेक प्रकार से जागनी रास खेलने का आशय है– प्रियतम के हृदय में प्रवेश करके उनके प्रेम, आनन्द, एकत्व, मूल सम्बन्ध, आदि को परम सत्य (मारिफत) के तराजू पर तौलना।

कारज यों सब हुए पूरन, श्री सुंदरबाई की सिखापन।
हिरदे बैठ केहेलाया रास, पेहेले फेरे के दोऊ किए प्रकास।।१८।।

श्री श्यामा जी ने अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत के साथ मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर रास की वाणी को प्रकट किंया। इस प्रकार व्रज एव रास की दोनों लीलाओं के उजागर होने से, हमें प्रेम की स्वर्णिम राह पर चलने की सीख मिली। फलतः जागनी कार्य के लिये मुख्य आवश्यक तथ्य पूर्ण हो गये।

सुनियो साथ तुम एह कारन, धनी ल्याए धाम से आनंद अति घन।
ज्यों ना रहे माया को लेस, त्यों धनिऐं कियो उपदेस।।१९।।

हे साथ जी! आप मेरी यह बात सुनिए कि धाम धनी हमारे लिये परमधाम से अपार आनन्द लेकर आये हैं। हमारे अन्दर नाम मात्र के लिये माया का प्रभाव न रहे,

इसलिये उन्होंने हमें तारतम वाणी का ज्ञान दिया है।

भावार्थ– श्रीमुखवाणी से निज घर, निज स्वरूप, एवं अपने आराध्य प्राणेश्वर की पहचान करके, उसको प्रेमपूर्वक हृदय में बसाने से अपार आनन्द की प्राप्ति होती है और हमें ऐसा लगता है जैसे हम संसार में हैं ही नहीं बल्कि परमधाम में ही हैं। इसे ही परमधाम से अथाह आनन्द का लाना कहा गया है।

ज्यों तुम पेहेले भरे पांउ, योंही चलो जिन भूलो दाउ।
भी देखो ए पेहेले वचन, प्रेम सेवा यों राखो मन।।२०।।

जिस प्रकार आपने व्रज–रास में प्रेम की राह अपनायी, उसी प्रकार इस जागनी ब्रह्माण्ड में भी प्रियतम के प्रेम में डूब जाइए। धनी से आनन्द लेने का यह अवसर न गँवाइये। व्रज–रास की प्रेममयी लीलाओं के वचनों का

विचार कीजिए तथा अपने मन को धनी के प्रेम एवं सेवा में लगाये रखिए।

अब कहूंगी तारतम रोसन कर, ए लीजो साथ नेहेचे चित धर।
कहे इंद्रावती अब ऐसा होए, साथ को संसे न रहेवे कोए।।२१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! अब मैं तारतम ज्ञान के उजाले में आत्म–जाग्रति की बातें करूँगी, जिसका परिणाम यह होगा कि आपमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं रह पायेगा। आप इस बात को निश्चित रूप से अपने हृदय (चित्त) में रख (बसा) लीजिए।

बृज रास तुमको लीला कही, तारतम सों रोसनाई कर दई।
अब इन फेरे के कहूं प्रकार, सब साथ ढूंढ काढों निरधार।।२२।।

मैंने तारतम वाणी के प्रकाश में व्रज एवं रास की मनोहर लीलाओं का वर्णन किया है। अब मैं इस ब्रह्माण्ड में होने वाली जागनी लीला का वर्णन करती हूँ, जिसमें सब सुन्दरसाथ को खोज–खोज कर माया से निकालना है।

प्रकरण ।।४।। चौपाई ।।५१।।

श्री सुंदरबाई के अंतरध्यान की बीतक

अन्तर्धान का अर्थ होता है, अदृश्य हो जाना या छिप जाना। यहाँ पर अन्तर्धान का तात्पर्य श्यामा जी के द्वारा धारण किये गये तन के त्याग (धामगमन) से है।

श्री सुंदरबाई स्यामाजी अवतार, पूरन आवेस दियो आधार।
ब्रह्मसृष्ट मिने सिरदार, श्री धाम धनीजी की अंगना नार।।१।।

इस खेल में श्यामा जी का ही नाम सुन्दरबाई है। वे ब्रह्मसृष्टियों में प्रमुख (प्रधान) हैं, तथा अक्षरातीत की आह्लादिनी शक्ति (आनन्द–अंग) हैं। प्रियतम उनके धाम हृदय में अपने पूर्ण आवेश के साथ विराजमान हुए।

भावार्थ– पुराण संहिता के कथन "स्वामिनी नी वासना साक्षात् आविष्टा सुन्दरी मनः" के आधार पर प्रायः यही माना जाता है कि श्यामा जी की सुरता सुन्दरी आत्मा के

अन्दर अवतरित हुई। यह भी कहा जाता है कि सुन्दरबाई श्यामा जी का आवेश लेकर अवतरित हुई।

किन्तु उपरोक्त दोनों कथन तारतम वाणी के विपरीत हैं। रास ग्रन्थ में अवश्य ही सुन्दरबाई तथा श्यामा जी को अलग–अलग दर्शाया गया है, किन्तु परमधाम की लीला में दोनों को एक ही स्वरूप माना गया है।

यदि दो हैं, तो प्रश्न यह है कि अक्षरातीत की आनन्द स्वरूपा कौन हैं, श्यामा जी या सुन्दरबाई? यही प्रश्न प्रमुख सखी के सम्बन्ध में भी होता है?

वास्तविक्ता यह है कि जब श्री श्यामा जी इस नश्वर जगत में आयीं, तो श्री इन्द्रावती बाई, रतन बाई, गुणवन्ती बाई, आदि की तरह उन्हें भी सुन्दर बाई नाम से सम्बोधित किया गया है।

सौन्दर्य की पराकाष्ठा जिस स्वरूप में हो, उसे श्याम या

नूरजमाल कहते हैं। इस श्याम की प्राणेश्वरी (हृदयेश्वरी या अर्धांगिनी) ही श्यामा जी हैं, जिन्हें यहाँ के भावों में सुन्दर बाई कहा गया है। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि सखियों के नाम के बाद "बाई" शब्द लगाने का प्रचलन प्रायः गुजरात एवं राजस्थान में ही होता है, सम्पूर्ण भारत में नहीं। ऐसी स्थिति में इसे परमधाम में कैसे थोपा जा सकता है? परमधाम शब्दातीत एवं त्रिगुणातीत है। उसे इस नश्वर जगत की भाषा तथा वेशभूषा आदि के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। ये सारे बन्धन हमारी मानवीय बुद्धि के लिये ग्राह्य बनाने हेतु स्थापित किये जाते हैं।

कई खेल किए ब्रह्मसृष्ट कारन, धनी दया पूरन अति घन।

अनेक वचन सैंयन को कहे, पर नींद आड़े कछू हिरदे ना रहे।।२।।

प्रियतम अक्षरातीत की श्यामा जी पर अपार कृपा रही है। इस जागनी लीला में ब्रह्मसृष्टियों को व्रज एवं रास की स्मृति दिलाने के लिये श्यामा जी ने अनेक प्रकार की चमत्कारिक (आड़िका) लीलायें की। उन्होंने सुन्दरसाथ को जगाने के लिये अखण्ड व्रज, रास, तथा परमधाम की चर्चा भी सुनायी, किन्तु माया का इतना अधिक प्रभाव था कि सुन्दरसाथ के हृदय में वह ज्ञान कुछ भी सुरक्षित नहीं रह सका।

भावार्थ– चौपाई के दूसरे चरण में कथित "पूरन" शब्द का आशय अपार या अनन्त से है। वस्तुतः दया का भाव कृपा से ही लिया जा सकता है। इसे असहाय एवं अनाथ समझकर की जाने वाली कृपा नहीं समझनी चाहिए, बल्कि यह एक प्रकार से धाम धनी का प्रेम ही है, जो इस जागनी लीला में पल–पल बरस रहा है।

तब भी अनेक विध कही, पर नींद पेड़ की आड़ी भई।

भी फेर अनेक दिए द्रष्टांत, पर साथ पकड़ के बैठा स्वांत।।३।।

इसके पश्चात् भी सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी (श्यामा जी) ने कबीर, नरसैंया, तथा श्रीमद्भागवत् के अनेक दृष्टान्तों एवं अनमोल वचनों से सुन्दरसाथ को जगाने का प्रयास किया, किन्तु माया की अज्ञानमयी नींद ने सबको भुलाये रखा। परिणाम यह हुआ कि सुन्दरसाथ चुपचाप शान्त होकर बैठे रहे और उन्होंने अपनी आत्मिक जाग्रति के लिये कुछ भी प्रयास नहीं किया।

भावार्थ– "पेड़" का अर्थ कारण होता है। जिस मोह तत्त्व से यह जगत बना है, उसका गुण है वह अज्ञान रूपी निद्रा, जिसके वशीभूत होकर सभी चर–अचर प्राणी विचरण करते हैं।

तब अनेक धनिऐं किए उपाए, पर सुभाव हमारा क्योंए न जाए।

तब अनेक विध कह्या तारतम, पर तो भी अपना न गया भरम।।४।।

तब धाम धनी ने तारतम ज्ञान के प्रकाश में हमें अनेक प्रकार से समझाया तथा अनेक उपायों से हमें जाग्रत करने का प्रयास किया। किन्तु माया में सोये रहने का न तो हमारा स्वभाव ही बदला और न हमारे संशय ही समाप्त हुए।

भावार्थ– सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी सुन्दरसाथ को जाग्रत करने के लिये ज्ञान की अमृत वर्षा के साथ–साथ आड़िका लीला तो दिखाते ही थे, सबको प्रेम की डोर में बाँधे रखने के लिये अनेक प्रकार के कार्यक्रम भी करते थे। षटऋतु में श्री इन्द्रावती जी द्वारा होली एवं दीपावली के अवसर पर सुन्दरसाथ के बीच में सद्गुरू महाराज से प्रेम की आकांक्षा करना यही सिद्ध करता है। इसे ही

अनेक प्रकार के उपाय करना कहा गया है।

तब अनेक आपन को कहे विचार, कई विध कृपा करी आधार।

तब अनेक पखें समझाए सही, तो भी कछू टांकी लागी नहीं।।५।।

तत्पश्चात् हमारे जीवन के आधार प्रियतम ने अनेक प्रकार से कृपा की और विभिन्न धाराओं में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए हमें ज्ञान के अनेक तथ्यों से समझाया।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में "पख" (पक्ष) का तात्पर्य है, अध्यात्म के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के सम्बन्ध में अलग–अलग प्रकार के स्तर। इस से सम्बन्धित ज्ञानधारा को ही यहाँ प्रथम चरण में विचार कहा गया है।

तब विध विध कह्या अनेक प्रकार, तो भी भई सुध न सार।
अनेक सनंधें केहे केहे रहे, पख पचीस आपन को कहे।।६।।

इसके बाद सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने हमें ज्ञान की अनेक प्रकार की अमृतमयी बातों से तरह–तरह से समझाया। फिर भी हमें अपने प्राण प्रियतम (सार तत्त्व) की पहचान नहीं हो सकी। हमें जाग्रत करने के लिये उन्होंने अनेक उदाहरण देते हुए अक्षरातीत की पहचान बतायी तथा परमधाम के पच्चीस पक्षों का भी वर्णन किया।

सो भी सेहे कर रहे आपन, नींद ना गई मांहें जागे सुपन।
तो भी धनी की बोहोतक दया, अखंड बृज का सुख सब कह्या।।७।।

किन्तु यह सब सुनकर भी हमारे अन्दर से माया की वह नींद नहीं गयी, जिसको त्यागकर हम इस स्वप्न के

ब्रह्माण्ड में जाग्रत हो जाते। इतना कुछ होने पर भी प्रियतम हमारे ऊपर अपार दया की वर्षा करते रहे और उन्होंने हमें आनन्दित करने के लिये अखण्ड व्रज की लीला रूपी सभी सुखों का वर्णन किया।

भी वरन्यो सुख नेहेचल रास, पहेले फेरे के दोऊ किए प्रकास।
रास अखंड रात रोसन, बृज लीला अखंड रात दिन।।८।।

इसके बाद उन्होंने अखण्ड रास के अलौकिक सुखों का वर्णन किया। इस प्रकार उन्होंने हमारी जाग्रति के लिये इन दोनों लीलाओं (व्रज, रास) को उजागर कर दिया। अखण्ड रास की लीला रात्रि के अन्तर्गत हो रही है, जबकि अखण्ड व्रज में दिन और रात्रि दोनों की ही लीला है।

दोऊ जुदी लीला कही अखंड, तीसरी अखंड लीला ए ब्रह्मांड।
किए तारतमें मन वांछित काम, भी देखाया सुख अखंड धाम।।९।।

व्रज और रास की ये दोनों ही लीलाएं अलग–अलग स्थानों में हैं, अर्थात् व्रज की लीला सबलिक के कारण में है तथा महारास की लीला सबलिक के महाकारण में हैं। इसके पश्चात् जागनी लीला का यह ब्रह्माण्ड भी अखण्ड होगा। तारतम ज्ञान के द्वारा धाम धनी ने हमारे मन की सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण किया है तथा अखण्ड परमधाम के शाश्वत सुखों का भी अनुभव कराया है।

भावार्थ– जागनी लीला बेहद मण्डल में चार बहिश्तों (अन्त की) के रूप में अखण्ड हो जायेगी। चौदह लोकों का यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सौर मण्डल) आठवीं बहिश्त (आखिर की) में अखण्ड होगा।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में सुन्दरसाथ ने परमधाम,

व्रज, रास, तथा जागनी का सुख लिया है तथा माया का खेल भी देखा है। इसे ही उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में सुन्दरसाथ की इच्छाओं का पूर्ण होना कहा गया है।

दया धनी की है अति घन, कई विध सुख लिए सैयन।
सेवा करी धनबाईऐं पेहेचान के धनी, सोभा साथ में लई अति घनी।।१०।।

सुन्दरसाथ के ऊपर श्री राज जी की अपार कृपा रूपी दया है। उनकी छत्रछाया में सुन्दरसाथ ने अनेक प्रकार से जागनी लीला का सुख लिया है। गांगजी भाई, जिनके अन्दर धन बाई जी की आत्मा थी, उन्होंने श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान अपने प्राणेश्वर को पहचाना तथा तन–मन–धन से सेवा की। इस प्रकार सुन्दरसाथ में उन्हें अपार शोभा मिली।

साथ सों हेत कियो अपार, धंन धंन धनबाई को अवतार।

कछुक लेहेर लागी संसार, ना दई गिरने खड़ी राखी आधार।।११।।

श्री गांगजी भाई धन्य–धन्य हैं, जिन्होंने चर्चा सुनने के लिये अपने घर आने वाले सुन्दरसाथ की अपार सेवा की। यद्यपि उनकी पत्नी भान बाई के कारण माया का थोड़ा सा प्रभाव पड़ा, किन्तु धाम धनी ने उन्हें अपने सेवा धर्म से गिरने नहीं दिया और विश्वास पर खड़े रखा।

भावार्थ– गांगजी भाई सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी को अक्षरातीत का साक्षात् स्वरूप मानकर ही सेवा करते थे, किन्तु उनकी पत्नी भान बाई को यह सब अच्छा नहीं लगता था। वह तो यह भी नहीं चाहती थी कि उसके घर कोई आये। गांगजी भाई ने कुछ दिन तक तो सहन किया, बाद में किसी बहाने से उसे मायके भेज दिया। पुनः कभी लेने नहीं गये, अर्थात् हमेशा के लिये उसका

परित्याग कर दिया। इस चौपाई में प्रेम भरी सेवा के लिये हेत (स्नेह) शब्द का प्रयोग किया गया है।

बेहेवट पूर सह्यो न जाए, कर पकर के दई पोहोंचाए।

तो भी सुध न भई आपन, क्योंए न छूटे मोह जल गुन।।१२।।

माया रूपी नदी की लहरों का बहाव इतना तीखा है कि उसका वेग सहा नहीं जाता, फिर भी धाम धनी ने हमारा हाथ पकड़कर उसके पार पहुँचा दिया। इसके बाद भी हमें अपने उस प्रियतम की सुधि नहीं हो सकी , जो सद्गुरू रूप में हमें माया के प्रहारों से पल –पल बचा रहे थे। भला हम माया के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त कैसे हो सकते थे?

भावार्थ– सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने चर्चा , चितवनि, तथा आड़िका लीला के माध्यम से सुन्दरसाथ

को धनी के चरणों में जोड़े रखा तथा माया के तीव्र प्रहारों से बचाये रखा, किन्तु पूर्ण जाग्रति के लिये तारतम वाणी का अवतरण एवं गहन चितवनि की आवश्यकता थी जो उस समय उपलब्ध नहीं हो सकी।

मोह जल के गुण का तात्पर्य माया के दोषमयी प्रभाव से है।

तब लरे हमसों अपनायत करी, तो भी नींद हम ना परहरी।
कई विध कह्या आप आंझू आन, पर या समें हमको सुध न सान।।१३।।

तब हमारी आत्म–जाग्रति के लिये, परमधाम के मूल सम्बन्ध से, उन्होंने हमें चर्चा के माध्यम से कठोर शब्दों में झकझोरा (डाँटा)। इतना कुछ होने पर भी हम माया की नींद को नहीं छोड़ सके। इसके पश्चात् अपनी आँखों में आँसू भरकर उन्होंने हमें अनेक प्रकार से समझाया,

किन्तु इस समय हमें जरा भी धाम धनी की सुधि नहीं हो सकी।

भावार्थ– आँखों में आँसू भरकर कहने का आशय है, अपनेपन की भावना से बहुत व्यथित स्वरों में कहना। सुन्दरसाथ को जगाने के लिये श्री देवचन्द्र जी ने इसी भाव में समझाया, किन्तु माया का इतना गहरा नशा था कि उनकी पुकार का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इस कथन से सम्बन्धित घटनाक्रम में उस प्रसंग को भी जोड़ा जा सकता है, जब श्री देवचन्द्र जी ने श्री मिहिरराज जी से कहा था कि यदि तुम्हें परमधाम देखने की इतनी शीघ्रता है तो मेरा शरीर छुड़वा दो, जिससे मेरे धाम हृदय में विराजमान युगल स्वरूप तुम्हारे हृदय में विराजमान हो जायें और तुम्हें शीघ्र अति शीघ्र परमधाम दिखने लगे।

यद्यपि ज्ञान–वैराग्य की अवस्था में रोना मानवीय कमजोरी मानी जाती है, किन्तु अत्यधिक संवेदना की अवस्था में प्रेममयी लीला में ऐसा होना स्वाभाविक है।

तब फेर धनिऐं कियो विचार, साथ घरों ले जाना निरधार।

तब संवत सत्रे बरोतरा बरख, भादों मास उजाला पख।।१४।।

तत्पश्चात् धाम धनी ने अपने मन में विचार किया कि सुन्दरसाथ को तो निश्चित रूप से परमधाम ले जाना है, किन्तु माया के प्रभाव से जब ये मेरी चर्चा को गम्भीरता से नहीं ले रहे हैं तो मुझे इस तन को बदल देना चाहिए, अर्थात् अब श्री मिहिरराज जी के अन्दर विराजमान होकर लीला करनी चाहिए। उस समय वि.सं. १७१२ के भाद्रपद मास का शुक्ल पक्ष चल रहा था।

चतुरदसी बुधवारी भई, सनंध सर्वे श्री बिहारीजीसों कही।

मध्यरात पीछे किया परियान, बिहारीजी को सुध भई कछु जान।।१५।।

उस दिन बुधवार का दिन था तथा चतुर्दशी की तिथि थी। सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने बिहारी जी को बुलाकर अपने धामगमन होने तथा श्री मिहिरराज जी के प्रति प्रेम भावना बनाये रखने के लिये समझाया। इसके पश्चात् आधी रात बीतने पर उन्होंने अपने नश्वर तन का परित्याग कर दिया। इस घटना के पश्चात् बिहारी जी को कुछ सुधि हुई, अर्थात् यह आभास हुआ कि मेरे पिता जी के धाम हृदय में स्वयं श्री राज जी ही लीला कर रहे थे।

इन अवसर मैं भई अजान, मोहे फजीत करी गिनान।

न तो मोहे बुलाए के दई निध, पर या समें न गई मोहजल बुध।।१६।।

दुर्भाग्यवश मैं इस घटना से अनजान ही रही, क्योंकि मैं उस समय ज्ञान की शुष्क गुत्थियों में उलझी हुई थी। तार्किक ज्ञान की शुष्कता ने मेरे हृदय को विरह–प्रेम से सूना कर दिया था, जिसके कारण मुझे प्रियतम के वियोग का दुर्दिन देखना पड़ा। यद्यपि उन्होंने धरोल से मुझे बुलाकर २२ दिन तक अपने पास रखा था तथा ज्ञान की अनमोल निधियों के साथ भविष्य की सारी मुख्य–मुख्य बातें भी बता दी थीं, परन्तु मेरे हृदय से अभी माया की बुद्धि निकल नहीं सकी थी।

भावार्थ– निर्मल हृदय में स्थित शुद्ध ब्रह्मज्ञान विरह–प्रेम में डुबो देता है, किन्तु तर्क एवं संशय से भरा हुआ ज्ञान हृदय को इतना शुष्क कर देता है कि उसमें विरह–प्रेम की रसधारा नहीं बह सकती। रजोगुण एवं तमोगुण के संस्कारों के कारण ही विरह–प्रेम का प्रकटीकरण नहीं

हो पाता है। इस स्थिति से निकाल कर विरह–प्रेम में डुबोने के लिये ही श्री राज जी ने श्री मिहिरराज जी को हब्शे में भिजवाया, जिससे अन्य सुन्दरसाथ को भी यह सीख मिल सके कि मात्र शाब्दिक ज्ञान के शुष्क तर्कों के तीरों से प्रियतम को नहीं पाया जा सकता। इसके लिये विरह के आँसुओं से भीगा हुआ प्रेम भरा हृदय चाहिए।

इन समें हुती माया की लेहेर, तो न आया आतम को वेहेर।
तब मेरी निध गई मेरे हाथ, श्री धाम तरफ मुख कियो प्राणनाथ।।१७।।

इस समय मैं माया की लहरों से जूझ रही थी, इसलिये मुझे प्रियतम के वियोग का कष्ट नहीं हुआ। प्रेम और समर्पण के क्षेत्र में मुझसे होने वाली लापरवाहियों का परिणाम यह हुआ कि मेरे प्राणधन, मेरे सर्वस्व, मेरी आँखों से ओझल हो गये, और परमधाम की ओर

प्रस्थान कर गये।

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी का हृदय ही श्री राज जी का धाम है, जिसमें वे सूक्ष्म रूप से विराजमान हो गये। श्री देवचन्द्र जी के लीला रूपी तन को वे श्री राज जी का स्थूल रूप मानते थे, जिसे वे जी भरकर रिझा सकते थे, किन्तु अन्तर्धान होने के बाद उन्होंने रिझाने का वह स्वर्णिम अवसर खो दिया। इसी की मार्मिक पीड़ा आगे के प्रकरणों में दर्शायी गयी है।

तब हमसों इसारत करी, कह्या धाम आड़े इंद्रावती खड़ी।
मैं पैठ न सकों वह करे विलाप, तब मोहे बुलाए के किया मिलाप।।१८।।

अपने धामगमन (देह त्याग) से पूर्व सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने मुझे बुलाकर भेंट किया। उन्होंने संकेतो में यह बात समझायी कि मेरे धामगमन की राह में तू

(इन्द्रावती) बाधा है। जब तक तू बिलखती रहेगी, तब तक मैं धाम में प्रवेश नहीं कर सकूँगा।

भावार्थ– इन्द्रावती जी के बिलखने का आशय है, विगत ९ वर्षों से सद्गुरू से वियोग तथा बाल बाई की चुगली एवं दबाव के कारण सद्गुरू द्वारा उनका प्रणाम न स्वीकार किया जाना।

श्री इन्द्रावती जी का हृदय ही वह धाम है, जिसमें युगल स्वरूप को विराजमान होकर लीला करनी है। जब तक श्री मिहिरराज जी का हृदय ही प्रफुल्लित न हो, तब तक सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी अपना तन छोड़कर उनके धाम हृदय में कैसे विराजमान हो सकते थे।

ए केहके साथ को सुनाई, ए इसारत तब हम न पाई।
आप भी इत विरह कियो, पर मैं हिरदे में कछू न लियो।।१९।।

सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा सुन्दरसाथ के सामने कहे गये इन सांकेतिक कथनों को न तो मैं समझ सकी और न ही कोई अन्य। स्वयं सद्गुरू महाराज धरोल से मेरे न आने पर विरह में व्यथित होते रहे, किन्तु मैं अपने हृदय में कुछ भी नहीं समझ पायी कि सद्गुरू के द्वारा मुझे बार–बार बुलाने या उनके दुःखी होने का क्या कारण है?

तब अद्रष्ट भए हममें से इत, हम सारे साजे बैठे तित।

जो कछू जीव को उपजे भाउ, तो क्यों छोड़े हम पिउ के पाउं।।२०।।

तब प्रियतम हमारे मध्य से अन्तर्धान हो गये (तन त्याग दिया) और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे अर्थात् कुछ भी न कर सके। यदि हमारे जीव में थोड़ा सा भी अपने प्राणेश्वर के लिये प्रेम होता, तो हम उनके चरण ही क्यों

छोड़ते?

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में प्रायश्चित् के स्वरों में यह वेदना प्रकट की गयी है कि यदि हम सुन्दरसाथ माया की नींद में सो नहीं रहे होते, अपितु जाग्रत होकर धनी के प्रेम में डूबे रहते तो सम्भवतः वे अपना तन नहीं छोड़ते।

धाम धनी अपनी लीला के अनुसार उस तन को तो छोड़ते ही, किन्तु ऐसा कहकर हमें जागनी ब्रह्माण्ड के लिये सावचेत किया गया है कि यदि हम तारतम वाणी से सुधि पाकर भी धनी के प्रेम में नहीं डूबेंगे तो प्रियतम की सान्निध्यता के अनुभव से कोसों दूर रहेंगे।

सो तो सब मैं देख्या द्रष्ट, पर बैठा जीव होए कोई दुष्ट।
ना तो क्यों सहिए धनी को बिछोह, जो जीव कछू जाग्रत होए।।२१।।

प्रियतम की अन्तर्धान लीला का वह दृश्य मैंने अपनी

आँखों से प्रत्यक्ष देखा, किन्तु मेरा यह निष्ठुर जीव दुष्टता की उस अवस्था को प्राप्त कर चुका था, जो उस वियोग को सहन कर लिया। अन्यथा यदि मेरे जीव में थोड़ी सी भी जाग्रति आ गयी होती, तो भला वह धनी का वियोग कैसे सहन कर सकता था?

एक वचन का न किया विचार, न कछू पेहेचान भई आधार।

सुनो हो रतनबाई ए कैसा फेर, कौन बुध ऐसी हिरदे अंधेर।।२२।।

हे बिहारी जी! मेरी यह बात सुनिये। मेरे इस निष्ठुर जीव ने अपने प्राणेश्वर के एक भी वचन का विचार नहीं किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसे उनकी कुछ भी पहचान नहीं हो सकी। यह समय का कैसा चक्र है, जिससे मेरे हृदय में ऐसी मायावी बुद्धि आ गयी, जिसने मेरे अन्दर अज्ञानता का अन्धेरा कर दिया।

द्रष्टव्य– बिहारी जी की आत्मा का नाम (यहाँ के भावों में) रतन बाई है, इसलिये उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में बिहारी जी को रतन बाई कह कर सम्बोधित किया गया है।

ए बेसुधी कैसी आई, कछू पाई न सुध मूल सगाई।
देखो रे सई ऐसी क्यों भई, ए सुख छोड़ मैं अकेली रही।।२३।।

हे बिहारी जी! जरा देखिए (विचारिये)! मेरे अन्दर इस प्रकार यह कैसी बेसुधि आ गयी थी कि मैं प्रियतम से अपने मूल सम्बन्ध को कुछ भी नहीं जान सकी। न जाने मैं ऐसी निष्ठुर क्यों हो गयी थी , जो धाम धनी के अन्तर्धान होने के पश्चात् भी इस झूठे संसार में रहने के लिये मैं अखण्ड सुख को छोड़े रही।

भावार्थ– "बेसुधी" का तात्पर्य है, पहचान से रहित

होना। श्री इन्द्रावती जी को इस बात का पश्चाताप है कि अपने प्राणेश्वर के अन्तर्धान के समय यदि उन्होंने भी अपना तन छोड़ दिया होता, तो वह भी उनके साथ अखण्ड सुख का रसपान कर रही होतीं। वह व्यर्थ में ही अकेली इस मिथ्या जगत में रह रही हैं।

ए दुख की बातें हैं जो घनी, पर रह्यो जीव कछू अग्या धनी।
इन समें जो निध न जाए, तो क्यों आवेस सरूप सहे अंतराए।।२४।।

इस प्रकार, धाम धनी के वियोग से होने वाले असह्य दुःख की बहुत सी बातें हैं, किन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे धनी ने अपने आदेश से ही मेरे इस तन को जीवित रखा है। एकमात्र प्राणेश्वर अक्षरातीत ही मेरी आत्मा के अखण्ड धन हैं। वे अपने आवेश स्वरूप से जिस तन में विराजमान थे, यदि वे उस तन से ओझल

(अदृश्य) नहीं होते, तो मुझे इस प्रकार विरह का कष्ट ही क्यों देखना पड़ता?

फिट फिट रे भूंडी तूं बुध, तें क्यों ना करी अखंड घर सुध।
महादुष्ट तूं अभागनी, ना सुध दई जीव को जाते धनी।।२५।।

मेरी पापिनी बुद्धि! तू तो महादुष्ट, भाग्यहीना है। तूझे धिक्कार है, धिक्कार है। न तो तूने मेरे परमधाम की पहचान की और न ही मेरे प्रियतम के अन्तर्धान होने के समय मुझे उनकी स्पष्ट सुधि दी, जिससे मैं भी उनके साथ तन को छोड़ देती।

ए बातें तें क्योंकर सही, के या समें घर छोड़ के गई।
के तूं विकल भई पापनी, बिना खबर निध गई आपनी।।२६।।

हे पापिनी बुद्धि! मुझे इस बात का अत्यधिक आश्चर्य हो

रहा है कि तूने इन बातों को कैसे सहन कर लिया? या कहीं ऐसा तो नहीं कि ऐसे विकट समय में तू मेरे अन्दर थी ही नहीं। मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कहीं तू अत्यधिक व्याकुलता से इतनी विचलित तो नहीं हो गयी थी कि तू उनकी पहचान करके मुझे सूचित ही नहीं कर सकी, जिसके कारण मेरे प्राण वल्लभ मुझे छोड़कर चले गये।

भावार्थ– बुद्धि अन्तःकरण (हृदय) का अंग है। घर छोड़कर चले जाना एक मुहाविरा है, जिसका आशय होता है, अस्तित्वविहीन होना या हृदय से हट जाना।

होए आवेस सरूप पेहेचान, पेहेचान पीछे न सहिए हान।
तिन कारन जो यों न होए, तो प्रगट लीला क्यों करे कोए।।२७।।

यदि मुझे श्री देवचन्द्र जी के तन में विराजमान श्री राज

जी के आवेश स्वरूप की पहचान हो गयी होती, तो उनके वियोग रूपी हानि को मैं सहन नहीं कर पाती , किन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो प्रियतम अक्षरातीत मेरे धाम हृदय में आवेश स्वरूप से प्रकट होकर लीला ही क्यों करते?

भावार्थ– धाम धनी के बिना आत्माओं को अन्य कोई भी नहीं जगा सकता। यही कारण है कि श्री देवचन्द्र जी के तन को छोड़कर श्री राज जी को श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान होना ही पड़ा, जिससे जागनी का कार्य विस्तरित हुआ। उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में "कोई" शब्द का संकेत धाम धनी के लिये है।

अब तोको कहा देऊं रे गाल, तूं भूली अवसर अपनो इन हाल।
फिट फिट रे भूंडें तूं मन, ते अधरम कियो अति घन।।२८।।

हे बुद्धि! अब मैं तुझे क्या गाली दूँ? मेरी इस असहाय अवस्था में मुझे सावचेत करने का अवसर तूने खो दिया। हे पापी मन! तुझे तो बारम्बार धिक्कार है। तूने तो अत्यधिक अधर्म किया है।

जीव बराबर बैठा होए, क्यों बैठा तूं ए निध खोए।

एती बड़ाई तुझ पर भई, तुझ देखते ए निध गई।।२९।।

तुम्हारी महिमा तो जीव के बराबर कही जाती है। प्रियतम का वियोग होने पर भी तू इस प्रकार से शान्त भाव से क्यों बैठा है? संसार में तुम्हारी इतनी महिमा कही जाती है, फिर भी तुम्हारी उपस्थिति में मेरे प्राणेश्वर मुझे छोड़कर चले गये।

भावार्थ– यद्यपि मन को जीव के अन्तःकरण का ही एक अंग कहा जाता है, किन्तु अपने अनन्त वेग एवं

इन्द्रियों का राजा होने से इसे जीव के समान सामर्थ्यशाली माना जाता है। इसकी शक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बिना इसके संकल्प के इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

तें ना दई जीव को खबर, नेठ झूठा सो झूठा आखिर।

ए क्रोध है बड़ा समरथ, पर आया न मेरे समें अरथ।।३०।।

रे मन! तूने उचित समय पर मेरे जीव को सूचित ही नहीं किया कि प्रियतम धाम जाने वाले हैं। अन्ततोगत्वा तू तो झूठों में भी सबसे झूठा निकला। मैं इस क्रोध को क्या कहूँ? यद्यपि यह बहुत अधिक शक्तिशाली है, फिर भी यह मेरे लक्ष्य में उपयोगी नहीं हो सका।

भावार्थ– अतृप्त इच्छा , मानसिक विकार, या नकारात्मक चिन्तन के कारण किया जाने वाला क्रोध

प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है, किन्तु किसी महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सकारात्मक दिशा में किया गया क्रोध अति उपयोगी होता है, क्योंकि उस समय व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्ति को लक्ष्य के प्रति केन्द्रित कर देता है।

गुन अंग इंद्री सबे घारन, कोई न जाग्या जीव के कारन।
इन सूरमों किनहूं न खोल्या द्वार, जीव बैठा पकड़ आकार।।३१।।

मेरे अन्तःकरण, इन्द्रियों एवं तीनों गुणों ! तुम सभी माया की गहरी नींद में सोते ही रहे। जीव को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से कोई भी जाग्रत नहीं हुआ। यद्यपि ये सभी बहुत बड़े वीर कहलाते हैं, किन्तु इन्होंने जीव के अखण्ड सुख का द्वार नहीं खोला। परिणाम यह हुआ कि जीव मेरे इस शरीर को ही पकड़े रहा और प्रियतम के

विरह में इसे छोड़ नहीं सका।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण से यह स्पष्ट होता है कि श्री इन्द्रावती जी की भावना ऐसी है कि यदि मैं अपने प्राणेश्वर के साथ ही यह तन छोड़ देती, तो मैं भी उनके साथ अखण्ड सुख का रसपान करती। उनके वियोग में इस संसार में रहने से क्या लाभ?

किन्तु इसके लिये तो अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के अन्दर शरीर त्याग की प्रवृत्ति होनी आवश्यक है। जब तक मेरे मन, चित्त, बुद्धि, या अहम् में इसके प्रति आकर्षण बना रहेगा, तब तक इसका परित्याग हो पाना असम्भव है। सत्व गुण जहाँ अन्तःकरण को प्रेम, आनन्द, एवं शान्ति के प्रति अग्रसर करता है, वहीं रजोगुण कर्म के प्रति उन्मुख करता है, तथा तमोगुण लक्ष्य को पाने की शक्ति देता है। दुर्भाग्यवश, इन तीनों की निष्क्रियता ने मेरे

अन्तःकरण एवं इन्द्रियों को अपने लक्ष्य से दूर रहने के लिये विवश कर दिया।

धिक धिक रे भूंडा जीव अजान, तेरी सगाई हुती निरवान।
रे मूरख तोको कहा भयो, धनी जाते कछू पीछे ना रह्यो।।३२।।

हे पापी जीव! तुझे धिक्कार है, धिक्कार है, जो अब तक अपने कर्तव्य के प्रति अनजान बना रहा। तेरा सम्बन्ध तो निश्चित रूप से अक्षरातीत के चरण कमलों से हो गया था, किन्तु तूने उस सम्बन्ध की भी लाज नहीं रखी। रे मूर्ख! तुझे क्या हो गया था कि तू मेरे प्राणेश्वर के धामगमन के समय, विरह में थोड़ा भी तड़प नहीं सका। अब तो मेरे लिए इस संसार में कुछ बचा ही नहीं है।

भावार्थ– आत्मा जिस जीव को अधिष्ठान बनाकर (विराजमान होकर) इस खेल को देख रही है, तारतम

ज्ञान के प्रकाश में उस जीव का सम्बन्ध भी आत्मा के कारण धनी के चरणों से जुड़ जाता है। इसे ही जीव की अक्षरातीत से सगाई होना कहा जाता है।

एती अगनी तें क्योंकर सही, अनेक विध तोको धनिऐं कही।
निपट जीव तूं हुआ निठोर, झूठी प्रीत न सक्या तोर।।३३।।

धाम धनी ने तो तुझे इस दुःखमयी जगत के विषय में अनेक प्रकार से समझाया भी था, किन्तु मुझे आश्चर्य हो रहा है कि प्रियतम की अनुपस्थिति में अब तक तू किस प्रकार मायावी दुःखों की अग्नि को झेलता (सहता) रहा? मेरे जीव! तू तो पूर्ण रूप से निष्ठुर ही हो गया। तू अपने इस शरीर और संसार के प्रति झूठी आसक्ति को नहीं छोड़ सका।

ऐसा अबूझ अकरमी हुआ इन बेर, कछू न विचारया न छोड़ी अंधेर।
ऐसी आपसे ना करे कोए, खोया अपना परवस होए।।३४।।

तू तो इस समय इतना नासमझ एवं अकर्मण्य हो गया है कि तुम्हारे अन्दर माया को छोड़ने के सम्बन्ध में विचार करने की भी शक्ति नहीं रह गयी है। इस प्रकार की नादानी तो कोई भी नहीं करता कि माया के वश में होकर अपने सर्वस्व, अपने जीवनाधार को ही खो दे (उनका विरह देखने के लिये विवश हो जाये)।

ऐसा होए खांगडू जुदा पड़या, एती अगनिऐं अजू न चुड़या।
पांच बरस का होए जो बाल, सो भी कछुक करे संभाल।।३५।।

मेरे जीव! तू तो न गलने वाले मूँग के दाने के समान ऐसा पत्थर हृदय वाला हो गया है कि धाम धनी के अन्तर्धान के पश्चात् भी जरा सा भी नहीं पिघला, जबकि

तुझे वियोग की भयंकर अग्नि का सामना करना पड़ा है। पाँच वर्ष का बालक भी अपनी सम्भाल रखता है, किन्तु तू तो उससे भी गया–गुजरा (बेकार, निम्न स्तर वाला) है।

धनिऐं तोको बोहोतक कह्या, गए अवसर पीछे कछू ना रह्या।
तेरी दोरी क्यों न टूटी तिन ताल, फिट फिट रे भूंडा कहां था काल।।३६।।

प्रियतम ने तुझे जाग्रत करने के लिये तारतम ज्ञान की बहुत अधिक अमृत वर्षा की, किन्तु तू नहीं जागा। अब तो उनके अन्तर्धान के पश्चात् कुछ भी नहीं बचा है, अर्थात् मेरा सर्वस्व (जीवनाधार) चला गया है। आश्चर्य है कि धाम धनी के देह त्याग के समय भी माया की रस्सी से तू बँधा रहा। मोह की वह डोरी टूट क्यों नहीं गयी? हे पापी काल! तुझे बारम्बार धिक्कार है। तू उस समय कहाँ

था? क्या तू इस मिथ्या शरीर से मेरे जीव का सम्बन्ध नहीं छुड़ा सकता था।

ए तो केहेर बड़ा हुआ जुलम, जान्या विरह क्यों सहे खसम।
सो मैं अपनी नजरों देख्या, धरम हमारा कछू ना रह्या।।३७।।

इस प्रकार मेरी आत्मा के ऊपर माया का यह अति दुःखमयी अत्याचार हुआ। प्रियतम के स्वरूप की पहचान हो जाने के पश्चात् तो विरह का कष्ट सहन करना सम्भव ही नहीं है। यह सारा दृश्य तो मैंने अपनी आँखों से साक्षात् देखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्राणेश्वर के प्रति समर्पित होने, उनसे प्रेम करने, और उनके बिना न रह पाने के कर्तव्य पथ से मैं कोसों दूर चली गयी हूँ।

भावार्थ– "कहर" और "जुल्म" अरबी भाषा के शब्द हैं, जिनका तात्पर्य "संकट" और "अत्याचार" होता है।

उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में धर्म शब्द का तात्पर्य सांसारिक धर्म से नहीं है, बल्कि एक आत्मा का अपने प्राण वल्लभ अक्षरातीत के प्रति कर्तव्य भावना का पालन करना ही धर्म है।

प्रकरण ।।५।। चौपाई ।।८८।।

विलाप – राग राम श्री

अपने प्राणेश्वर के अन्तर्धान के पश्चात् श्री इन्द्रावती जी किस प्रकार विरह में तड़पती हैं, उसका बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन इस प्रकरण में दर्शाया गया है।

ओहि ओहि करती फिरों, और करों हाए हाए रे।

पिउजी बिछोहा क्यों सहूं, जीवरा टूक टूक होए न जाए रे।।१।।

श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कहती है कि मेरे प्राणेश्वर! आपके वियोग में मैं ओहि –ओहि और हाय –हाय के करूण भावों में विलाप कर रही हूँ। मैं आपका वियोग किस प्रकार सहन करूँ? मेरा यह जीव टुकड़े–टुकड़े क्यों नहीं हो जा रहा?

भावार्थ– इस प्रकरण में कौन–किसके लिये विरह कर रहा है, इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार कि भ्रान्तियाँ फैल

गयी हैं? किसी का कथन है कि श्री प्राणनाथ जी अपने सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के लिये विरह कर रहे हैं, तो कोई यह भी मानता है कि श्री मिहिरराज जी ही यह विरह कर रहे हैं।

महामति श्री प्राणनाथ जी के द्वारा विरह किया जाना कहना तो बहुत ही भ्रामक है। इस प्रकार की भ्रान्ति श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप को यथार्थ रूप से न जानने के कारण ही होती है। "प्राणनाथ" का तात्पर्य होता है– आत्मा के जीवन का आधार, प्रियतम परब्रह्म। जब अक्षरातीत का आवेश स्वरूप श्री देवचन्द्र जी (श्यामा जी) के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहा था, उस समय उन्हें ही प्राणनाथ कहा गया है–

"तब श्रीमुख वचन कहे प्राणनाथ, ढूंढ़ काढ़नों अपनो साथ।"

यह कथन प्र.हि. की प्रकटवाणी की चौपाई ८२ का है।

इसमें सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी और गांगजी भाई की वार्ता का प्रसंग है।

आवेश से रहित शरीर को प्राणनाथ कहना बहुत ही बड़ी भूल है। अक्षरातीत श्री राज जी ही प्राणनाथ हैं। उनका आवेश जब तक श्री देवचन्द्र जी के तन में रहा, तब तक वे प्राणनाथ कहलाये। उस तन के ओझल होने के पश्चात् वह आवेश जब श्री मिहिरराज जी के अन्दर विराजमान हुआ, तो उन्हें प्राणनाथ कहा जाने लगा।

किन्तु यह कहा जाना कि श्री प्राणनाथ जी अपने सद्गुरू के लिये विरह करते हैं, बहुत ही हास्यास्पद है। "प्राणनाथ" तो महामति जी के भी प्रियतम हैं–

महामती खेलें अपने लाल सों, जो अछरातीत कह्यो।

किरंतन १६/१२

महामती कहे सुनो साथ, देखो खोल बानी प्राणनाथ।

किरंतन ७६/२५

कोई मन में न धरियो दोष, जिन कोई देओ महामती को दोष।

४/१४

ए तुम नेहेचे करो सोए, ए वचन महामती से प्रगट न होए।

प्र. हि. ४/१४

अब मिल रही महामती, पिउ सो अंगों अंग।

अछरातीत घर अपने, ले चले हैं संग।। कि. ४७/७

ए पांचों मिल भई महामती, वेद कतेबों पोहोंची सरत।

प्र. हि. ३७/१०१

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि महामति श्री इन्द्रावती जी की शोभा का ही नाम है। उनके प्रियतम हैं अक्षरातीत श्री प्राणनाथ। जब श्री प्राणनाथ श्री देवचन्द्र जी का तन छोड़ देते हैं, तो उनके विरह में परमधाम के

मूल सम्बन्ध से श्री इन्द्रावती जी की आत्मा का हृदय तड़पता है।

यद्यपि विरह जीव की ही लीला का गुण है आत्मा का नहीं, किन्तु यहाँ श्री मिहिरराज जी का जीव भी तारतम ज्ञान के प्रकाश में स्वयं को परमधाम की अंगना मानने लगा है। जीव और श्री इन्द्रावती जी की ऐक्य भावना के कारण यहाँ जीव के द्वारा किये गये विरह को आत्मा के द्वारा किये गये विरह के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु आत्मिक भावों की अधिकता के कारण आत्मा के द्वारा जीव को बारम्बार फटकारा भी जा रहा है।

फिट फिट रे भूंडा तूं सब्द, क्यों आई मुख बान रे।
वाओ ना लगी तिन दिस की, निकस ना गए क्यों प्रान रे।।२।।

मेरे मुख से इस प्रकार का उच्चारण कैसे हो गया कि मेरे

प्राणेश्वर अब धाम चले गये हैं? ऐसी अशोभनीय बात कहने वाले पापी शब्दों! तुम्हें धिक्कार है। मेरे प्राणों! तुम इस शरीर को छोड़कर चले क्यों नहीं गये ? तुम्हें तो प्रियतम के धाम चलने की जरा भी भनक न लग सकी।

भावार्थ– "हवा न लगना" एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ होता है– जानकारी न होना। इसी प्रकार "दिस" शब्द का आशय दिशा से नहीं, अपितु प्रसंग या बात से है।

तूं रे जुबां ऐसी क्यों वली, कहेते एह वचन रे।
खैंच निकालूं तोको मूल थें, जहां से तूं उतपन रे।।३।।

मेरी जिह्वा! इस प्रकार के कटु वचनों को कहने में तू कैसे सफल हो गयी। मेरे मन में तो यही इच्छा हो रही है कि तुझे जड़–मूल से ही उखाड़ डालूँ।

भावार्थ– जिह्वा का उद्गम कण्ठ से होता है। यद्यपि जिह्वा को खींचने या उखाड़ने का कथन भावात्मक है, क्योंकि जिह्वा शरीर का अभिन्न अंग होने से उसके साथ ही उत्पन्न होती है। वह बाल या नाखून की तरह विशेष वृद्धि के साथ नहीं बढ़ती।

ए रे पिउजी सिधावते, वाचा क्यों रही तूं अंग।
उजड़ ना पड़े दंतड़े, घन घाय मुख भंग रे।।४।।

मेरे प्राणेश्वर! आप मुझे अकेले छोड़कर चले गये। ऐसी स्थिति में मेरी यह नादान जिह्वा अभी भी मेरे शरीर का अंग क्यों बनी हुई है? टुकड़े–टुकड़े करने वाला वियोग रूपी दुःख का यह भयंकर हथौड़ा मेरे मुख पर पड़ा, फिर भी आश्चर्य है कि मेरे दाँत मेरे मुख से निकले क्यों नहीं?

तें क्या सुने नहीं श्रवना, प्यारे पिउ के वचन रे।

ए रे लवा तुझे सुनते, क्यों ना लगी कानों अगिन रे।।५।।

मेरे निर्लज्ज कानों! क्या तुमने मेरे प्राण वल्लभ के अमृतमयी वचनों को नहीं सुना था? उनके अन्तर्धान होने की सूचना का एक शब्द मात्र सुनकर भी तुम अग्नि की लपटों में क्यों नहीं जल गये?

चलना पिउ का सुनते, तोहे सब अंगों अगिन ना आई।

सुनते आग झाला मिने, दौड़ के क्यों न झंपाई।।६।।

प्रियतम के धामगमन की सूचना पाकर, तुम्हारे सम्पूर्ण अंगों (कानों के समस्त भाग) में आग क्यों नहीं लग गयी? तुम्हें तो यह दुःखद समाचार सुनते ही दौड़ते हुए अग्नि की लपटों में कूद जाना चाहिए था।

भावार्थ– इस प्रकरण में शरीर के एक–एक अंग को

व्यक्तिपरक मानकर आलंकारिक भावों में विरह की मनोदशा का मनोरम चित्रण किया गया है। कान छोड़कर नहीं जा सकते, फिर भी उपरोक्त चौपाई में उनके दौड़ने का कथन यही दर्शाता है कि यह विरह की भावदशा का अलंकारमयी वर्णन है।

नीच नैंन ए तुझ देखते, आया न आंखों लोहू।

पिउ लौकिक जिनों बिछुरे, ऐसे भी रोवे सोऊ।।७।।

अपने लौकिक पति के बिछुड़ जाने पर सांसारिक लोग भी बिलखते रहते हैं, किन्तु मेरे नयनों! तुम कितने नीच हो? मेरे आराध्य तुम्हारे सामने ही ओझल हो गये, किन्तु तुम निर्लज्ज होकर देखते ही रहे। तुम्हारी आँखों से खून के आँसू क्यों नहीं निकले?

रोवे लोहू आंखों आंझू चले, सो कहा भयो रोवनहारे।

देखत ही पिउ चलना, निकस न पड़े तारे रे।।८।।

मेरे प्राणवल्लभ के अन्तर्धान होने के बाद खून के आँसू बहाने वाले मेरे नेत्रों! इससे क्या होना है? तुम्हें तो प्रियतम का धाम चलना देखकर अपनी पुतलियों में स्थित तारों को निकाल कर फेंक देना चाहिए था।

भावार्थ– आँखों के मध्य में एक गोलाकृति होती है , जिसे पुतली कहते हैं। पुतली के मध्य में एक और छोटी सी गोलाकृति होती है, जिसे तारा कहते हैं। इसके बिना किसी भी वस्तु को देख पाना सम्भव नहीं होता।

क्यों ना आई बास नासिका, पेहेचान के प्रेमल।

पिउ संग जीवरा न चल्या, अंदर लेता था सुगंध सकल।।९।।

मेरी निष्ठुर नासिका! तूने तो यह पहचान कर ही ली थी

कि श्री देवचन्द्र जी के अन्दर प्रेम का सागर लिये हुए मेरे प्राणाधार बसते हैं, किन्तु उनके चले जाने के सम्बन्ध में तुझे पता क्यों नहीं चला? प्रियतम की सम्पूर्ण प्रेममयी सुगन्धि का रसपान करने वाला मेरा यह जीव इतना स्वार्थी और कठोर निकला कि उनके ओझल होने के बाद भी इस शरीर को छोड़कर उनके साथ नहीं जा सका।

गुन अंग इंद्रियों की, पिउ बांधते गोली प्रेम काम।
पेहेचान करते पोहोंचावने, सनमंध देख धनी धाम।।१०।।

प्रियतम अक्षरातीत हमसे परमधाम का मूल सम्बन्ध जानकर हमारा चयन करते थे, और हमें निजधाम ले जाने के लिये हमारे तीनों गुणों, अन्तःकरण, एवं इन्द्रियों को अपने प्रेम के बन्धन में बाँधा करते थे।

भावार्थ– इस संसार सागर में करोड़ों मनुष्यों के बीच में से ब्रह्मसृष्टियों को पहचानना ही चयन करना है।

गुन अंग इंद्री आकार के, आग पड़ो तुम पर रे।
प्रेम न उपज्या तुमको, चलते धामधनी घर रे।।११।।

मेरे शरीर के गुणों, अन्तःकरण, एवं इन्द्रियों! तुम्हें धिक्कार है! तुम आग में जलकर राख हो जाओ। तुम इतने निष्ठुर कैसे हो गये कि प्रियतम के धामगमन के समय भी तुम्हारे अन्दर उनके लिये प्रेम नहीं पैदा हुआ?

एती जोगबाई ले तूं आकार, धनी चलते पीछे क्यों रह्या रे।
अब जलो रे उड़ो खाखड़े, इन समें गल पिघल न गया रे।।१२।।

रे शरीर! तेरे पास अन्तःकरण तथा इन्द्रियों आदि की इतनी शक्ति थी, फिर भी धाम धनी के अन्तर्धान के

समय तूने भी यह संसार क्यों नहीं छोड़ दिया? अब तो तुझे सूखे पत्ते की तरह, या तो जल जाना होगा, या हवा के झोंको से इधर–उधर निरर्थक उड़ते रहना होगा। इस प्रपञ्च से बचने के लिये अन्तर्धान लीला के समय, तू प्रियतम के प्रेम की अग्नि से गलकर पिघल क्यों नहीं गया?

भावार्थ– जिस प्रकार वृक्ष का सूखा पत्ता जल जाने पर अपने अस्तित्व को खो देता है और मात्र राख के रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार अपने प्राणेश्वर से बिछुड़ने के पश्चात् श्री इन्द्रावती जी को ऐसा आभास हो रहा है कि प्रियतम के बिना उनका कोई अस्तित्व नहीं है। पत्ते की शोभा तो वृक्ष से जुड़े रहकर हरा–भरा रहने में ही है।

हवा के झोंकों से इधर–उधर निरर्थक उड़ते रहने का आशय है, प्रियतम के बिना माया की सुनसान अन्धेरी

रात में इधर–उधर भटकना।

प्रेमाग्नि से गलकर पिघलने का भाव है, स्वयं को इतना समर्पित कर देना कि अपने अस्तित्व का भान ही न रहे।

अंग तोहे विरह अगिन की, न लगी कलेजे झाल रे।

ए विरहा ले अंग खड़ा रह्या, फिट फिट करम चंडाल रे।।१३।।

मेरे चाण्डाल जीव! विरहाग्नि की लपटों ने तेरे अंग–अंग सहित हृदय को क्यों नहीं जला डाला? प्रियतम का विरह लेकर भी तेरा शरीर अपने सभी अंगों सहित जीवित है, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। तुम्हारे इस निष्ठुर व्यवहार (कर्म) को धिक्कार है, धिक्कार है।

हाथ पांव सब अंग के, सब उजड़ न पड़े संधान।

अंग रोम रोम जुदे न हुए, अस्त होते तेज भान।।१४।।

प्रियतम के विरह में तेरे शरीर के हाथ, पैर, आदि सभी अंग अपने जोड़ों (सन्धियों) सहित नष्ट क्यों नहीं हो गये? मेरे जीवन रूपी तेज के सूर्य प्रियतम के अन्तर्धान होने के पश्चात् भी शरीर के रोम–रोम अलग क्यों नहीं हो गये?

ए रे निमूना भान का, मेरे पिउजी को दिया न जाए रे।
ए जोत धनी इन भांत की, कोट ब्रह्मांड में न समाए रे।।१५।।

मेरे प्रियतम को इस नश्वर जगत के सूर्य की उपमा नहीं दी जा सकती। मेरे प्राणेश्वर के तारतम ज्ञान की ज्योति ऐसी है, जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में भी नहीं समा सकती।

भावार्थ– इस जगत के सभी नक्षत्र मोहमयी अन्धकार रूपी नींद से प्रकट हुए हैं। सभी अन्ततः लय हो जाने वाले हैं, जबकि परब्रह्म की नूरमयी ज्योति अनादि एवं

अनन्त है। ऐसी अवस्था में मिथ्या (नश्वर सूर्य) एवं सत्य (अखण्ड सूर्य) की तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं होता। तारतम ज्ञान अक्षरातीत के हृदय से प्रकट हुआ है, इसलिये उसकी ज्योति और नूरमयी ज्योति को समतुल्य ही दर्शाया गया है।

ए जोत पकड़ी ना रहे, चली इंड फोड सुन्य निराकार।
सदासिव महाविष्णु निरंजन, सब प्रकृत को कियो निरवार।।१६।।

प्रियतम के द्वारा लाये गये तारतम ज्ञान की यह अनुपम ज्योति मात्र इस ब्रह्माण्ड से ही बँधी नहीं रहती, अपितु इस ब्रह्माण्ड को भेद कर सदाशिव, महाविष्णु (आदिनारायण, ॐ, हिरण्यगर्भ, आदि) से भी परे, शून्य निराकार–निरञ्जन कहे जाने वाले मोह सागर, अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल को लांघ जाती है अर्थात् स्पष्ट

विवेचना करती है।

सब्दातीत हुतो जो ब्रह्मांड, जाए तिनमें करी रोसन रे।
अछर प्रकास करके, जाए पोहोंची धाम के बन रे।।१७।।

तारतम ज्ञान की अखण्ड ज्योति ने निराकार से परे बेहद मण्डल के उन ब्रह्माण्डों (अव्याकृत, सबलिक, केवल, एवं सत्स्वरुप) में प्रवेश किया, जिन्हें शब्दातीत कहा जाता है। उनका अलौकिक ज्ञान इस संसार में देकर अक्षर धाम में विराजमान अक्षर ब्रह्म का वर्णन किया। इसके पश्चात् तारतम ज्ञान की दृष्टि ने परमधाम के वनों की अद्वितीय शोभा को दर्शाया।

सब गिरदवाए बन देखाए के, किए धाम मंदिर प्रकास।
ब्रह्मानंद ब्रह्मसृष्ट में, प्रगट कियो विलास।।१८।।

इसने रंगमहल के चारों ओर आये हुए सभी वनों की शोभा का वर्णन करके नव भूमिकाओं के मन्दिरों सहित दसमी आकाशी की शोभा को भी उजागर कर दिया। प्राणेश्वर अक्षरातीत के तारतम ज्ञान ने ब्रह्मसृष्टियों में होने वाली ब्रह्मलीला के अखण्ड आनन्द को इस नश्वर जगत में भी प्रकट कर दिया।

भावार्थ– रंगमहल की पूर्व दिशा में सातों घाटों तथा बड़े वन के वृक्षों की शोभा है। इसी प्रकार पश्चिम दिशा में फूलबाग, अन्नवन, एवं दूब दुलीचा हैं। उत्तर दिशा में ताड़वन, बड़ोवन, मधुवन, एवं महावन आये हैं। रंग महल की दक्षिण दिशा में वट–पीपल की चौकी, बड़े वन, एवं कुञ्ज–निकुञ्ज की अलौकिक शोभा दृष्टिगोचर हो रही है।

हांरे ए सुख सैयां लेवहीं, मेरे पिउजी की विरहिन।

पीछे तो जाहेर होएसी, देसी अखंड सुख सबन।।१९।।

परमधाम की ब्रह्मलीला एवं शोभा के सुख का रसपान वे आत्मायें करती हैं, जो प्राणेश्वर अक्षरातीत के विरह–प्रेम में खोयी रहती हैं। ये ही ब्रह्मात्मायें जागनी लीला में उजागर हो जायेंगी और चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड को मुक्ति का अखण्ड सुख देंगी।

ए रे धनी मेरे चलते, ना टूटी रगां क्यों रही खाल रे।

रूप रंग रस लेयके, क्यों ना पड़ी आग झाल रे।।२०।।

मेरे प्राण प्रियतम श्री राज! जब आपने श्री देवचन्द्र जी का तन छोड़ा, तो उस समय आपके विरह में मेरे शरीर की नसें टुकड़े–टुकड़े क्यों नहीं हो गयीं? मेरे शरीर की यह त्वचा अभी तक क्यों बची हुई है? यह अपने रूप,

रंग, और रस के साथ ही अग्नि की लपटों में जलकर राख क्यों नहीं हो गयी?

भावार्थ– यद्यपि रस जिह्वा का गुण होता है, जो छः प्रकार के रसों (खट्टा, मीठा, तिक्त, कटु, कषाय, तथा नमकीन) के रूप में अनुभूत होता है, किन्तु उपरोक्त चौपाई में रस शब्द का तात्पर्य प्रेम भरे स्पर्श (आलिंगन) से मिलने वाले आनन्द से है।

हड्डी मांस रगां भेली क्यों रही, ए पकड़ के अंग अंधेर रे।
धनी का बिछोहा क्यों सह्या, लोहू ना सूक्या तिन बेर रे।।२१।।

माया के इस मिथ्या तन के मोह में ये नसें हड्डी और माँस के साथ संयुक्त कैसे रहीं? मुझे तो बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि इन्होंने प्रियतम अक्षरातीत का वियोग कैसे सहन कर लिया? मुझे लज्जा के साथ कहना पड़ रहा है

कि उस समय मेरे शरीर का रक्त भी विरह में नहीं सूख पाया।

अंग मेरे आकार के, सातों धात ना गई क्यों सूक रे।
एहेरन घन के बीच में, क्यों ना हुई भूक भूक रे।।२२।।

मेरे शरीर के एक–एक अंग को उत्पन्न करने वाली सातों धातुएँ (रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेद, अस्थि, और शुक्र) विरह में क्यों नहीं सूख गयीं? जिस प्रकार एहरन (निहाई) पर किसी वस्तु को रखकर घन (बड़े हथौड़े) के प्रहार से टुकड़े–टुकड़े कर दिया जाता है, उसी प्रकार मेरे प्राणेश्वर के अन्तर्धान (एहरन) पर विरह रूपी घन के प्रहारों से सातों धातुओं का समूह, यह शरीर, चूर–चूर क्यों नहीं हो गया?

नैंन नासिका मुख श्रवना, भूंडी खोपड़ी पकड़ तूं क्यों रही रे।

तोड़ इनों को जुदे जुदे, तूं क्यों उजड़ ना गई रे।।२३।।

मेरी पापिनी खोपड़ी! तू अपने इन अभागे नेत्रों, नासिका, मुख, तथा कानों को क्यों पकड़ी रही? तू इन्हें अलग–अलग तोड़कर वीरान (इनसे रहित) क्यों नहीं हो गयी?

भावार्थ– खोपड़ी का आशय शिर या कपाल से है। अन्तर केवल इतना ही है कि खोपड़ी जहाँ स्त्रीलिंग शब्द है, वहीं शिर या कपाल शब्द पुल्लिंग है।

विरह की व्यथा में अपने शरीर के अंगों की सुन्दरता चिढ़ाने लगती है। अपने बालों को नोच डालना या कपड़े फाड़ना भी इसी स्थिति में घटित होता है। यही कारण है कि इन्द्रावती जी अपने जीव के शरीर में स्थित शिर को भी आँखों, नासिका, कान, एवं मुख से रहित देखना

चाहती हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्ति के द्वारा अपनी विरह–वेदना को दर्शाया जाता है।

ए रे पिउजी सिधावते, क्यों ना लग्या कलेजे घाय।

काल मेरा कहां चल गया, क्यों ना काढी खैंच अरवाय।।२४।।

मुझे आश्चर्य हो रहा है कि मेरे प्राणेश्वर मेरी आँखों के सामने से ओझल हो गये, फिर भी मेरा यह निष्ठुर हृदय जरा भी दुःखी नहीं हुआ। मेरे शरीर को नष्ट करने का सामर्थ्य रखने वाला काल! तू कहाँ चला गया था? तुमने मेरे इस पापी जीव को इस शरीर से निकाल क्यों नहीं दिया।

भावार्थ– कलेजे में चोट लगना एक मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है बहुत अधिक दुखी होना। कलेजा और दिल फारसी भाषा के शब्द हैं। इनका अभिप्राय संस्कृत–

हिन्दी के हृदय से है। कलेजा स्थूल हृदय से सम्बन्धित है, जबकि दिल स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों हृदय से। सूक्ष्म हृदय ही वह अन्तःकरण है, जिसमें मन, चित, बुद्धि, एवं अहंकार का योग होता है।

नेहेचल निध रे बिछुड़ते, कहां गई वह बुध।

धिक धिक रे चंडालनी, तें क्यों भई ऐसी असुध।।२५।।

मेरे जीवन के आधार स्वरूप, अखण्ड प्राणधन प्रियतम के अन्तर्धान के समय मेरी बुद्धि! तू कहाँ चली गयी थी? निश्चित ही तू चाण्डालिनी है। इस भयंकर भूल के कारण तुझे बारम्बार धिक्कार है, धिक्कार है। धामगमन के इस अवसर पर भी तू इस प्रकार बेसुध (अचेत) क्यों हो गयी थी?

ग्यान मेरा तिन समें, क्यों ना किया वतन उजास।

तिन समें दगा दिया मुझको, मैं रही तेरे विस्वास।।२६।।

मेरे हृदय में स्थित ज्ञान! उस विकट स्थिति में तुमने मुझे परमधाम के मूल सम्बन्ध की याद क्यों नहीं दिलायी। मैं तो तुम्हारे विश्वास पर आश्रित थी, किन्तु तुमने मेरे साथ धोखा किया और मुझे उस समय उचित निर्णय नहीं लेने दिया।

भावार्थ– ज्ञान की सार्थकता उसको आचरण में उतारने से होती है। श्री इन्द्रावती जी के जीव ने चर्चा के श्रवण एवं चिन्तन–मनन द्वारा परमधाम के सम्बन्ध, स्वरूप, आदि से सम्बन्धित जो भी ज्ञान संग्रहित किया था, उसका परिणाम यही होना चाहिए था कि प्रियतम के वियोग के समय अपने प्रेम को उजागर किया जाता, किन्तु ऐसा न हो पाने से वे अति व्यथित हैं।

गुन अंग इंद्री मेरे मुझसों, उलटे क्यों हुए दुस्मन रे।

जिन समें हुआ रे बिछोहा, मेरे क्यों न हुए सजन रे।।२७।।

मेरे अन्तःकरण, इन्द्रियों, तथा इनमें विद्यमान तीनों गुणों (सत्व, रज, तम)! जिस समय प्रियतम का मुझसे वियोग हुआ था, उस समय तो तुम्हें मेरे प्रति सुहृद (सहृदय) का भाव रखकर मेरी सहायता करनी चाहिये थी, किन्तु तुमने मेरे प्रति शत्रुता का विपरीत मार्ग ही अपनाया।

भावार्थ– प्रियतम के वियोग में संसार के प्रति मोह रखना प्रेम के अभाव को दर्शाता है। इस चौपाई में तीनों गुणों, अन्तःकरण, तथा इन्द्रियों को इसीलिए फटकार लगायी गयी है, क्योंकि उन्होंने शत्रु की तरह व्यवहार करके प्रियतम के प्रेम में स्वयं को न्योछावर नहीं करने दिया।

साहेब मेरा चलते, मेरी सकल सैन्या अंग मांहें।

सो काम न आए आतम के, अवसर ऐसो न क्यांहें।।२८।।

जब मेरे सर्वस्व मुझसे ओझल हुए (देह त्याग किया), उस समय मेरी सभी इन्द्रियाँ मेरे अन्तःकरण के निर्देश पर कार्य कर रही थीं, किन्तु यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि मेरी यह सम्पूर्ण सेना (अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ) मेरी आत्मा के कार्य में काम न आ सकी। अब ऐसा सुनहरा अवसर भला पुनः कहाँ मिलने वाला है?

भावार्थ– सागर की लहरों का सम्पूर्ण अस्तित्व और शोभा सागर से ही है। उससे अलग होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु वह कैसी ब्रह्मसृष्टि है, जो अपने प्राणाधार से अलग होकर संसार में रह रही है? वस्तुतः ऐसा होना उसके निज धर्म की अवहेलना है। श्री इन्द्रावती जी की यही वेदना है कि यदि मेरी इन्द्रियों और

अन्तःकरण ने साथ दिया होता, तो मैं भी अपना तन त्याग देती और अपने आत्मिक धर्म को निभा देती, किन्तु मैं अपने मोह के कारण इस स्वप्नमयी जगत में रह रही हूँ। उपरोक्त चौपाई में अन्तःकरण एवं समूह को ही सेना के रूप में दर्शाया गया है।

फिट फिट रे सैन्या तुमको, क्या न हुती तुमे पेहेचान रे।
जाते जीव का जीवन, तुम क्यों ले न निकसे प्रान रे।।२९।।

मेरे अन्तःकरण एवं इन्द्रियों! तुम्हें धिक्कार है, धिक्कार है। क्या तुम्हें मेरे प्राणेश्वर की पहचान नहीं थी? मेरे जीव के जीवनाधार प्रियतम के अन्तर्धान के समय तुमने मेरे प्राणों को इस शरीर से बाहर क्यों नहीं निकाल दिया?

भावार्थ– अन्तःकरण में विरह की ज्वाला के धधकने पर ही प्राणों का परित्याग होना सम्भव है। इस चौपाई में

यही बात उलाहने के रूप में कही जा रही है।

जीवन चलते जीवरा, क्यों छोड़या तें संग रे।

अब कहूं रे तोको करम चंडाल, तूं तो था तिनका अंग रे।।३०।।

मेरे चाण्डाल जीव! मेरे प्राणेश्वर इस संसार को छोड़कर चले गये और तू किसके लिए यहाँ पड़ा है? तूने उनका साथ क्यों छोड़ दिया? तू तो उनका बन चुका था। तेरे इस नीच कर्म के विषय में मैं क्या कहूँ?

भावार्थ– श्मशान में शवदाह करने वालों को चाण्डाल कहा जाता है। प्रायः दुर्गन्धि से भरे होने के कारण, समाज में उन्हें हेय (घृणा) दृष्टि से देखा जाता है। यही कारण है कि प्रियतम के वियोग को सहन कर जाने के कारण, अपराधी रूपी जीव को यहाँ चाण्डाल कहकर सम्बोधित किया गया है।

नीच करम ऐसा चंडाल, तुझ बिना कोई न करे रे।

श्री धनी धाम चले पीछे, इन जिमी में देह कौन धरे रे।।३१।।

मेरे चाण्डाल जीव! तुम्हारे बिना इतना नीच कर्म और कोई भी नहीं कर सकता था। भला तेरे अतिरिक्त और कौन ऐसा पापी है, जो अपने सर्वस्व, अपने प्राणधन के चले जाने के बाद भी इस झूठे संसार में अपने शरीर को रखे रहे?

कौन विध कहूं मैं तुझको, कुकरमी करम चंडाल रे।

तोहे अंग न उठी अगिन, तो तूं क्यों न झंपाया झाल रे।।३२।।

मेरे कुकर्मी चाण्डाल जीव! मैं तुझे क्या कहूँ? मैं देख रही हूँ कि प्रियतम के वियोग से भी तुम्हारे अन्दर विरह की अग्नि नहीं जल रही है। अब तो इसका एक ही प्रायश्चित है कि तू अपने शरीर को अग्नि की धधकती हुई

ज्वालाओं में डालकर भस्म कर दे।

झांप न खाई तें भैरव, क्यों कायर हुआ अवसर।

तिल तिल तन न ताछ्या, जाते ए सुख सागर।।३३।।

अनन्त सुख के सागर मेरे प्राणधन चले गये, किन्तु एक तू है जो इतना कायर बना रहा कि अपना शरीर भी नहीं छोड़ सका। अरे निर्लज्ज! तुझे तो पहाड़ की चोटी से छलांग लगाकर अपने शरीर के टुकड़े–टुकड़े कर लेना चाहिए था। तूने तलवार से अपने शरीर के अंग–अंग की सम्पूर्ण त्वचा को शरीर से छीलकर अलग क्यों नहीं कर दिया?

भावार्थ– तिल का आकार बहुत ही छोटा होता है। ऐसी अवस्था में शरीर की त्वचा को तिल–तिल कर छीलने का आशय है कि तिल के परिमाण के बराबर भी त्वचा

ऐसी न रह जाये, जिसे माँस से छील कर अलग न किया गया हो।

धनी के विरह में सुन्दरसाथ के लिए ऐसा करना उचित नहीं है। श्री मिहिरराज जी राज घराने के थे, इसलिए उनके मुख से इस प्रकार विरह के उग्र विचार प्रकट हुए।

गुन सागर धनी चलते, क्यों किया ऐसा हाल रे।

बज्रलेपी रे स्वाम द्रोही, जीव क्यों चूकया चंडाल रे।।३४।।

चाण्डाल की तरह नीच कर्म करने में प्रवीण मेरे जीव! अनन्त गुणों के सागर मेरे प्रियतम ओझल हो गये, फिर भी तेरी ऐसी स्थिति बनी रही कि तूने अपना तन नहीं त्यागा। निश्चय ही अपने स्वामी के साथ तूने द्रोह (विरोध) का कार्य किया है। जब वे चले गये, तो तू इस संसार में किसके लिए रह रहा है? अपना तन त्यागकर

प्रेम का सम्बन्ध निभाने का सुनहरा अवसर तूने क्यों खो दिया? निश्चय ही तेरा यह अमिट गुनाह युग-युग तक सुन्दरसाथ में प्रचलित रहेगा।

द्रष्टव्य- अक्षरातीत जीव के स्वामी हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो उनकी प्राणेश्वरी है, हृदयेश्वरी है। इसलिए श्री प्राणनाथ जी को स्वामी प्राणनाथ कहना अनुचित है। इस प्रकार का कथन जीव भाव में डूबा हुआ व्यक्ति ही कर सकता है।

दुष्ट अधरमी केता कहूं, हुआ बेमुख देते पीठ रे।
ऐसा समया गमाइया, निपट निठुर जीवरा ढीठ रे।।३५।।

प्रियतम के प्रति अपने प्रेम-धर्म का पालन न करने वाले मेरे दुष्ट जीव! मैं तुझे क्या कहूँ? धाम धनी के अन्तर्धान होते ही तू उनकी ओर से विमुख हो गया, और

उनके विरह में अपना शरीर छोड़कर अपना प्रेम–धर्म निभाने का सुनहरा अवसर तूने खो दिया। निश्चय ही तू निष्ठुर ओर निर्लज्ज होकर इस मिथ्या जगत में रह रहा है।

सब्दातीत के पार के पार, तिन पार जोत का था तेज रे।

यासों था तेरा सनमंध, पर तें कछुए न राख्या हेज रे।।३६।।

इस नश्वर जगत से परे शब्दातीत बेहद मण्डल है, जिसके परे अक्षर धाम है, और उसके भी परे अक्षरातीत का धाम (रंग महल) है। प्रियतम वहाँ से तुम्हें अखण्ड सुख देने के लिए आये थे। तुम्हारा भी उनसे सम्बन्ध जुड़ चुका था, किन्तु अभागे! तुमने तो जरा भी उनके प्रति अपना प्रेम नहीं दर्शाया।

भावार्थ– इस चौपाई के दूसरे चरण में कथित "जोत" का तात्पर्य परमधाम में श्री राज जी के चैतन्य स्वरूप से

है, और "तेज" का भाव आवेश स्वरूप से लिया जाएगा। इसी प्रकार, अगली चौपाई में "जोत" का तात्पर्य परात्म से और "तेज" का आशय आत्मा से है।

"शुक्र ज्योतिः चित्र ज्योतिः सत्य ज्योतिः ज्योर्तिष्मान च" (यजुर्वेद) में ब्रह्म के स्वरूप को नूरमयी ज्योति वाला, अद्भुत् ज्योति वाला, सत्य (अखण्ड) ज्योति वाला, और ज्योति स्वरूप कहा गया है। यही भाव परमधाम के सन्दर्भ में भी मानना चाहिए।

तुझमें भी तेज है उन जोत का, और वाही कमल की बास रे।
वह तेज फिरते रे तूं तेज, क्यों न पोहोंच्या जोत प्रकास रे।।३७।।

रे जीव! तुम्हारे द्वारा धारण किये तन में भी परमधाम की वही आत्मा (इन्द्रावती) विराजमान है। उस परमधाम का अलौकिक ज्ञान भी तुझे प्राप्त हो चुका है, किन्तु मुझे

अति आश्चर्य हो रहा है कि प्रियतम के देह–त्याग के समय मेरी आत्मा तेरे साथ इस शरीर को छोड़कर परमधाम की लीला में क्यों नहीं चली गयी?

भावार्थ– जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल ज्योति से प्रकाश प्रकट होता है, उसी प्रकार श्री राज जी, श्यामा जी, एवं सखियों के नूरमयी तनों से ब्रह्मलीला प्रकट होती है। उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में कथित "जोत प्रकाश" का यही अभिप्राय है।

अब कहा करूं कहां जाऊँ, ए बानी धनी ढूंढों कित रे।
पिउ पोहोंचाए मैं पीछे रही, करने विलाप रही इत रे।।३८।।

अब मैं यह निर्णय नहीं कर पा रही हूँ कि मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ? मैं अपने प्राणवल्लभ और परमधाम की अनमोल वाणी को कहाँ खोजूँ? प्रियतम के अन्तर्धान

होने के पश्चात् तो मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा, जैसे मैं इस संसार में मात्र रोते रहने के लिए ही रह रही हूँ।

अब ए बानी तूं कहां सुनसी, मेरे धाम धनी के वचन रे।
बरनन करते जो श्रीमुख, सो अब काहूँ न पाइए ठौर किन रे।।३९।।

मेरे मन्द भाग्य जीव! अब तू ही बता कि प्रियतम अक्षरातीत के उन अमृतमयी वचनों की वाणी तुझे कहाँ सुनने को मिलेगी? धाम धनी अपने श्रीमुख से परमधाम के जिस अलौकिक ज्ञान का वर्णन करते थे, अब तो उसका कहीं भी, किसी के माध्यम से भी, सुनने के लिए प्राप्त हो पाना सम्भव नहीं है।

अब तारतम कौन केहेसी, कौन विचार कर देसी हेत।
चौदे भवन में इन धनी बिना, ए बानी कोई ना देत।।४०।।

चौदह लोकों के इस संसार में धाम धनी के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा नहीं है, जो मूल सम्बन्ध का विचार करके इतने प्रेम से मुझे तारतम ज्ञान के रहस्यों को बतायेगा और परमधाम की अमृतमयी वाणी प्रदान करेगा।

बृज लीला रात दिन अखंड, रास लीला अखंड रात रे।
पिउजी बिना विवेक कौन केहेसी, हुआ प्रतिबिंब तीसरा प्रभात रे।।४१।।

व्रज लीला दिन और रात्रि के अन्तर्गत अखण्ड है, जबकि महारास की लीला मात्र अखण्ड रात्रि में हो रही है। हे धनी! अब आपके बिना यह विवेक हमें कौन देगा कि प्रतिबिम्ब की लीला तीसरे ब्रह्माण्ड में हुई, जिसमें प्रातःकाल गोपियों को ऐसा अनुभव हुआ कि हम ही रास खेलने के पश्चात् अपने घरों में उठी हैं।

भावार्थ– संध्या के समय अक्षरातीत ने योगमाया के ब्रह्माण्ड में जाकर बाँसुरी बजायी थी, जिसे सुनकर ब्रह्मसृष्टियों एवं ईश्वरी सृष्टियों ने अपना तन छोड़ दिया, तथा योगमाया के ब्रह्माण्ड (केवल ब्रह्म) में जाकर महारास का आनन्द लिया। उस समय चौदह लोक वाले कालमाया के इस ब्रह्माण्ड का प्रलय हो गया था।

१२००० वेद ऋचाओं तथा २४००० प्रतिबिम्ब की सखियों (कुमारिकाओं के जीवों) की इच्छा को पूर्ण करने के लिए पुनः इस ब्रह्माण्ड की रचना हुई। उस समय भी पूर्ववत संध्या काल ही था। पुनः इस ब्रह्माण्ड में बाँसुरी बजी, जिसमें वेद ऋचाओं तथा प्रतिबिम्ब की सखियों ने श्री कृष्ण जी के साथ यमुना जी के किनारे रास की लीला की, एवं घर आकर सो गयीं।

प्रातःकाल उठने पर उन्हें ऐसा आभास हुआ कि हम

व्रज में थी और बाँसुरी की आवाज सुनकर रास के लिए गयी थीं। उनके पतियों ने भी उन्हें अपने पास ही सोते हुए देखा, जबकि पूर्व के ब्रह्माण्ड में गोपों ने गोपियों (सात्विकी सखियों) को रोकने का प्रयास किया था, जिसके कारण उन्होंने अपना तन छोड़ दिया था।

सभी ३६००० सखियों ने तन छोड़ने के पश्चात् ही योगमाया के ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया था, जबकि प्रतिबिम्ब की लीला में रास के पश्चात् वे अपने घरों में सोती हुई मिलीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रलय के पश्चात् यह ब्रह्माण्ड पूर्ववत् बना दिया गया था। इसका मनोरम वर्णन बेहद वाणी में इस प्रकार किया गया है–

ए जो ब्रह्माण्ड उपज्या, जिनमें राख्या सेर।
साथ घरों सब पोहोंचिया, और इत आए फेर।।

ज्यों हरे ब्रह्माएं बाछरू, गोवाला संघाते।

ततखिन सो नए किए, आप अपनी भांते।।

गोकुल मिने आप अपनी, घर सब कोई आया।

खबर ना पड़ी काहूं को, ऐसी रची माया।।

साथ चल्या सब वतन, अपने पिउ साथ।

और खेले रास में अखण्ड, इत उठे प्रभात।।

सोई गोकुल जमुना त्रट, जानो सोई ब्रज वासी।

रास लीला जाने खेल के, इत आए उलासी।।

इत फेर उठे जो प्रतिबिंब, यामें साथ पिउ।

खेल आए जाने हम नहीं, धोखा रहया जिउ।।

बेहद वाणी ३१/३९,४०,४१,४३,४४,४७

यद्यपि प्रतिबिंब लीला का प्रारम्भ रास रात्रि के साथ ही होता है, किन्तु प्रातःकाल होने पर गोपों को पता चला

कि गोपियाँ तो कहीं गयी ही नहीं थी। यही कारण है कि उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में प्रतिबिंब लीला के साथ "प्रभात" शब्द का प्रयोग किया गया है।

भेख बागे का बेवरा, रह्या अग्यारे दिन रे।

सात गोकुल चार मथुरा, कौन केहेसी विवेक वचन रे।।४२।।

इस बात को यथार्थतापूर्वक कौन दर्शायेगा कि प्रतिबिंब लीला ११ दिन हुई, जिसमें ७ दिन गोकुल में तथा ४ दिन मथुरा में हुई। जब श्री कृष्ण जी ने ग्वालों का भेष छोड़कर राजसी वस्त्र धारण किये, तो गोलोक शक्ति उनके तन को छोड़कर व्रज में राधा जी के हृदय में विराजमान हो गयी।

उत्तम विचार उत्तम बंधेज, और कई विध के द्रष्टांत रे।

इन धनी बिना ए दया कर, कौन देसी कर खांत रे।।४३।।

प्राणेश्वर अक्षरातीत के बिना दूसरा कौन है, जो दया करके मेरी आत्मा की जाग्रति के लिए इतने प्रेम से अनेक प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा समझायेगा तथा मुझे अति उत्तम विचारों एवं नियमों से जोड़ेगा?

पन बांध बरस चौदेलो, सास्त्र को अर्थ कौन लेसी।

सो ए प्रकास इन पिउ बिना, एक साइत में समझाए कौन देसी।।४४।।

अब सद्गुरू श्री देवचन्द्र जी के समान व्यक्तित्व वाला भला दूसरा कौन है, जो अटूट निष्ठा के साथ चौदह वर्षों तक श्रीमद्भागवत् के गहन रहस्यों को ग्रहण करेगा? प्रियतम श्री राज जी ने उनके धाम हृदय में विराजमान होकर, तारतम ज्ञान के प्रकाश में, मात्र एक मुहुर्त (४८

मिनट) में ही भागवत् का सारा रहस्य मुझे समझा दिया था। भला वह दिव्य ज्ञान धनी की अनुपस्थिति में अब कौन दे सकता है?

भावार्थ– भागवत का श्रवण, चिन्तन, मनन मात्र श्री देवचन्द्र जी ही कर सकते हैं, सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी नहीं। श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होने पर उनकी शोभा सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के रूप में हुई। अनन्त ज्ञान के सागर अक्षरातीत को किसी व्यक्ति से भागवत सुनने की आवश्यक्ता नहीं होती।

यद्यपि "साइत" का अर्थ क्षण भी होता है, किन्तु यहाँ मुहूर्त्त का प्रसंग है क्षण का नहीं, क्योंकि एक क्षण में ज्ञान की कोई भी चर्चा नहीं हो सकती। १ दिन (२४ घण्टे) का ३०वाँ भाग मुहूर्त्त कहलाता है। इस प्रकार मुहूर्त्त का परिमाण ४८ मिनट का होता है।

दूध पानी रे जुदा कर, कौन केहेसी कर रोसन रे।

मोहजल गेहेरे में डूबते, कौन काढे या धनी बिन रे।।४५।।

अब इस संसार में कौन है, जो तारतम ज्ञान का उजाला करके हमें माया और ब्रह्म की स्पष्ट पहचान करायेगा? प्रियतम के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा नहीं है, जो इस अगाध भवसागर में डूबते हुए हम सुन्दरसाथ को पार निकाल सके।

अठोतर सौ पख का, कौन काढ देसी सार रे।

सुख अछर अछरातीत के, कौन देसी बिना आधार रे।।४६।।

मेरे प्राणों के आधार उस अक्षरातीत के बिना और कौन है, जो हद से परमधाम तक के १०८ पक्षों की हमे पहचान कराये तथा इस नश्वर जगत में भी अक्षर और अक्षरातीत के धाम के सुखों का अनुभव कराये?

भावार्थ– वैकुण्ठ की प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति का आधार लिया जाता है, जो सत्व, रज, और तम के धरातल पर पुष्टि, प्रवाही, तथा मर्यादा के भाव से की जाती है। इस प्रकार, इसके ९ x ३ x ३=८१ भेद हो जाते हैं।

८२वाँ पक्ष वल्लभाचार्य जी का है, जो गोलोकी लीला (व्रज लीला) की सखी भाव की प्रेम भक्ति दर्शाते हैं। ८३वाँ पक्ष कबीर जी या वेद का सुरति–शब्द योग है, जो योगमाया (बेहद मण्डल) की प्राप्ति का मार्ग है।

इसके परे परमधाम के २५ पक्ष हैं– १. धाम (रंग महल) २. हौज कौशर ताल ३. कुन्ज वन ४. माणिक पर्वत ५. वन की नहरें ६. पश्चिम की चौगान ७. बड़ो वन ८. पुखराज पर्वत ९. यमुना जी १०. ८ सागर और इनके बीच की ८ भूमिका। इस प्रकार ८३+२५ अर्थात्

१०८ पक्ष पूर्ण होते हैं।

परमधाम के अन्तर्गत अक्षर धाम भी विराजमान है। तारतम ज्ञान एवं चितवनि के द्वारा वहाँ के सुखों का अनुभव होना ही अक्षर–अक्षरातीत के सुखों का अनुभव करना कहा जायेगा।

नरसैयां कबीर जाटीय के, और कई साधों सास्त्र वचन रे।

काढ दे सार कौन इनका, करके एह मथन रे।।४७।।

सद्गुरु रूप में विराजमान धाम धनी के अतिरिक्त अन्य कौन है, जो नरसी मेहता, कबीर जी, जाटी भाषा, अनेक सन्तों, एवं भागवत आदि ग्रन्थों का तारतम ज्ञान के प्रकाश में मन्थन करे एवं उसके सार तत्त्व का रसपान सुन्दरसाथ को भी कराये?

भावार्थ– "मन्थन" का तात्पर्य होता है– गहन चिन्तन,

मनन, या छानबीन। यद्यपि अक्षरातीत को किसी भी ग्रन्थ या महापुरुष के वचनों को मन्थन करने की रंच मात्र भी आवश्यक्ता नहीं है, किन्तु इस संसार की मर्यादा के अनुसार ऐसा कहा गया है, क्योंकि "धाम धनी" श्री देवचन्द्र जी के जिस तन में विराजमान हैं, उसके जीव का सामर्थ्य सीमित है। उसे प्रकृति की मर्यादाओं को निभाना ही पड़ेगा।

महाप्रले लों जो कोई, सास्त्र पढ़ करे अभ्यास।

बहु विध लेवे विवेकसों, कर मन द्रढ़ विस्वास।।४८।।

यदि कोई व्यक्ति महाप्रलय तक, अपने मन में परब्रह्म एवं धर्मशास्त्रों के प्रति अटूट विश्वास लेकर, अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा से, अनेक प्रकार से गहन चिन्तन करे।

भावार्थ– महाप्रलय का समय अलग–अलग प्रसंगो में

अलग–अलग है।

पृथ्वी आदि ग्रहों के प्रलय का समय ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों के पश्चात् है। लगभग ५ अरब निहारिकाओं (गैलैक्सीज़) वाले इस ब्रह्माण्ड के प्रलय का समय १३ अरब वर्ष बाद है। समस्त सृष्टि (आदिनारायण के लय सहित) के प्रलय का समय ३१ नील १० खरब और ४० अरब वर्षों के पश्चात् है।

तो भी न आवे ए विवेक, ना कछू ए मुख बान रे।

सो संग धनी के एक खिन में, कर देवें सब पेहेचान रे।।४९।।

तो भी उसे न तो तारतम ज्ञान जैसा अलौकिक तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न ही वह अपने मुख से इस प्रकार की परमधाम की वाणी कह सकता है। किन्तु प्रियतम अक्षरातीत के साथ यदि पल भर की भी संगति

(साहचर्य) हो जाये, तो सारा दिव्य ज्ञान अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ– धाम धनी की अपार कृपा को सामान्य बुद्धि से नहीं जाना जा सकता। यदि सन्त ज्ञानेश्वर एवं कबीर जी भैंसे से वेद मन्त्रों का उच्चारण करवा सकते हैं, तो प्रियतम श्री राज जी की कृपा क्या नहीं कर सकती।

अब अबूझ टाल सुबुध देय के, कौन करसी चतुर वचिखिन रे।
नेहेचल निध धनी धाम की, सो कहूं पाइए न चौदे भवन रे।।५०।।

मेरे प्राणेश्वर के अन्तर्धान होने के पश्चात्, ऐसा कौन है जो हमारे हृदय में जाग्रत बुद्धि का ज्ञान प्रवेश कराकर हमारी अज्ञानता को नष्ट करेगा तथा हमें विलक्षण रूप से चतुर (तत्त्वज्ञान की दृष्टि से) बनाएगा? श्री राज जी ने हमें परमधाम का तारतम ज्ञान रूपी जो अखण्ड धन

दिया है, वह चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी प्राप्त होने वाला नहीं है?

दूजा कौन देसी रे लड़ के, ऐसी जाग्रत बुध सुजान रे।
साथ धाम का जान के, कौन केहेसी हेत चित आन रे।।५१।।

धाम धनी के अतिरिक्त अब दूसरा कौन है जो, हमसे प्रेमपूर्वक लड़–लड़कर, यथार्थ सत्य का बोध कराने वाली जाग्रत बुद्धि हमें देगा ? हमें परमधाम का सुन्दरसाथ जानकर अब कौन ऐसा है, जो इतने लाड़–प्यार से तारतम ज्ञान कहेगा?

भावार्थ– द्वेष भाव से लड़ने एवं प्रेमपूर्वक लड़ने में विपरीत स्थिति होती है। गहन अपनापन की भावना से जब किसी को दबाव देकर किसी कार्य के लिए विवश किया जाता है, तो उसे प्रेमपूर्वक लड़ना कहते हैं, जबकि

लोभ, मोह, या क्रोध आदि विकारों के वशीभूत होकर लड़ना इसके पूर्णतया विपरीत होता है।

नींद उड़ाए जगाए के, कौन देसी घर आप पेहेचान रे।

खेल देखाए आप देह धर, कौन काढ़सी होए गलतान रे।।५२।।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में हमारी माया की नींद को हटाकर, अब हमें कौन जाग्रत करेगा तथा निज घर एवं निज स्वरूप की पहचान करायेगा? हमारे प्रेम में डूबे (गलितगात) होने के कारण ही उन्होंने एक मानवीय (श्री देवचन्द्र जी का) तन धारण करके हमें माया का खेल दिखाया। अब उनके अतिरिक्त हमें माया के इस भवसागर से पार ले जाने वाला कौन है?

त्रैलोकी त्रिगुन माया मिने, हम बैठे थे रचके घर रे।

सो नेहेचल धाम में बैठाए के, याको कौन देखावे खेल कर रे।।५३।।

सत्व, रज, तम की इस त्रिगुणात्मिका माया में, हम अज्ञानतावश पृथ्वी, स्वर्ग, और वैकुण्ठ को ही अपना घर समझ बैठे थे, किन्तु प्रियतम ने हमारे ऊपर अपार कृपा करके तारतम ज्ञान के प्रकाश में हमें अखण्ड परमधाम दर्शा दिया (पहचान दी)। अब उनके अतिरिक्त और कौन है, जो इस मायावी संसार की नश्वरता का हमें बोध कराये?

अब ए चरचा कहां सुनसी, मूल वचन तारतम रे।

ए सुने बिना हम क्यों गलसी, बिना बानी इन खसम रे।।५४।।

अब तारतम ज्ञान के प्रकाश में परमधाम के मूल वचनों की चर्चा सुनने का अवसर हमें कहाँ सुनने को मिलेगा?

प्रियतम की वाणी को सुने बिना हमारी आत्मा उनके प्रेम में भला कैसे डूब सकेगी?

भावार्थ– परमधाम के "मूल वचन" का तात्पर्य प्रेम संवाद (इश्क रब्द) एवं खेल में आते समय धनी को दिये हुए वचन हैं। "मूल वचन की नाही सुध, ए दोऊ खेले सुपने की बुध" (प्रकट वाणी) से यही निष्कर्ष निकलता है।

और घाट बिना गले, क्यों जीव टल होसी आतम रे।

तीन दिवाल आड़ी भई, सो उड़े ना बिना खसम रे।।५५।।

प्रियतम के प्रेम में गलतान हुए बिना यह जीव भला योगमाया के ब्रह्माण्ड में अखण्ड होकर आत्म–स्वरूप कैसे होगा? इस लक्ष्य की प्राप्ति में तीन दीवारें बाधक हैं, अर्थात् तीन प्रमुख कारण हैं। ये दीवारें बिना धाम धनी

की कृपा से नष्ट नहीं हो सकतीं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में "घाट" का तात्पर्य बेहद मण्डल से है।

आत्मा जिस जीव पर बैठी है, वह जीव सत्स्वरूप की पहली बहिश्त में ब्रह्मात्मा का प्रतिबिम्बित रूप बनेगा, इसे ही जीव का आत्म–स्वरूप होना कहा गया है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रेममयी चितवनि के द्वारा अपने धाम हृदय में धाम धनी की शोभा को बसाना होता है। इस प्रक्रिया में उसकी दृष्टि पृथ्वी आदि स्थूल लोकों, महत्तत्व आदि सूक्ष्म, एवं महाशून्य (कारण–महाकारण) से परे हो जाती है, तथा प्रेम का आधार लेकर बेहद से परे परमधाम मूल मिलावे में पहुँच जाती है। आत्म–जाग्रति तथा जीव के आत्म–स्वरूप होने में इस मायावी जगत की ये तीन दीवारें (बन्धन रूप) हैं, जो धाम धनी

की कृपा से नष्ट होती हैं।

चितवनि की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि "कारज कारन महाकारन से, न्यारी हो इन पिउ की नार" (कि. ५/२२), किन्तु यह कथन आत्मा के लिये है जो कार्य (हद), कारण (बेहद), तथा महाकारण (अक्षर) से भी परे होकर अपने प्रियतम का साक्षात्कार करती है। जीव को अखण्ड प्रेम तथा सुख की प्राप्ति के लिये स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण–महाकारण (प्रकृति) को पार करना ही पड़ेगा।

पांच पचीस जो उलटे, होए बैठे दुस्मन रे।

सो नेहेचल घर में बैठाए के, कौन कर देवे सीधे सजन रे।।५६।।

पाँच तत्वों वाले इस शरीर की २५ प्रकृतियाँ विपरीत दिशा में होकर मुझसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर रही थीं।

प्रियतम ने अखण्ड परमधाम का ज्ञान देकर हमें सीधे सन्मार्ग पर चलना सिखाया। भला, अब ऐसा करने वाला कौन है?

भावार्थ– सांख्य दर्शन में २५ प्रकृतियों का इस प्रकार वर्णन है– ४ अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार), ५ तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध), १० इद्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय), ५ स्थूल भूत, तथा १ जीव।

अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के माध्यम से पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध) का भोग करता हुआ जीव, माया के बन्धनों में फँसा रहता है। तारतम ज्ञान का प्रकाश पाकर, जब वह प्रियतम अक्षरातीत से प्रेम करने लगता है, तो वह सन्मार्ग का राही बन जाता है। इसके पूर्व उसने अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के

शत्रुतापूर्ण व्यवहार (मायावी आकर्षण) के कारण अधोगति का मार्ग अपना रखा था।

वैरी मार के कौन जिवावसी, उलटे भान के करे सनमुख रे।
या दुख में इन धनी बिना, कौन देवे सांचे सुख रे।।५७।।

अन्तःकरण एवं इन्द्रियों की भोगमयी प्रवृत्ति रूपी शत्रुता ने मेरे जीव को माया में मृतक के समान कर रखा था। किन्तु प्रियतम ने अपने तारतम ज्ञान के प्रकाश से मुझे उल्टी राह (भोग की प्रवृत्ति) से निकालकर युगल स्वरूप के सम्मुख कर दिया। अब ऐसा करने वाला कौन है? इस दुःखमयी संसार में धाम धनी के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है, जो मुझे परमधाम का सच्चा सुख दे सके।

बीच पट आतम परआतमा, कौन उड़ाए कर दे संग रे।

इन दुलहे बिना दुलहिनसों, क्यों होसी रस रंग रे।।५८।।

मेरी आत्मा तथा परात्म के बीच माया का जो पर्दा पड़ा हुआ था, उसे हटाकर प्रियतम (मूल स्वरूप) की सान्निध्यता दिलाने वाला भला अब कौन है? मेरे प्राणेश्वर अब मेरी आँखों से ओझल हो चुके हैं। इस अवस्था में मुझ अंगना को उनका प्रेम भरा आनन्द कैसे प्राप्त हो सकेगा?

मोहजल पूर अंधेर में, जित काहू ना किसी की गम रे।

तहां से काढ़ देवे सुख नेहेचल, ऐसा कौन बिना इन खसम रे।।५९।।

अज्ञानता के अन्धकार से भरपूर इस भवसागर में कहीं भी किसी को सच्चिदानन्द परब्रह्म की पहचान नहीं है। सद्गुरू रूप में आये प्रियतम के अतिरिक्त और कौन है,

जो हमें इस भवसागर के बन्धनों से निकालकर परमधाम के अखण्ड सुखों का अनुभव कराये?

इन भवसागर के जीवों में, वासना ढूंढ काढ़े छुड़ाए के फंद रे।
आतम अपनी पेहेचान के, कौन पावे आनंद रे।।६०।।

मेरे प्राणेश्वर इस मायावी जगत के जीवों में परमधाम की आत्माओं की खोज किया करते थे। तारतम ज्ञान के प्रकाश में उन्हें मायावी बन्धनों से मुक्त करते थे और अपनी आत्माओं की पहचान करके वे अत्यधिक आनन्दित हुआ करते थे। अब उनकी तरह ऐसा कौन है, जो ब्रह्मात्माओं को पाकर आनन्द में डूब जाया करेगा?

अब कौन रे करसी ऐसा बरनन, नेहेचल बृज रास धाम रे।
ए कौन सुख सैयों को देय के, कौन मिलावे स्यामाजी स्याम रे।।६१।।

सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी जिस प्रकार अखण्ड व्रज, रास, एवं परमधाम की अमृतमयी–मनमोहक चर्चा किया करते थे, वैसी चर्चा करने वाला अब कौन है? ऐसा कौन–सा व्यक्तित्व है, जो हम सुन्दरसाथ को अखण्ड ज्ञान का सुख दे एवं हमारे धाम हृदय में युगल स्वरूप श्री राज श्यामा जी की अनुभूति कराये।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कथित युगल स्वरूप से मिलाने का तात्पर्य है, ज्ञान एवं ध्यान के द्वारा हृदय–मन्दिर में उनकी अनुभूति कराना।

आतम को रे जगाए के, कौन खोले आतम के श्रवन रे।
अंतर पट उड़ाए के, कौन केहेसी मूल वचन रे।।६२।।

प्रियतम अक्षरातीत के अन्तर्धान हो जाने के पश्चात्, अब कौन है जो हमारी आत्मा के बन्द कानों को

खोलेगा? माया का पर्दा हटाकर, परमधाम के मूल वचनों की याद दिलाने वाला भला अब कौन है?

भावार्थ– जब तक आत्मा संसार में आसक्त जीव के खेल को देखने में मग्न रहती है, तब तक उसे प्रियतम की आवाज सुनायी नहीं पड़ती। जब विरह–प्रेम में उसकी दृष्टि परमधाम की ओर मुड़ती है, तो उसे प्रतीत होता है कि प्रियतम तो मेरे धाम हृदय में ही सूक्ष्म रूप से विराजमान होकर मुझे पुकार रहे थे और मैं उसे सुन नहीं पा रही थी। इसे ही आत्मा के कानों के बन्द द्वार को खोलना कहा गया है।

फोड़ ब्रह्मांड आड़े आवरण, ताए पोहोंचावे अछर पार रे।
सुख अखंड अछरातीत के, कौन देवे बिना इन भरतार रे।।६३।।

मेरे प्राणवल्लभ ही तो श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में

विराजमान होकर लीला कर रहे थे। उनके ओझल हो जाने के बाद, अब कोई भी नहीं है, जो हमारी सुरता (अन्तर्दृष्टि) को इस अष्टावरण वाले ब्रह्माण्ड से परे ले जाये, एवं बेहद तथा अक्षर धाम से भी परे परमधाम में ले जाकर वहाँ के अखण्ड सुखों का अनुभव कराये।

भावार्थ– इस ब्रह्माण्ड को अष्टावरणयुक्त तो कहा जा सकता है, किन्तु ब्रह्माण्ड से परे अष्टावरण कहना उचित नहीं है, क्योंकि बैकुण्ठ आदि सूक्ष्म लोकों के परे पृथ्वी, जल, और अग्नि का आवरण होना असम्भव है। वस्तुतः बैकुण्ठ के पश्चात् मन, बुद्धि, एवं अहंकार का आवरण है।

ऊपर बाड़े वाट धाम की, कौन बतावे और रे।
इन भेदी बिना भोम क्यों छूटहीं, क्यों पोहोंचिए अखंड ठौर रे।।६४।।

परमधाम के साक्षात्कार के लिये प्रेम का विहंगम मार्ग

बताने वाला अब कौन है? एकमात्र प्रियतम ही इस रहस्य को जानते हैं कि इस भवसागर से परे होकर परमधाम को कैसे देखा जाता है, किन्तु अब तो वे ओझल हो चुके हैं। अब कौन है, जो यह बताये कि इस संसार से परे होकर अखण्ड परमधाम में किस प्रकार पहुँचा जाता है?

भावार्थ– विहंगम का अर्थ पक्षी होता है। चींटी की तरह धीरे–धीरे चलकर वृक्ष पर लगे साक्षात्कार रूपी फल को पाने के प्रयास की राह कर्मकाण्ड की है। बन्दर की तरह उछल–कूद कर पहुँचने का मार्ग ज्ञान एवं साधना का है, तथा पक्षी की तरह सीधे उड़कर लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग विशुद्ध प्रेम का है, जिसमें कर्मकाण्ड का कोई भी बन्धन नहीं रह जाता।

साथ अजान अबूझ को, कौन लेसी सुधार रे।

वासना सगाई पेहेचान के, कौन खोल दे नेहेचल द्वार रे।।६५।।

मेरे प्राणेश्वर! माया की नींद में होने से हम सुन्दरसाथ तो नादान (अज्ञान में भटके हुए) हैं, नासमझ हैं। आप ही बताइये, अब हमारी सुधि लेने वाला कौन है? आप के अन्तर्धान हो जाने के बाद तो ऐसा अब कोई भी नहीं है, जो परमधाम के मूल सम्बन्ध से हमारी पहचान करे और माया के आवरण (पर्दे) को हटाकर हमें अखण्ड परमधाम का अनुभव कराये।

सत सागर सुतेज में, बतावत नेहेचल धन रे।

सो पूर लेहेरां चल गई, आवत अमोल अखंड रतन रे।।६६।।

मेरे प्रियतम अक्षरातीत का हृदय अलौकिक आभा से पूर्ण शाश्वत सत्य का अनन्त सागर है। वे श्री देवचन्द्र जी

के धाम हृदय में विराजमान होकर परमधाम का ज्ञान रूपी अखण्ड धन दिया करते थे। दुर्भाग्यवश, प्रियतम के अन्तर्धान होने से सुन्दरसाथ के लिये उन लहरों का प्रवाह बन्द हो गया है, जिसमें परमधाम के ज्ञान के अनमोल रत्न विद्यमान रहते थे।

ए धन मेरे धनीय का, आया था मुझ कारन रे।

सो धन खोया मैं नींद में, धनी देते कर कर जतन रे।।६७।।

धाम धनी का तारतम ज्ञान रूपी यह धन, परमधाम से मेरी आत्मा को जाग्रत करने के लिये आया था। प्रियतम अनेक प्रयत्नों से मेरे हृदय में उस ज्ञान का अमृत रस उड़ेलते रहे, किन्तु यह मेरी भाग्यहीनता थी जो माया की नींद के प्रभाव में उसका वास्तविक लाभ मैं नहीं ले सकी और उसे खोती रही।

ए धन जाते मेरे धनी का, सो तूं देख के कैसे रही रे।

फिट फिट भूंडी पापनी, तें एती पुकार क्यों सही रे।।६८।।

प्राणवल्लभ के ओझल होते ही तारतम के अमृत का रसपान होना भी बन्द हो गया। रे मेरी मूर्खा पापिनी आत्मा! हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर देने वाले इस दृश्य को देखकर भी, तू किसलिये इस सारहीन जगत में रह रही है? तुझे बारम्बार धिक्कार है। तेरे प्राणेश्वर तुझे तारतम वाणी से पुकारते रहे और तू निष्ठुर होकर चुपचाप केवल सुनती भर रही।

भावार्थ- यद्यपि आत्मा पर पापिनी या मूर्ख जैसे दोषारोपण स्वप्न में भी नहीं किये जा सकते, किन्तु यहाँ प्रेम-विरह के भावावेश में ऐसा कहा गया है। उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में सहन करने का तात्पर्य यह है कि श्री इन्द्रावती जी ने धाम धनी द्वारा बार-बार आत्म

जाग्रति के लिये पुकारे जाने पर भी निष्क्रियता का प्रदर्शन किया (अपना प्रेम समर्पण नहीं दर्शाया)। वस्तुतः यह प्रसंग हम सुन्दरसाथ को शिक्षा देने के लिये है।

फिट फिट रे मेरी आतमा, तें क्यों खोई निध आई हाथ रे।
कर दई धनी धाम पेहेचान, तो तूं क्यों न चली पिउ साथ रे।।६९।।

मेरी आत्मा! तुझे धिक्कार है। तूने तो अपने समक्ष विद्यमान अपने अखण्ड सुहाग एवं तारतम ज्ञान की अनमोल निधि को खो दिया है। यद्यपि प्रियतम ने तुझे अपने स्वरूप की ज्ञान द्वारा पहचान करा दी थी, फिर भी तुझे संसार से ऐसा क्या मोह हो गया जो तू अन्तर्धान के समय उनके साथ न जा सकी?

संग पिउ के न चली, क्यों रही पिउसों बिछुर रे।

अजहूं आह तेरी न उड़ी, याद कर अवसर रे।।७०।।

तू अपने प्राणवल्लभ के साथ इस संसार को छोड़कर नहीं जा सकी। अब तू ही बता कि उनसे बिछड़कर यहाँ किस उद्देश्य से रह रही है? उस घटनाक्रम को याद कर, अभी भी विरह में तेरी साँसे क्यों नहीं निकल जातीं?

त्राहि त्राहि करूँ रे सजनी, पिउजी दियो मोहे छेह रे।

जल बल विरहा आग में, भसम न हुई जीव देह रे।।७१।।

हे सखी! अपने प्राणेश्वर के अन्तर्धान हो जाने से मेरा उनसे वियोग हो गया है। मैं उनके विरह में हाय–हाय करती हुई तड़प रही हूँ। बार–बार मेरे मन में यही बात उठा करती है कि उनके विरह की अग्नि में अपने इस जीव तथा शरीर के साथ मैं जलकर राख क्यों नहीं हो

जाती?

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में सजनी (सखी) शब्द का सम्बोधन एक सखी रतन बाई (बिहारी जी) के लिये किया गया है। इसका ही समानार्थक शब्द "सई" या "सैंयल" है। तारतम वाणी में इसका वर्णन इस प्रकार है–

सई तू मेरी बाई रतन, मोहे मिले छबीले लाल।

प्र. हि. २८/११

मेरी सैंयल रे, साह आए थे मेरे घर। प्र. हि. ७/१

सई रे पिउ की बातें मैं कैसे कहूँ, मोसों आए कियो मिलाप।

प्र. हि. ८/२

जहाँ समस्त सुन्दरसाथ को सम्बोधित किया गया है, "सैंया" या "सैयों" शब्द का प्रयोग किया गया है–

अब सुनो रे तुम सैंया, कहूँ सो बीतक बात।

प्र. हि. ८/८

बुलाए सैयों को चले वतन, क्यों न होए जो कहे वचन।

प्र. हि. ११/२

कई विध कह्या मोहे पिउजी, पर मैं कछू न कियो सनेह रे।

अब तो बैठी धन खोए के, हाथ आया था जेह रे।।७२।।

प्रियतम ने मुझे जगाने के लिये अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु मैं उनके प्रेम का थोड़ा सा भी प्रत्युत्तर नहीं दे सकी। अपने जीवन के आधार धाम धनी की सान्निध्यता एवं तारतम ज्ञान के रस में डूबने का जो सुनहरा अवसर मुझे प्राप्त हुआ था, उसे खोकर मैं अब खाली हाथ बैठी हूँ।

धनिएँ तो केहे केहे देखाइया, कर कर मुझसों एकांत रे।

पर मैं चूकी चंडालन अवसर, अब पकड़ बैठी मैं स्वांत रे।।७३।।

धाम धनी ने तो एकान्त में, तारतम ज्ञान द्वारा, अनेक प्रकार से समझाकर मुझे परमधाम एवं अपने स्वरूप की पहचान करा दी थी, किन्तु मैं ही चाण्डालिन बनी रही जो प्रियतम के अखण्ड प्रेम का लाभ लेने से चूक गयी। अब उनके अन्तर्धान होने के पश्चात् चुपचाप निरर्थक बैठी हूँ।

भावार्थ– इस चौपाई के प्रथम चरण में दिखाने का तात्पर्य ज्ञान दृष्टि से दिखाने से है।

अब सब्दातीत निध धाम की, ए कौन केहेसी मुख बान रे।

श्री धाम के सुख की रे बीतक, कौन केहेसी वर्तमान रे।।७४।।

परमधाम की शोभा एवं लीला यहाँ के शब्दों से परे है।

प्रियतम के अन्तर्धान होने के पश्चात्, वर्तमान समय में इस संसार में भला अन्य कौन है, जो परमधाम की अनन्त आनन्दमयी लीला के सुख को अपने मुख से वर्णित करके हमें सुना सके?

उठते बैठते खेलन की, सुध कौन कहे एह सुकन रे।
बन जाए अन्हाए के, कौन केहेसी सिनगार बरनन रे।।७५।।

निजधाम में अष्ट प्रहर की लीला में सखियाँ अपने प्राणेश्वर के साथ किस प्रकार उठती–बैठती एवं क्रीड़ा करती हैं, उसका मनोरम वर्णन करके हमें अब कौन सुनायेगा? दोपहर की भोजन लीला के पश्चात् ३ बजे सखियाँ वनों में जाती हैं , तथा प्रियतम के साथ आनन्दमयी क्रीड़ा करने के पश्चात् यमुना जी के जल में स्नान करती हैं, तथा अपना मनोहर श्रृंगार करती हैं। यह

वर्णन सुनाने वाला भला अब कौन है?

वस्तर भूखन की विगत, पिउ बिना कौन लेवे रे।

ए सुख अनुभव अपना, सनमंध करके कौन देवे रे।।७६।।

मेरे आराध्य, मेरे सर्वस्व धाम धनी के अतिरिक्त अन्य कौन है, जो परमधाम में विराजमान युगल स्वरूप के वस्त्रों एवं आभूषणों की शोभा को यथार्थ रूप में जानता हो? इस अनुपम शोभा के अनुभव का सुख धाम धनी ने हमें अपने मूल सम्बन्ध के कारण ही दिया था। वह सुख भला कौन दे सकता है?

भावार्थ– युगल स्वरूप श्री राज श्यामा जी की शोभा–श्रृंगार का वास्तविक ज्ञान केवल श्री राज जी को ही है, अन्य किसी को नहीं। जिबरील या इस्राफील इस शोभा के विषय में न तो कुछ जानते हैं और न कुछ कह सकते

हैं। श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान स्वयं श्री राज जी ने ही युगल स्वरूप की शोभा का वर्णन किया है। इसलिये तो प्र. हि. ४/१५ में स्पष्ट कहा गया है कि "केहेलाया बैठ हिरदे साख्यात।" जोश स्वरूप जिबरील तो वाणी (शब्द) के माध्यम से मात्र उसे व्यक्त करने वाला है।

कई सुख अनुभव बन के, कई सुख सातों त्रट रे।

सुख ताल मंदिर मोहोलन के, कौन देवे उड़ाए अंतर पट रे।।७७।।

सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी , हमारे अन्दर विद्यमान माया के पर्दे को हटाकर, परमधाम के वनों, यमुना जी के सातों घाटों, हौज कौसर ताल, एवं मन्दिरों, तथा महलों में होने वाली प्रेममयी लीलाओं के सुख का अनुभव कराया करते थे। अब वह सुख देने वाला भला कौन है?

भावार्थ– सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के तन से जब आवेश लीला प्रकट होती थी, तो सुन्दरसाथ को यमुना जी के जल आदि का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता था। इस प्रकार परमधाम की लीला के सुख का अनुभव ज्ञान एवं आड़िका लीला द्वारा हुआ करता था।

तीसरी भोम मोहोल सिनगार, और बैठ के आरोग पौढ़न रे।
सुखपाल बैठ बन सिधावते, कौन केहेसी पीछला पोहोर दिन रे।।७८।।

रंगमहल की तीसरी भूमिका की दहलान में प्रातःकाल श्रृंगार की लीला होती है। दोपहर के समय सखियाँ पड़साल में युगल स्वरूप को भोजन कराती हैं। तत्पश्चात् नीले–पीले मन्दिर में तीसरे प्रहर तक श्री राज श्यामा जी की विश्राम लीला होती है। चौथे प्रहर में सखियों के साथ युगल स्वरूप सुखपालों में बैठकर वनों में आनन्दमयी

क्रीड़ा करने के लिये जाते हैं। अब इस मनोहर लीला का वर्णन हमें कौन सुनायेगा?

सुख चौथी भोम निरत के, सुख पांचमी भोम पौढ़न रे।
ए सुख अनुभव कौन केहेसी, कई विध विलास रैन रे।।७९।।

चौथी भूमिका की नृत्य की हवेली में अति सुन्दर नृत्य होता है, तो पाँचवी भूमिका में सखियों की अपने प्राणेश्वर के साथ शयन लीला होती है जिसमें पूरी रात्रि में अनेक प्रकार की प्रेममयी लीला का आनन्द होता है। प्रियतम के मुख से इन लीलाओं का श्रवण कर हमें जिस सुख का अनुभव होता था, वह सुख अब हमें कौन देने वाला है?

द्रष्टव्य– पाँचवी भूमिका में वस्तुतः शयन लीला नहीं होती, अपितु प्रेम की सर्वोच्च अवस्था (मारिफत) होती है, जिसमें प्रेमी और प्रेमास्पद (आशिक तथा माशूक)

स्वयं को भूल जाते हैं तथा उनकी दृष्टि में केवल एक (दूसरा) ही रह जाता है। इसे ही इस नश्वर जगत में शयन लीला के दृष्टान्त से समझाया गया है।

कई विध सुख तारतम के, जो कहे वचन सुख मूल रे।
या विध हमें कौन कहे बरनन, सनमंध होए सनकूल रे।।८०।।

परमधाम के मूल सम्बन्ध से, धाम धनी हमारे प्रति अति प्रेम विह्वल होकर, तारतम ज्ञान द्वारा, मूल सुखों की अनेक प्रकार की बातों का वर्णन किया करते थे। उनके अन्तर्धान होने के पश्चात्, उस तरह का वर्णन करके हमें सुनाने वाला अब कौन है?

देत बिछोहा धनी धाम के, तुम क्यों न किया एह विचार रे।
हुती आसा मुखी इंद्रावती, सुख चाहती अखंड अपार रे।।८१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राण प्रियतम! मुझे विरह की यह पीड़ा देते समय आपने इस बात का विचार क्यों नहीं किया कि मैं पल –पल आपकी सान्निध्यता (निकटता) में ही रहकर आपके अखण्ड एवं अनन्त सुखों का रसपान करना चाहती थी।

प्रकरण ।।६।। चौपाई ।।१६१।।

जाटी भाखा का विलाप

इस प्रकरण में श्री इन्द्रावती जी द्वारा जाटी भाषा में अपने विरह की अभिव्यक्ति की गई है। प्रकाश गुजराती में इस प्रकरण का शीर्षक है "भाखा सिंधी जाटी", जबकि हिन्दुस्तानी में मात्र जाटी भाषा में विलाप करना लिखा है। प्रकास गुजराती के कथन से स्पष्ट होता है कि जाटी एक अलग भाषा है, जो सिन्धी के बहुत निकट है।

यह सर्वविदित है कि श्री देवचन्द्र जी का जन्म उमरकोट में हुआ था, जो वर्तमान समय में भुज (भोजनगर) से लगभग २५० कि.मी. की दूरी पर पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त के अन्तर्गत है। कच्छी भाषा में गुजराती शब्दों की अधिकता है, किन्तु उसमें सिन्धी के शब्द भी मिले हुए हैं। इसी प्रकार, जाटी भाषा में सिन्धी भाषा के शब्दों की बहुलता है तथा उसमें आंशिक

रूप से पंजाबी भाषा के शब्द भी मिले हुए हैं।

प्रायः भाषा का नामकरण प्रान्त या देश के नाम पर होता है, जैसे पंजाब, गुजरात, बंगाल, आसाम, जर्मनी, रूस, तथा चीन की भाषा क्रमशः पंजाबी, गुजराती, बंगला, आसामी, जर्मन, रशियन, एवं चीनी है। कहीं–कहीं समुदाय के नाम पर भी भाषा का नामकरण होता है, जैसे– महाराष्ट्र में रहने वाले लोग मराठा कहलाते हैं और उनकी भाषा मराठी कही जाती है। इसी प्रकार अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी तथा तमिलों की भाषा तमिल कहलाती है।

स्वतन्त्रता से पूर्व पंजाब प्रान्त बहुत बड़ा था। उसका दो–तिहाई भाग पाकिस्तान में चला गया। शेष पंजाब के भी तीन भाग किये गये, जिसमें वर्तमान में हरियाणा, पंजाब, एवं हिमाचल प्रदेश सम्मिलित हैं।

वर्तमान समय में जाट समुदाय राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, तथा पंजाब में विद्यमान है। सम्भवतः इस समाज के लोग उमरकोट में भी रहते होंगे, तभी वहाँ की भाषा जाटी कहलाती होगी। उमरकोट के जाट समुदाय की भाषा में सिन्धी, तथा पंजाब–हरियाणा के जाट समुदाय में पंजाबी, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट समुदाय में हिन्दी का वर्चस्व होना स्वाभाविक है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्री देवचन्द जी की मातृभाषा जाटी रही होगी। यही कारण है कि श्री इन्द्रावती जी की आत्मा ने अपने आराध्य सद्गुरू का विरह जाटी भाषा में किया है।

मेरी सैयल रे, साह आए थे मेरे घर।

मैं पेहेचान ना कर सकी, पिउ चले पुकार पुकार।।१।।

मेरी सखी रतनबाई! मेरे प्राण प्रियतम मेरे घर आये थे। मेरी आत्मा को जाग्रत करने के लिये उन्होंने तारतम वाणी से बार–बार समझाया, किन्तु यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उनके स्वरूप की पहचान नहीं कर पायी। अन्ततोगत्वा, वे अन्तर्धान हो गये।

भावार्थ– बिहारी जी के द्वारा जाम राजा के मन्त्री के पास करायी गयी चुगली के कारण, श्री मिहिरराज जी को अपने दोनों भाइयों (श्यामल जी एवं उद्धव जी) के साथ हब्शे में नजरबन्द होना पड़ा था। वहाँ युगल स्वरूप (श्री राज श्यामा जी) ने उनके धाम हृदय में विराजमान होकर तारतम वाणी का अवतरण किया। प्रकाश एवं षटऋतु में श्री इन्द्रावती जी की सम्पूर्ण विरह–वेदना प्रकट हुई और उन्होंने अति मधुर स्वरों में श्री बिहारी जी को सम्बोधित करते हुए सब कुछ कह दिया। यही कारण है कि प्रकाश

ग्रन्थ में बार–बार बिहारी जी की आत्मा को "अपनी सखी" कहकर उन्होंने सम्बोधित किया है।

घर (गृह) का तात्पर्य होता है, जिसमें निवास किया जाये। उपरोक्त चौपाई के दूसरे चरण में "घर" का अभिप्राय सामीप्यता से है, क्योंकि श्री देवचन्द्र जी न तो कभी श्री मिहिरराज जी के पैतृक निवास पर रहे और न अन्तर्धान से पूर्व उनके शरीर में रहे। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि शरीर में जीव का निवास होने से शरीर को जीव का घर माना जाता है तथा पैतृक गृह (मकान) में शरीर का निवास होता है।

पिउ आए ना पेहेचाने, मोहे ना परी सुध।

वचन कहे जो हेत के, भांत भांत कई बिध।।२।।

यह मेरी भाग्यहीनता है कि मैं अपने प्राणेश्वर के पास

रहकर भी उनके स्वरूप की यथार्थ पहचान न कर सकी। मुझे जाग्रत करने के लिये उन्होंने अति प्रेमपूर्वक तारतम ज्ञान के अनेक वचनों से तरह–तरह से समझाया, किन्तु मुझे इसकी वास्तविकता समझ में नहीं आयी कि प्रियतम विशेष रूप से मुझे क्यों जगाना चाहते हैं?

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर अक्षरातीत को आगे की जागनी लीला करनी थी, इसलिये श्री इन्द्रावती जी की आत्मा की जाग्रति अनिवार्य थी।

नींद ऐसी भई निगोड़ी, ए तुम देखो रे सई।

दिन दो पोहोर जागते, मोहे काली रैन भई।।३।।

हे सखी! जरा देखो तो। माया की यह नींद इतनी निर्लज्ज हो गयी है कि इसने दिन की दोपहरी में भी मेरे

लिये भयंकर काली रात्रि का दृश्य उपस्थित कर दिया है।

भावार्थ– जिस प्रकार रात्रि के घने अन्धकार में कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार माया की नींद के प्रभाव से अपने सामने प्रत्यक्ष विद्यमान धाम धनी को श्री इन्द्रावती जी पहचान नहीं सकी। यद्यपि सदगुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा कथित तारतम ज्ञान का उजाला दोपहर के सूर्य के प्रकाश के समान जगमगा रहा था।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मात्र शाब्दिक ज्ञान से ही आत्म–जाग्रति नहीं होती, बल्कि उसके साथ अटूट विश्वास, श्रद्धा, प्रेम, एवं समर्पण का होना आवश्यक है।

घर आए ना पेहेचाने, कहे विध विध के वचन।

कान आंखां फूटियां, और फूटे हिरदे के नैन।।४।।

मैं बहुत लम्बी अवधि तक अपने प्रियतम की सान्निध्यता में रही और उन्होंने तारतम ज्ञान के प्रकाश में अनेक ग्रन्थों से मुझे समझाया , किन्तु मैं उनकी पहचान नहीं कर सकी। मैं ऐसी हतभाग्या (भाग्यहीन) थी कि उस समय मेरे कानों में बहरापन आ गया था , अर्थात् मैं उनकी बातों को सावधानी से नहीं सुन सकी। उस समय मेरी बाह्य आँखें तो फूटी ही थीं , हृदय की आन्तरिक आँखें भी फूटी थीं।

भावार्थ– बाह्य आँखों से बाह्य स्वरूप की ही पहचान होती है तथा हृदय के नेत्रों से आन्तरिक स्वरूप की। बाह्य तथा हृदय की आँखों के फूटे होने का आशय यह है कि बाह्य नेत्रों से श्री देवचन्द्र जी को अपने सदगुरू के

रूप में मानकर उनके प्रति अटूट निष्ठा एवं श्रद्धा रखकर उनके निर्देशों का पालन करना चाहिए था, तथा अन्तर्दृष्टि से श्री राज जी के स्वरूप की पहचान करके अपना सर्वस्व समर्पण करना चाहिए था, किन्तु इन दोनों ही क्षेत्रों में मैं पूर्णतया असफल रही।

सजन मेरा चल गया, अब रहूँगी विध किन।

वस्त गई जब हाथ थें, अब रोवना रात दिन।।५।।

मेरे प्रियतम इस संसार में मुझे अकेला ही छोड़कर चले गये। भला, अब मैं यहाँ कैसे रहूँगी? सर्वदा मेरे सम्मुख रहने वाले धाम धनी ही जब ओझल हो चुके हैं, तो अब दिन–रात रोने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है।

मैं तो तब ना उठ सकी, पिउ चले बखत जिन।

क्यों खोऊं धनी अपना, जो तब पकड़ों चरन।।६।।

जिस समय प्रियतम का अन्तर्धान हुआ, उस समय मैं माया की नींद को छोड़कर जाग्रत नहीं हो सकी। यदि मैं उस समय उनके चरण पकड़ लेती, तो सम्भवतः मेरे आराध्य मुझे छोड़कर नहीं जाते अर्थात् उनका धामगमन नहीं होता।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में "चरण पकड़ने" का भाव है, अटूट निष्ठा के साथ सर्वस्व समर्पण। यह कथन उस सन्दर्भ में कहा गया है, जब श्री मिहिरराज जी के अरब से लौटने पर सद्गुरू महाराज ने बालबाई के दबाब में उनका प्रणाम स्वीकार नहीं किया था, जिसके परिणामस्वरूप दोनों में ४ वर्ष का वियोग रहा। अपनी उसी भूल को प्रायश्चित के स्वरों में चरण न पकड़ने के

संकेत से दर्शाया गया है।

मूल स्वरूप ने जिस तन से जितने समय तक की लीला निश्चित की है, उतने ही समय तक लीला हो सकती है। यहाँ श्री इन्द्रावती जी ने विरह और प्रायश्चित के भावों में ही ऐसा कहा है कि यदि मैं उनके चरण पकड़ लेती, तो सम्भवतः वे अपने तन का त्याग नहीं करते। यह विशेष तथ्य है कि व्रज में ५२ दिन के रोष एवं वियोग लीला के बाद ही धाम धनी ने योगमाया में जाकर रास खेलने का निर्णय किया।

जो मैं तबहीं जागती, तो क्यों जावे मेरा पिउ।

क्यों छोड़ों खसम को, संग पिउ के मेरा जिउ।।७।।

यदि मैं उस समय जाग्रत होकर उनके स्वरूप की पहचान कर लेती, तो सम्भवतः वे मुझसे ओझल नहीं

होते। मेरा जीव पल–पल उनके साथ रहने का इच्छुक रहता है। भला मैं उनका साथ छोड़ कर वियोग का यह कष्ट क्यों सहन करना चाहूँगी?

भावार्थ– स्वभावतः कोई भी ब्रह्मात्मा अपने प्राणेश्वर से कभी भी अलग नहीं रहना चाहेगी, किन्तु मायावी नींद के प्रभाव में ही ऐसी लीला हुई।

अब तरफ दसो दिस देखिए, तो गेहेरे मोह के जल।

मेर जैसी लेहेरां मिने, मांहें मछ गलागल।।८।।

अब मैं दसों दिशाओं में जिधर भी देखती हूँ, उधर मोह का अथाह सागर दिखायी पड़ रहा है। इस मायावी सागर में सुमेरु पर्वत जैसी ऊँची–ऊँची तृष्णा रूपी लहरें उठा करती हैं। इसके गहरे जल में एक–दूसरे को निगल जाने वाली बड़ी–बड़ी मछलियाँ रहती हैं।

भावार्थ– दस दिशायें इस प्रकार है– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊपर, तथा नीचे।

जिस प्रकार छोटी मछली को बड़ी मछली निगल जाती है, उसी भांति तीनों प्रकार की तृष्णाओं – लोकेषणा (संसार में प्रतिष्ठा की इच्छा), वित्तेषणा (धन की कामना), तथा दारेषणा (सगे–सम्बन्धियों से मोह) – के बन्धन में फँसे हुए जीव धर्म की नकली चादर को अवश्य ओढ़े रहते हैं, किन्तु वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि विकारों से इतने ग्रसित हो जाते हैं कि दूसरों के अस्तित्व को समाप्त कर एकमात्र स्वयं का ही वर्चस्व चाहते हैं।

जल मांहें भमरियां, कई बिध तीखे तान।

कहूँ सुख नहीं साइत का, ए दुख रूपी निदान।।९।।

इस मोहजल रूपी सागर में बड़ी–बड़ी भँवरे हैं, जिनमें फँस जाने वाला व्यक्ति निकल नहीं पाता। लहरों के घर्षण से अनेक प्रकार की शुष्क ज्ञान रूपी ध्वनियाँ निकलती हैं। यह सारा संसार ही दुःखमयी है। यहाँ एक पल के लिये भी कहीं सुख नहीं है।

भावार्थ– नदी या सागर में जहाँ जल गोलाई में घूमता रहता है, वहाँ जाने पर किसी भी नौका के डूबने की सम्भावना रहती है। इसे ही भँवर कहते हैं। कर्मकाण्डों के जाल (भँवर) में फँसने वाला व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक नौका को डुबो देता है। इसलिये तारतम वाणी में कहा गया है–

पुलसरात कही खांडे की धार, गिरे कटे नहीं पावे पार।

बड़ा क्यामतनामा १/११

प्रेम लक्षणा भक्ति से रहित शुष्क हृदय से निकलने वाली ज्ञान की बातें भी शुष्क होती हैं। इन्हें ही इस चौपाई में "तीखे तान" कह कर सम्बोधित किया गया है।

एक घोर अंधेरी आंखां नहीं, और ठौर नहीं बुध मन।

विखम जल ऐसे मिने, पिउ आए मुझ कारन।।१०।।

मोह सागर के इस भयंकर जल में अज्ञानता रूपी रात्रि का ऐसा घना अन्धकार छाया हुआ है कि न तो आँखों से कुछ दिखायी पड़ रहा है और न मन या बुद्धि से सत्य के बारे में यथार्थ निर्णय लिया जा सकता है। ऐसी विकट स्थिति में मेरी आत्मा को जाग्रत करने के लिये स्वयं धाम धनी ने श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला की।

मांहें भभूके आग के, खाना अमल जेहेर अति जोर।

पिउ पुकारे कई विध, मैं उठी ना अंग मरोर।।११।।

इस मायावी जगत के जीवों के हृदय में विषयाग्नि की भयंकर अग्नि जल रही है। इन्द्रियों द्वारा, विष के समान कष्टकारी, विषय भोगों के सेवन में ही इनकी गहरी रुचि है। यद्यपि धाम धनी ने तारतम ज्ञान के द्वारा अनेक प्रकार से पुकारा, किन्तु मैं माया की नींद में इतनी गहराई से सोती रही कि अंगड़ाई लेते हुए उठ न सकी।

भावार्थ– जब किसी सोते हुए व्यक्ति को उठाया जाता है, तो वह अपने हाथ आदि अंगों को मरोड़ते हुए उठता है। इसे ही अंगड़ाई लेना कहते हैं। इस अवस्था में नींद का पूर्ण रूप से त्याग करने की भावना से वह शय्या का त्याग कर रहा होता है। इसका आशय यह है कि तारतम ज्ञान के प्रकाश में दृढ़ संकल्प लेकर संसार से अपना

ध्यान हटायें और अपने प्राणवल्लभ अक्षरातीत से प्रेम करें।

पिउ मेरा मुझ वास्ते, आए ऐसे में आप।

कई बिध जगाई मोहे, मैं कर ना सकी मिलाप।।१२।।

ऐसे विकट समय में मुझे जाग्रत करने के लिये मेरे प्राणधन श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान हुए। उन्होंने तारतम ज्ञान के द्वारा मुझे अनेक प्रकार से जगाया, किन्तु मैं पूर्ण पहचान के साथ उनसे प्रेम नहीं कर सकी।

अब कहा करूं कहां जाऊं, टूट गई मेरी आस।

कहां वतन कौन बतावे, पिउ ना देखूं पास।।१३।।

प्रियतम के ओझल हो जाने से मेरी सारी आशायें टूट

गयी हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं अब कहाँ जाऊँ और क्या करूँ? अब तो अपने प्राण जीवन को अपने पास जरा भी नहीं देख पा रही हूँ। उनके अभाव में भला अन्य कौन है, जो यह बताये कि मेरा मूल घर कहाँ है?

प्रकरण ।।७।। चौपाई ।।१८२।।

इस प्रकरण में श्री इन्द्रावती जी ने अपने प्राण जीवन अक्षरातीत के प्रति अपनी विरह व्यथा को प्रकट किया है।

पुकार चले मेरे पिउजी, मैं तो नींदई में उरझीए।

अब ढूंढे मेरा जीव रे, सो सजन अब कित पाइए।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राणेश्वर मेरी आत्मा को जाग्रत करने के लिये तारतम ज्ञान से पुकारते–पुकारते ओझल हो गये, किन्तु मैं ऐसी हतभाग्या हूँ कि मैं माया की नींद में उलझी (सोयी) रही और उनकी बातों पर ध्यान ही नहीं दे सकी। अब मेरा जीव उन्हें ढूँढ रहा है, किन्तु भला अब उन्हें कहाँ पाया जा सकता है?

भावार्थ– वियोगजनित दुःख से जब विवेक दृष्टि जाग्रत होती है, तो यह बोध होता है कि अपने प्राणवल्लभ से प्रेम

करना कितना मूल्यवान है?

आत्मा के साथ गुह्य (बातिनी) रूप में तो प्रियतम पल-पल साथ ही रहते हैं क्योंकि सागर की लहरों की भांति उनसे अलगाव हो पाना सम्भव नहीं है, किन्तु इस रहस्य को जीव समझ नहीं पाता और विरह में तड़पता है। जब तक आत्मा पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं हो जाती, तब तक जीव को आत्मा एवं परब्रह्म की अभेदता (एकरूपता, एकत्व, वहदत) का आभास नहीं हो पाता। यही कारण है कि श्री देवचन्द्र जी के तन को छोड़कर युगल स्वरूप वि.सं. १७१२ में ही श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान हो चुके हैं, किन्तु उन्हें इसका बोध नहीं है। हब्शे में माया की नींद टूटती है और उन्हें दिखायी देता है कि युगल स्वरूप से मैं कभी भी न तो अलग थी और न कभी अलग हो पाऊँगी। किन्तु

सुन्दरसाथ को विरह का रस देकर उन्हें जाग्रत करने के लिये ही विरह की ये बातें दर्शायी गयी हैं।

यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि वि.सं. १७१६ से पूर्व श्री इन्द्रावती जी का जीव विरह में तड़प ही रहा था। ठीक यही स्थिति श्री कृष्ण जी के विरह में १०० वर्ष तक तड़पने वाली प्रतिबिम्ब और वेद ऋचा सखियों की थी, जो विरह में तड़पती तो थीं, किन्तु उन्होंने स्वयं को कभी श्री कृष्ण जी से अलग नहीं माना तथा उद्धव जी को श्री कृष्ण जी से अपनी निकटता का अनुभव भी करा दिया।

सई रे पिउ की बातें मैं कैसे कहूं, मोसों आए कियो मिलाप।
मेरे वास्ते माया मिने, क्यों कर डारया आप।।२।।

हे सखी रतनबाई! अपने प्राणवल्लभ की प्रेम भरी बातों

का वर्णन मैं कैसे करूँ? मुझे जगाने के लिये वे स्वयं इस मायावी जगत में आकर मुझसे मिले। जरा देखो तो भला, मेरे लिये इस स्वप्नवत् जगत में उन्हें आने की क्या आवश्यकता थी?

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में प्रियतम के प्रेम को अति मधुर शब्दों में व्यक्त किया गया है कि मुझे जगाने के लिये उन्होंने संसार में मानव तन क्यों धारण किया?

आए वतन से पिउ अपना, देखाए के चले राह।

आधा गुन जो याद आवे, तो तबहीं उड़े अरवाह।।३।।

मेरे प्रियतम परमधाम से आये तथा तारतम ज्ञान से मूल घर की राह बताकर अन्तर्धान हो गये। यदि मुझे अपने प्राणाधार के द्वारा की गयी प्रेम भरी कृपाओं की आधी (थोड़ी सी) भी पहचान हो जाती, तो उसी क्षण

मेरी आत्मा उन से मिलने के लिये तन छोड़ देती।

भावार्थ– अक्षरातीत के हृदय में उमड़ने वाला प्रेम का सागर ही लीला रूप में जब इस संसार में ब्रह्मात्माओं को आनन्दित करता है, तो उसे "गुन" (गुण) कहते हैं। यहाँ गुण से तात्पर्य कोई मानवीय गुण (शील, सन्तोष, ज्ञान, विवेक, आदि) नहीं है, बल्कि अक्षरातीत का अनन्त प्रेम, लीला द्वारा, अनन्त गुण के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जिसकी गणना प्र. हि. के प्रकरण १२ में की गयी है। तारतम वाणी के ये कथन गुण के ऊपर प्रकाश डालते हैं–

गुन धनी के याद कर, पकड़ पिऊ के पाए।

प्र. हि. १६/२

सुन्दरसाथ जी ए गुन देखो रे, जो मेरे धनिएं किए अलेखे।

किरंतन ८१/१

गुन केते कहूं मेरे पिउजी, जो हमसों किये अनेक जी।

प्र. हि. ३६/१

उपरोक्त कथनों में "गुण करने" का प्रसंग है, जिसका आशय है, अपने हृदय का प्रेम समर्पित करना (लुटाना)।

साहेब चले वतन को, केहे केहे बोहोतक बोल।

धिक धिक पड़ो मेरे जीव को, जिन देख्या न आंखां खोल।।४।।

मेरे सर्वस्व, मेरे जीवन के आधार, धनी ने मुझे जाग्रत करने के लिये मेरे ऊपर तारतम ज्ञान की बहुत अधिक अमृत वर्षा की और अदृश्य हो गये। मेरे इस निष्ठुर जीव को धिक्कार है, जिसने अपनी अन्तर्दृष्टि को खोलकर उनके स्वरूप की पहचान नहीं की।

भावार्थ– यद्यपि "आँखें खोलना" एक मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है– सावधान हो जाना, किन्तु यहाँ

अन्तर्दृष्टि या विवेक दृष्टि खोलने का प्रसंग है।

सई रे अनेक भांत मोसों कही, मोहे सालत हैं सो बैन रे।
सो भी कह्या आंझू आन के, पर मैं पलक न खोले नैन रे।।५।।

हे सखी! मेरे प्राणधन ने मुझे जगाने के लिये अपनी आँखों में आँसू भरकर अनेक प्रकार से मुझे समझाया था, किन्तु उस समय मैं माया की इतनी गहरी नींद में सो रही थी कि मैंने अपने नेत्रों को जरा भी नहीं खोला, अर्थात् उनकी बातों पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया। अब मेरे प्राणेश्वर के प्रेम भरे वचन मेरे हृदय में चुभ रहे हैं कि अपनेपन के प्रेम से इस प्रकार मुझे अमृतमयी वचन सुनाने वाला अब कौन है?

आंखां पानी भर के, हाथ पकड़ किया सोर।

आग परो मेरे जीव को, जाको अजहूं एही मरोर।।६।।

मेरे आराध्य, मेरे सर्वस्व ने अपनी आँखों में पानी भरकर मेरा हाथ पकड़ा और तारतम ज्ञान से बहुत अधिक समझाया, किन्तु मेरे ऊपर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे इस निष्ठुर जीव को तो प्रायश्चित की अग्नि में जलकर राख हो जाना चाहिये, जो अभी भी अहंकार की दुर्गन्धि से निकल नहीं पाया है।

भावार्थ– "आँखों में पानी भरना" अपनेपन भरे गहन प्रेम का प्रतीक है तथा "शोर मचाने" का तात्पर्य बहुत अधिक ज्ञान चर्चा सुनाकर जाग्रत करने का प्रयास करना है।

सई रे अब मैं कहा करूं, मेरा हाल होसी बिध किन।

वतन बैठ सैयन में, क्यों कर करूं रोसन।।७।।

हे सखी! अब तुम्ही बताओ कि अब मैं क्या करूँ? परमधाम में जाग्रत होने पर सबके सामने मेरी स्थिति क्या होगी? मैं उस समय सब सुन्दरसाथ के समक्ष अपने इस अपराध को कैसे व्यक्त करूँगी?

अब सुनो रे तुम सैंयां, कहूं सो बीतक बात।

पानी तो पिउजी ले चले, अब तलफूं मछली न्यात।।८।।

हे सुन्दरसाथ जी! आप सभी मेरी बात सुनिए। मेरे साथ जो कुछ भी घटित हुआ है, उसे मैं आप सबको बता रही हूँ। प्रियतम के अन्तर्धान होते ही उनका प्रेम भरा सामीप्यता रूपी जल भी चला गया है, जिसके अभाव में मेरा हृदय मछली की भांति तड़प रहा है।

कर कर सोर जो वल्लभा, फिरे जो आप वतन।

चले जो मेरे देखते, केहे केहे अनेक वचन।।९।।

मेरे प्राणवल्लभ ने मेरी आत्मा को जाग्रत करने के लिये अनेक प्रकार के वचनों से मुझे प्रबोधित किया और निजधाम चले गये अर्थात् अन्तर्धान हो गये। उनके ओझल होने (धामगमन) की यह लीला प्रत्यक्षतः मेरी आँखों के सामने हुई।

भावार्थ– सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी तारतम ज्ञान के प्रकाश में कबीर, नरसी मेहता (नरसैंया), श्रीमद्भागवत्, तथा जाटी भाषा के कथनों से उन्हें समझाते थे। उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में कथित "अनेक वचन" का यही आशय है।

निजधाम जाने का तात्पर्य है, श्री देवचन्द्र जी का पञ्चभौतिक तन छोड़कर श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय

में विराजमान हो जाना। किन्तु माया की नींद के कारण श्री इन्द्रावती जी वि.सं. १७१५ तक इस रहस्य से अनभिज्ञ ही रहीं कि उनके प्राणेश्वर उनके धाम हृदय में आकर विराजमान हो गये हैं।

दुलहा मेरा चल गया, मेरी वले न जुबां यों।

पल पल वचन पिउ के, मोहे लगे कटारी ज्यों।।१०।।

अब तो अपने अपराध बोध से ग्रसित होने के कारण मेरे मुख से ये शब्द भी नहीं निकल पा रहे हैं कि मेरे धाम धनी अन्तर्धान हो गये हैं। अपने प्रियतम के प्रेम भरे वचनों की पल–पल याद में, विरहाग्नि के कारण, मुझे ऐसा लगता है कि किसी ने मेरे हृदय में कटार भोंक दी है।

भावार्थ– जब किसी व्यक्ति को अपने भयंकर अपराध

का बोध हो जाता है, तो प्रायश्चित की पीड़ा में वह मौन हो जाता है। इसे ही "जिह्वा का न हिलना" या "जबान का न चलना" कहते हैं। उपरोक्त चौपाई के दूसरे चरण का यही अभिप्राय है।

किसी के पवित्र एवं निश्छल प्रेम का तिरस्कार करते रहने पर अचानक ही जब उससे वियोग हो जाता है, तो अपनी भूल का अनुभव होने पर हृदय में प्रायश्चित की ऐसी पीड़ा उठती है कि उसकी उपमा छाती में कटार (छोटी तलवार) मारने से दी जाती है।

आग पड़ो तिन देसड़े, जित पिउ की नहीं पेहेचान।

तो भी सुध मोहे न भई, जो हुई एती हान।।११।।

आग लग जाये इस मायावी संसार में, जहाँ प्रियतम की पहचान ही नहीं हो पाती है। मेरी इतनी बड़ी हानि हुई कि

प्रियतम से मेरा वियोग ही हो गया, फिर भी माया के प्रभाव से मुझे वास्तविकता का बोध नहीं हो सका।

भावार्थ– किसी को निरर्थक समझकर फटकारने के भाव में "आग लगने" की बात कही जाती है।

पहचान न होने से अपने प्रेमास्पद के प्रति जो भूल हुई होती है और अपना प्रेम कलंकित प्रतीत होता है, उसका अनुभव होते ही हृदय में ऐसी पीड़ा होती है कि उसे व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं है। आगे की चौपाई में यही भाव दर्शाया गया है।

काट जीव टुकड़े करूं, मांहें भरूं मिरच लोंन।

ए दरद पिया इन भांत का, अब ए मेटे कौन।।१२।।

अब तो मेरे मन में एक ही इच्छा हो रही है कि अपने इस जीव के शरीर को तलवार से काटकर टुकड़े–टुकड़े

कर दूँ, तथा उसमें नमक और तीखी मिर्च (पिसी हुई) भर दूँ। मेरे अपराध का प्रायश्चित इसी प्रकार हो सकता है। मेरे हृदय में प्रियतम के वियोग की इतनी असह्य पीड़ा हो रही है कि उसे किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके अतिरिक्त भला अन्य कौन है, जो मेरी विरह–व्यथा को समाप्त कर सके।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में जीव के शरीर को काटने का प्रसंग है, जीव को नहीं, क्योंकि वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसे किसी भी अस्त्र–शस्त्र से काटा ही नहीं जा सकता। शरीर को काटकर उसमें नमक–मिर्च भरने की भावना विरह की पीड़ा को मात्र व्यक्त करने के लिये है, प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने के लिये नहीं। इस प्रकार का कार्य तमोगुण एवं रजोगुण से ग्रसित माना जायेगा, जो प्रेम के त्रिगुणातीत मार्ग के विपरीत है।

इसी प्रकरण की चौपाई १५, १६, १७ तथा २२ में भी इसी प्रकार के कथन हैं, जो शरीर की निरर्थकता के सम्बन्ध में भावात्मक रूप से मात्र इसलिये कहे गये हैं क्योंकि वह प्रेम की बलिवेदी पर न्योछावर नहीं हो सका।

आग लगी झाला उठियां, जीवरा जले रे मांहें।

तलफ तलफ मैं तलफूं, पर ठंडक न दारू क्यांहें।।१३।।

मेरे अन्दर विरह की ऐसी प्रचण्ड अग्नि लगी हुई है कि उसकी लपटें बाहर निकल रही हैं। उस भयंकर अग्नि में मेरा जीव जल रहा है। अब मैं अपने प्रियतम के वियोग में बारम्बार तड़प रही हूँ, किन्तु इस विरहाग्नि को बुझाने के लिये मेरे पास ऐसी कोई भी दवा नहीं है जिससे मेरे हृदय में शीतलता का अनुभव हो सके।

दुलहासों जो मैं करी, ऐसी करे न दूजा कोए।

विलख विलख पिउजी चले, पर मैं मूंदी आंखां दोए।।१४।।

मैंने अपने प्राणधन अक्षरातीत के साथ जिस प्रकार रूखेपन का व्यवहार किया है, ऐसा तो कोई भी पतिव्रता स्त्री नहीं कर सकती। मेरी आत्मा को जगाने के लिये मेरे प्रियतम अत्यन्त करुण स्वर में ज्ञान चर्चा सुनाते–सुनाते चले गये, किन्तु मैं इतनी निष्ठुर बनी रही कि मैंने अपनी दोनों आँखों को बन्द कर उनकी ओर देखना भी उचित नहीं समझा, अर्थात् उनकी अमृतमयी वाणी को अत्यधिक उपेक्षापूर्वक सुनती रही। मैंने यह भी ध्यान नहीं दिया कि ऐसा कहने वाले स्वयं अक्षरातीत हैं।

द्रष्टव्य– सम्पूर्ण बीतक में श्री देवचन्द्र जी के द्वारा विलख–विलखकर रोने का प्रसंग नहीं है। इस प्रकार का कथन आलंकारिक भाषा में व्यक्त किया गया है। इसका

आशय यह है श्री मिहिरराज जी को जाग्रत करने के लिये सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने अत्यधिक प्रेम भरी , करूण, एवं मधुर भाषा में ज्ञान चर्चा की। जब श्री मिहिरराज कला जी के यहाँ मन्त्री पद सम्भाल रहे थे, उस समय सद्गुरु महाराज ने उन्हें बुलाने के लिये बिहारी जी और बाल बाई को बार–बार भेजा। उस अवस्था में सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी का हृदय श्री मिहिरराज जी के प्रति अति करूणा , दया, एवं प्रेम से भरपूर था। उपरोक्त चौपाई में इसी की उपमा विलख –विलख कर रोने से दी गयी है।

अब क्यों करूँगी मैं बातड़ी, सामी क्यों उठाऊँगी मोंह।
मेरे हाथ ऐसी भई, खलड़ी उतारूँ सिर नोंह।।१५।।

अब परमधाम में जाग्रत होने के पश्चात् अपने प्रियतम से

मैं किस प्रकार बातें करूँगी? अपने ही अपराध बोध से दबी होने के कारण, मुझमें इतना भी साहस नहीं है कि धाम धनी के सम्मुख मुख उठाकर देख सकूँ। मेरे द्वारा प्रियतम के प्रेम की अवमानना (निरादर) हुई है। इसके प्रायश्चित के लिये मेरे मन में यही बात आती है कि अपने पैरों के नखों से लेकर शिर तक की त्वचा को उधेड़ दूँ।

विशेष– अध्यात्म जगत में प्रायश्चित के लिए मानसिक दण्ड ही उचित होता है, जो साधना (ध्यान, प्रेम, सेवा, आदि) के द्वारा सम्पादित होता है। जीते जी अपने शरीर की त्वचा को उधेड़ना, हिंसा कर्म के अन्तर्गत माना जायेगा, जो किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। किन्तु विरह की गहन पीड़ा में ऐसी अभिव्यक्ति हो ही जाती है।

काटूं तन तरवारसों, भूक करूँ हड्डियां तोर।

खलड़ी उतारूँ पेहेले उलटी, जीव काढूं यों जोर।।१६।।

अपने इस शरीर को तलवार से टुकड़े–टुकड़े काट डालूँ तथा अपनी हड्डियों को तोड़कर (पीसकर) उनका चूर्ण बना डालूँ। उल्टी दिशा से, अर्थात् पैर की ओर से, अपने शरीर की सम्पूर्ण त्वचा को उधेड़ (छील) दूँ। इस प्रकार मैं बलपूर्वक अपने जीव को इस शरीर से बाहर निकाल दूँ, तभी मेरे अपराधों का प्रायश्चित हो सकेगा।

तरवार भाले कटारियां, मोहे काट करी टूक टूक।

मेरे अंग हुए मुझे दुस्मन, जीव करे मिने कूक।।१७।।

प्रायश्चित की अग्नि में मुझे अपने ही शरीर के सभी अंग घोर शत्रु के रूप में दिखायी पड़ रहे हैं। मेरे मन में तो यही बात आ रही है कि तलवारों, भालों, तथा कटारियों

से अपने शरीर को काट–काट कर टुकड़े–टुकड़े कर दूँ। अपने पाप भरे अपराधों के बोझ से दबा हुआ मेरा यह जीव, प्रायश्चित के स्वरों में धाम धनी को पुकार रहा है।

धाम धनी पेहेचान के, सीधी बात न करी सनमुख।

कबूं दिल धनी का मैं न रख्या, अब क्यों सहूँगी ए दुख।।१८।।

सद्गुरु रूप में पधारे अपने प्रियतम के स्वरूप की पहचान करके, उनके सामने बैठकर, न तो मैंने कभी प्रेमपूर्वक बातें की और न कभी उनके हृदय से उमड़ने वाले प्रेम का प्रत्युत्तर ही दिया। अपने इस अपराध के कारण होने वाले हार्दिक कष्ट को मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि कैसे सहन करूँ?

दरद मीठा मेरे पिउ का, ए जो आग दई मुझे तब।

अति सुख पाया मैं इनमें, सो मैं छोड़ ना सकों अब।।१९।।

अरब से लौटने के पश्चात् (वि.सं. १७०८–१७१२), मुझे चार वर्षों तक प्रियतम के विरह का कष्ट झेलना पड़ा। अनुभूति के स्तर पर उसका रस बहुत ही मीठा था। मुझे उसमें बहुत ही आनन्द मिला। इसलिये अन्तर्धान के पश्चात् अब जो मुझे विरह का कष्ट मिल रहा है, उसे मैं किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ सकती।

भावार्थ– विरह के पश्चात् मिलन की घड़ियाँ बहुत ही मधुर होती हैं। बाल बाई तथा बिहारी जी की चुगली एवं दबाव के कारण सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने श्री मिहिरराज जी का प्रणाम स्वीकार नहीं किया, जिसके परिणामस्वरूप श्री मिहिरराज जी को चार वर्षों तक विरह का ताप झेलना पड़ा। किन्तु १७१२ में सद्गुरु महाराज

के निर्देश पर बिहारी जी एवं बाल बाई को बार–बार उन्हें बुलाने के लिये जाना पड़ा। अन्ततोगत्वा दोनों का मधुर मिलन हुआ और सद्गुरु महाराज ने श्री मिहिरराज को २२ दिनों तक अपने पास रखकर अति प्रेमपूर्वक गुह्यतम ज्ञान की अमृत वर्षा की।

यद्यपि प्रियतम के अन्तर्धान के बाद का विरह श्री मिहिरराज जी के हृदय को बहुत पीड़ित कर रहा है, किन्तु उन्हें विश्वास है कि इसका परिणाम अच्छा ही होगा। आगे की चौपाई में भी ऐसा ही प्रसंग है।

ऐता सुख तेरे सूल में, तो विलास होसी कैसा सुख।
पर मैं न पेहेचाने पिउ को, मोहे मारत हैं वे दुख।।२०।।

मेरे प्राणेश्वर! आपके विरह में तड़पने पर जब इतने मधुर आनन्द का अनुभव (अहसास) हो रहा है, तो मिलने के

पश्चात् प्रेम की अनुभूति का आनन्द कैसा होगा? मुझे तो कष्ट केवल इसी बात को लेकर है कि जब आप मेरे सामने प्रत्यक्ष रूप से लीला कर रहे थे, उस समय मैं आपको पहचान नहीं पायी।

सब अंग मेरे टुकड़े करूं, भूक करूं देह जिउ।

सो वार डारूँ तुम दिस पर, इत सेवा हुई कहां पिउ।।२१।।

यदि मैं आपकी सेवा में अपने जीव के इस शरीर के एक–एक अंग के टुकड़े कर दूँ तथा इस शरीर को महीन चूर्ण बनाकर आपके प्रति न्योछावर कर दूँ, तो भी मैं यही मानती हूँ कि मैंने अभी कुछ भी सेवा नहीं की है।

विशेष– अक्षरातीत की महिमा अनन्त है। हम उनसे कितना भी प्रेम करें या सेवा करें, उसे पूर्ण नहीं समझा जा सकता।

हड्डियां जारूँ आग में, मांहें मांस डारूँ सिर।

ए भूली दुख क्योंए न मिटे, ए समया न आवे फिर।।२२।।

अपने अपराधों के प्रायश्चित स्वरूप, यदि मैं अपने शरीर की अस्थियों (हड्डियों) को अग्नि में जलाकर राख कर दूँ तथा अपने शरीर के सम्पूर्ण माँस और शिर को भी भस्म कर दूँ, तो भी यह पूर्ण प्रायश्चित नहीं हो सकता। मैं यह अच्छी तरह से जानती हूँ कि प्रियतम को प्रत्यक्ष रूप से रिझाने का जो अवसर मैंने खो दिया है, वह पुनः कभी भी इस संसार में प्राप्त होने वाला नहीं है। मेरे हृदय में हमेशा ही अपनी इस भूल का दुःख बना रहेगा।

जरा जरा मेरे जीव का, विरहा तेरा करत।

चरनें ल्यो इंद्रावती, पेहेले जगाए के इत।।२३।।

मेरे प्राण वल्लभ! आपके विरह में मेरे जीव के इस शरीर

का रोम–रोम तड़प रहा है। पहले आप मुझ इन्द्रावती को जाग्रत कीजिए। तत्पश्चात् अपने चरणों की छत्रछाया में रखिए।

भावार्थ– पूर्व में जाग्रत न होने के कारण ही इस प्रकार की भूल हो चुकी है। इसलिये श्री इन्द्रावती जी ने धाम धनी से प्रेम भरा आग्रह किया है कि पहले मुझे जाग्रत कीजिए, जिससे मैं कभी भी स्वयं को आपसे अलग न देखूँ।

प्रकरण ।।८।। चौपाई ।।२०५।।

चौपाई प्रगटी है

यद्यपि सम्पूर्ण तारतम वाणी ही श्री राज जी के आवेश द्वारा प्रकट हुई है, किन्तु इस प्रकरण के शीर्षक "चौपाई प्रकटी है" का अभिप्राय यह है कि इसमें आत्म–जाग्रति के लिये विशेष रूप से सावचेत किया गया है। अर्थात् सुन्दरसाथ को आत्म–जाग्रति हेतु तन्मय (तल्लीन) हो जाने के लिये धाम धनी ने ये चौपाइयाँ कही हैं। हे साथ जी! अब मैं आपसे अपने कुछ विचार कहती हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनिए।

एक लवो याद आवे सही, तो जीव रहे क्यों काया ग्रही।
अब सुनियो साथ कहूँ विचार, भूले आपन समें निरधार।।१।।

श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर प्रियतम अक्षरातीत ने जो वचन कहे हैं, उनकी रंच मात्र

भी यदि हमें याद आ जायें, तो भला हमारा यह जीव इस शरीर से बँधकर कैसे रह सकता है? निश्चित रूप से हम इस समय अपने धाम धनी को भूले हुए हैं।

गयो अवसर फेर आयो है हाथ, चेतन कर दिए प्राणनाथ।
तब जो वासना बाई रतन, लीलबाई के उदर उतपन।।२।।

जब हमारे प्राण वल्लभ सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के रूप में लीला कर रहे थे, उस समय उनकी पहचान करने का सुनहरा अवसर हमने खो दिया। अब पुनः हमें वह स्वर्णिम अवसर प्राप्त हो गया है क्योंकि वही धाम धनी श्री देवचन्द्र जी का तन छोड़कर मेरे धाम हृदय में विराजमान हो गये हैं और उन्होंने अपनी तारतम वाणी से सबको सचेत कर दिया है। उस समय श्री देवचन्द्र जी की धर्मपत्नी लीलबाई के तन से उत्पन्न होने वाले

बिहारी जी में परमधाम की रतनबाई की आत्मा थी।

भावार्थ– अज्ञानता की नींद में सोने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्य पथ से भटका होता है। उसे ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही सावचेत (सतर्क, सावधान) किया जाता है। इसे ही उपरोक्त चौपाई में "चेतन कर दिए" कहा गया है, जिसका भाव है, अज्ञानमयी निद्रा के प्रभाव से आयी हुई जड़ता को छोड़कर आत्म–जाग्रति के मनोहर पथ पर चलना।

श्री देवचंदजी पिता परवान, देख के आवेस दियो निरवान।
वचन धनी के कहे निरधार, आवेस पिउजी को है अपार।।३।।

श्री देवचन्द्र जी बिहारी जी के पिताश्री हैं। श्री देवचन्द्र जी के अन्दर श्यामा जी की आत्मा को पहचानकर, श्री राज जी अपने आवेश स्वरूप से उनके हृदय में

विराजमान हुए। इस कथन में कोई भी संशय नहीं है। प्रियतम अक्षरातीत के कहे हुए तारतम के वचनों (वाणी) में भी यह बात निश्चित रूप से दर्शायी गयी है कि श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान आवेश स्वरूप श्री राज जी की शक्ति अपार है।

भावार्थ– स्वलीला अद्वैत परमधाम के एकत्व (वहदत) में ऐसी विशेषता है कि वहाँ के कण–कण में श्री राज जी का ही स्वरूप नजर आता है। इसके साथ ही अनन्त परमधाम भी श्री राज जी के हृदय से प्रकट हुआ माना जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अक्षरातीत के आवेश स्वरूप को मात्रा के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता।

क्या आज तक किसी भी विद्वान ने महत्तत्व से उत्पन्न होने वाले मन, चित, बुद्धि, तथा अहंकार का परिमाण (वजन एवं आकृति) बताया है? क्या उससे भी सूक्ष्म

जीव की आकृति, भार, या माप को बुद्धि से व्यक्त किया जा सकता है?

परात्म की दृष्टि (नजर, सुरता) ही इस संसार में आत्मा के रूप में, जीव पर बैठकर, इस खेल को देख रही है। तारतम वाणी के प्रकाश में हम जानते हैं कि आत्मा का स्वरूप परात्म के प्रतिबिम्ब के रूप में है। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी का कथन है–

सिफत ऐसी करी मोमिन की, जाके अक्स का दिल अर्स।
हक सुपने में भी संग कहे, रूहें इन विध अरस परस।।

क्या कोई आत्मा का भार बता सकता है? बाह्य आँखों से अदृश्य होते हुए भी आत्मा, परात्म का श्रृंगार लिये, वैसे ही विद्यमान रहती है, जैसे स्वप्न में मन की तरंगों में द्रष्टा की सम्पूर्ण आकृति विद्यमान होती है।

इसी प्रकार अक्षरातीत का आवेश भी इतना सूक्ष्म है कि

इस ब्रह्माण्ड के किसी भी माप से उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में यह कहना बहुत ही हास्यास्पद है कि महामति जी में अधिक आवेश आया, इसलिये वे अक्षरातीत कहलाये, तथा नानक जी, कबीर जी, एवं शुकदेव आदि में थोड़ा आवेश आया, जिससे वे अक्षरातीत नहीं कहला सके।

प्रश्न यह है कि अक्षरातीत के आवेश की कितनी मात्रा आने से कोई अक्षरातीत कहलायेगा तथा कितनी मात्रा आने से कोई सन्त या ईश्वरी सृष्टि कहलायेगा?

जब त्रिगुणात्मक मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार के परिमाण (माप, तोल, आदि) को मानवीय बुद्धि से व्यक्त नहीं किया जा सकता, जबकि ये प्रकाशमयी हैं, तो सर्वथा चैतन्य एवं त्रिगुणातीत आत्मा और अक्षरातीत के आवेश का परिमाण (मात्रा और भार) किस पैमाने से

मापा जा सकता है?

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि इस चौपाई में श्री देवचन्द्र जी के अन्दर अपार आवेश का वर्णन नहीं है, बल्कि आवेश की अपार शक्ति का वर्णन है।

इन बानिऐं ब्रह्मांड जो गले, तो वासना वानी से क्यों पीछी टले।

वासना कारन बांधे बंध, कई भांते अनेक सनंध।।४।।

जब तारतम वाणी के उजाले में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक परब्रह्म के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण की राह पर चलेगा, तो परमधाम की आत्मायें भला इस ब्रह्मवाणी को आत्मसात् करने में पीछे क्यों रहेंगी? परमधाम की आत्माओं के लिये ही धाम धनी ने अनेक प्रकार के बन्ध बाँधे हैं।

भावार्थ– जल का घनीभूत रूप बर्फ जब पिघलता (गलता) है, तो वह द्रव्य रूप में प्रवाहित होता है। इसी

प्रकार तारतम वाणी के तेज से माया में फँसे हुए जीव, एक परब्रह्म के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण का भाव लेकर अपने को कृतार्थ करेंगे। इसे ही तारतम वाणी से गलना कहा गया है।

तारतम वाणी में बन्ध बाँधने का प्रसंग इस प्रकार है–

बंध पर बंध दिये विध विध के, सो खोली किनहूं न जाई।

किरंतन ५/२

बांधत बंध आपको आपे, न समझे माया को मरम।

किरंतन ४/४

जिन थंभो कर धनी अपने, जुगतें दिये बंध।

प्र. हि. २३/६

बन्ध दो प्रकार के होते हैं–

१. जो माया के बन्धनों को और अधिक दृढ़ कर देते

हैं। उदाहरण एक तथा दो में यही बात दर्शायी गयी है।

२. जो माया रूपी नदी के प्रवाह को रोकने के लिये बनाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत सत्य (धर्म) के शाश्वत सिद्धान्तों के पालन करने का बन्ध (नियम) बाँधा जाता है, जिससे मायावी नदी की भयंकर बाढ़ से रक्षा की जाती है।

उपर्युक्त चौपाई में मूल सम्बन्ध (निस्बत), अटूट विश्वास (ईमान), तथा अनन्य प्रेम (इश्क) के विशेष बन्ध हैं, जिसके कारण तारतम वाणी का वास्तविक रस मात्र ब्रह्मसृष्टि ही ले पाती है। जीव सृष्टि तो उसकी सुगन्धि के बोझ को भी पूर्ण रूप से वहन नहीं कर पाती।

ए बानी कही मेरे धनी, आगे कृपा होसी घनी।
हरखें साथ जागसे एह, रेहेसे नहीं कोई संदेह।।५।।

मेरे प्राण प्रियतम अक्षरातीत ने मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर इस तारतम वाणी को कहा है। मेरे हृदय से यही आवाज आ रही है कि भविष्य में धाम धनी की हमारे ऊपर बहुत अधिक कृपा होगी, अर्थात् परमधाम का ज्ञान "तारतम का तारतम" (खिल्वत, परिक्रमा, सागर, एवं श्रृंगार) के रूप में अवतरित होगा, जिससे सुन्दरसाथ के मन में किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहेगा और वे प्रसन्नतापूर्वक जाग्रत हो जायेंगे।

साथ को घरों ले जाना सही, कोई माया में ना सके रही।
खैंचे सबों को ए बानी, फिरसी घरों धनी पेहेचानी।।६।।

धाम धनी का मुख्य उद्देश्य यही है कि कोई भी सुन्दरसाथ इस मायावी जगत् में फँसा न रहे, बल्कि वह जाग्रत होकर अपने मूल घर (परमधाम) की ओर लौटें।

परमधाम की यह तारतम वाणी सभी आत्माओं को अपनी ओर खींचती है। इसी को आत्मसात् करके सुन्दरसाथ अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की पहचान करेंगे और निजधाम में अपनी परात्म में जाग्रत हो जायेंगे।

भावार्थ– जब तक जागनी लीला चलती रहेगी, तब तक सुन्दरसाथ चितवनी के द्वारा परमधाम, युगल स्वरूप, तथा अपनी परात्म को देखते रहेंगे, किन्तु जागनी लीला की समाप्ति के पश्चात् सभी एकसाथ अपनी परात्म में जाग्रत हो जायेंगे। दोनों स्थितियों को घर लौटने की संज्ञा दी जा सकती है।

परमधाम में एकत्व होने के कारण परात्म में जागनी एक ही साथ होगी। परन्तु अपनी परात्म और युगल स्वरूप का साक्षात्कार करने वाली ब्रह्मात्मा जाग्रत कही जाती है तथा उसका इस पिण्ड–ब्रह्माण्ड से नाममात्र का ही

औपचारिक सम्बन्ध रहता है, इसलिये उसे भी घर लौटने की शोभा दी जाती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि परात्म में जाग्रति की अवस्था में सुरता (आत्मा) उसमें प्रविष्ट हो जायेगी, जबकि आत्मा की जाग्रत अवस्था में वह शरीर तथा संसार से अपनी अन्तर्दृष्टि हटाकर परमधाम, युगल स्वरूप, तथा परात्म को देखती रहती है। इस सम्बन्ध में किरंतन ९/४ में कहा गया है–

लगी वाली कछू और ना देखे, पिंड ब्रह्माण्ड वाको है री नाहीं।
वह खेले प्रेमें पार पिया सो, देखन को तन सागर मांहीं।।

भी वाही चरचाने वाही बान, वचन केहेते जो परवान।
बृज रास श्रीधाम के सुख, साथ को केहेते जो श्रीमुख।।७।।

जिस प्रकार मेरे प्राणवल्लभ श्री राज जी श्री देवचन्द्र जी

के धाम हृदय में विराजमान होकर व्रज, रास, तथा परमधाम के सुखों का वर्णन सुन्दरसाथ को सुनाया करते थे, वैसे ही अब वे मेरे धाम हृदय में विद्यमान होकर निश्चित रूप से वैसी ही वाणी चर्चा (व्रज, रास, तथा परमधाम की) के अमृतमयी वचन सबसे कह रहे हैं।

पख पचीस वरनवे जेह, भी सुख वल्लभ देवे एह।

अंतरध्यान समे ज्यों भए, भी आए वचन पिया सोई कहे।।८।।

जिस प्रकार धाम धनी अपने पहले (श्री देवचन्द्र जी के) तन से परमधाम के २५ पक्षों की शोभा का वर्णन करके सुन्दरसाथ को सुख दिया करते थे, वैसे ही अब मेरे तन से दे रहे हैं। रास में अन्तर्धान लीला के पश्चात् वे पुनः प्रकट हो गये थे। वैसे ही अब वे अपने पहले वाले तन से अन्तर्धान होने के पश्चात्, मेरे इस तन में प्रकट हो

गये हैं तथा पूर्व की तरह ही तारतम वाणी के अमृतमयी वचन सुना रहे हैं।

पेहेले फेरे हुआ है ज्यों, भी इत पिया ने किया हैं त्यों।
सोई पिया और सोई दिन, देखो तारतम के वचन।।९।।

इस नश्वर जगत् में पहली बार व्रज में आने के पश्चात्, जिस प्रकार धाम धनी ने रास में जाने पर अन्तर्धान के पश्चात् पुनः दर्शन देने की लीला की थी, उसी प्रकार इस जागनी ब्रह्माण्ड में भी पहले तन से लीला करने के बाद अब दूसरे तन (श्री मिहिरराज) से लीला कर रहे हैं। हे साथ जी! यदि आप तारतम वाणी के वचनों का विचार करके देखें, तो यह स्पष्ट होगा कि इस समय हमारे साथ लीला करने वाले वे ही व्रज–रास वाले धाम धनी हैं तथा वही समय भी है।

भावार्थ– कालमाया के ब्रह्माण्ड में अब हम दूसरी बार आये हैं। इसके पहले व्रज में आये थे, जबकि अन्तर्धान लीला रास मण्डल में हुई थी। इस प्रकार, यहाँ "पेहेले फेरे" का तात्पर्य रास मण्डल से लिया जायेगा।

उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में कथित "दिन" का तात्पर्य खेल की उस अवधि से है, जिसके अन्तर्गत व्रज, रास, एवं जागनी लीला सम्पादित हुई है।

सोई घड़ी ने सोई पल, मायाऐं बीच डारयो वल।

साथ को खिन न्यारे ना करे, बिना साथ कहूं पांउ ना धरे।।१०।।

इस समय भी वही घड़ी (मुहूर्त) तथा पल है जो परमधाम से इस खेल में आते समय था, किन्तु इस माया ने हमारे और धनी के बीच में ऐसा पर्दा (आवरण) कर दिया है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे हमारे सम्मुख

हैं ही नहीं। अन्यथा प्रियतम तो हमें अपने से क्षण भर के लिये भी अलग नहीं कर सकते और न हमारे बिना कहीं जा ही सकते हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई को पढ़कर उन सुन्दरसाथ को अपनी उस विचाराधारा में परिवर्तन करना चाहिये, जो यह मानते हैं कि परमधाम से न तो सखियाँ आयी हैं और न राज जी। श्री राज जी के रूप में मात्र उनका जोश (जिबरील) ही आया है।

प्रश्न यह है कि यदि केवल जोश ही आया है, तो क्या वही हमारी एवं श्यामा जी की आत्मा का प्रियतम है? क्या इश्क रब्द हमने जिबरील के साथ किया था? क्या तारतम वाणी की किसी भी चौपाई में यह दर्शाया गया है कि ब्रह्मात्माओं के साथ जिबरील का अखण्ड मूल सम्बन्ध है और वह मूल मिलावे में भी हमारे साथ है?

यदि नहीं तो यह स्पष्ट है कि जोश (जिबरील) से भिन्न ही अक्षरातीत का स्वरूप है, जो आवेश रूप में श्री देवचन्द्र जी को दर्शन देता है तथा उनके धाम हृदय में प्रियतम के रूप में विराजमान होकर जागनी लीला करता है।

बेर ना हुई एक अधखिन, किया मायाऐं बिछोहा घन।
मारकंड माया द्रष्टांत, मांगी धनी पे करके खांत।।११।।

यद्यपि परमधाम में आधे क्षण की भी देरी नहीं हुई है, किन्तु माया ने हमारे और धाम धनी के बीच वियोग की बहुत लम्बी अवधि कर दी है। इस घटनाक्रम को श्रीमद्भागवत् स्कन्ध १२ अध्याय ९,१० में वर्णित मार्कण्डेय ऋर्षि के द्वारा माया देखे जाने के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। हमने भी उन्हीं की तरह बहुत

अधिक चाहना के साथ अपने धनी से माया का खेल देखने की इच्छा की थी।

देखो माया को वृतांत, ए दूर होए तो पाइए स्वांत।
ततखिन कंपमान सो भयो, माया मिने भिलके गयो।।१२।।

हे साथ जी! माया की वास्तविकता को तो देखिए। इससे दूर (अलग) होने पर ही शान्ति पायी जा सकती है, लिप्त होकर नहीं। जैसे ही मार्कण्डेय ने नारायण जी से माया का खेल माँगा, उसी क्षण वे दुःख की आशंका के भय से काँपने लगे और उनकी दृष्टि मायावी दृश्यों को देखने में संलग्न हो गयी।

कल्पांत सात छियासी जुग, कियो मायाऐं बेसुध एते लग।
कछुए ना भई खबर, अति दुख पायो रिखीस्वर।।१३।।

माया ने उन्हें इतना बेसुध (भ्रमित) किये रखा कि सात कल्प और ८६ युग व्यतीत हो गये। इतने समय तक उन्हें अपने स्वरूप का नाम मात्र भी भान (बोध) नहीं हुआ। इस प्रकार ऋषिराज मार्कण्डेय जी माया के दुःखमयी दृश्यों को देखने में तल्लीन रहे।

भावार्थ– एक कल्प में ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं। एक चतुर्युगी, अर्थात् चार युग, में ४३ लाख २० हजार वर्ष होते हैं। इस प्रकार एक कल्प में १००० चतुर्युगियाँ होती हैं।

इस चौपाई के कथन का आशय यह है कि मार्कण्डेय ऋषि ने नारायण जी की छत्रछाया में ७ कल्प और ८६ चतुर्युगी तक माया के विभिन्न दृश्यों को देखा।

यह विशेष तथ्य है कि ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों में पृथ्वी सहित सम्पूर्ण सौर मण्डल का प्रलय हो जाता है,

एक कल्प आदिनारायण के एक दिन के बराबर होता है। इस प्रकार ७ कल्पों एवं ८६ चतुर्युगी का दृश्य उन्होंने आदिनारायण के हृदय में देखा। यह प्रसंग श्रीमद्भागवत् १२/९/२६-३० में वर्णित है।

तब नारायनजीऐं कियो प्रवेस, देखाई माया लवलेस।

फिरी सुरत आए नारायन, याद आवते गए निसान।।१४।।

तब नारायण जी ने अन्तर्मन (हृदय में) प्रवेश किया तथा माया की नींद को समाप्त कर दिया। भगवान नारायण का साक्षात्कार होते ही मार्कण्डेय जी की सुरता (चित्त वृत्ति) माया के दृश्य से हट गयी और उन्हें पूर्व की सभी स्मृतियाँ याद आने लगीं। इस प्रकार उन्होंने ७ कल्प ८६ चतुर्युगी के विशाल समय में भी माया का थोड़ा ही अंश देखा।

भावार्थ– श्रीमद्भागवत् १२/९/३२ में कहा गया है कि "अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यांधिष्ठितं हृदि" अर्थात् नारायण नेत्रों के माध्यम से उनके हृदय में विराजमान हो गये थे। इस आधार पर उपरोक्त चौपाई में "प्रवेश करने" का तात्पर्य हृदय मन्दिर में प्रवेश करने से है।

याद आया सरूप बैठा जांहें, तब उड़ गई माया जानों हती नांहें।
जाग देखे तो सोई ताल, बीच मायाएँ कियो ऐसो हाल।।१५।।

जब उन्हें इस बात की याद आयी कि मैं तो इस शरीर से कहीं गया ही नहीं था बल्कि अपने आश्रम में ही बैठा रहा हूँ, तो सभी मायावी दृश्य वैसे ही उड़ गये जैसे कुछ हुआ ही नहीं था। जाग्रत होने पर उन्हें अपना वही ताल दिखायी पड़ा जिसके किनारे उनका आश्रम था। माया का खेल देखने की उनकी लालसा ने उनकी ऐसी बुरी

स्थिति कर दी थी।

भावार्थ– श्रीमद्भागवत् में ताल के स्थान पर पुष्पभद्रा नदी का वर्णन है। प्रायः नदी के जल से तालों (बृहद् तलाबों) का निर्माण हो जाया करता है।

यह घटनाक्रम स्वप्न देखने जैसा है। जिस प्रकार हम स्वप्न के अति अल्प समय में सैकड़ों–हजारों वर्ष का दृश्य देख लेते हैं, उसी प्रकार मार्कण्डेय ऋषि ने नारायण जी के वरदान के प्रभाव से ७ कल्प और ८६ चतुर्युगियों का ऐसा दृश्य देखा, जिसमें वे स्वयं संलग्न थे। जाग्रत होने पर उन्हें यह सारा दृश्य मिथ्या प्रतीत हुआ।

ठीक यही स्थिति उन ब्रह्मसृष्टियों की भी है, जो अपने प्रियतम से माया का खेल माँगकर उसे देखने की इच्छा से आयी हैं और स्वयं को, निज घर को, तथा अपने धाम धनी को भूल गयी हैं। उन्हें जाग्रत करने के लिये

स्वयं अक्षरातीत तारतम ज्ञान लेकर श्री महामति जी के धाम हृदय में प्रकट हुए हैं।

माया की तो एह सनंध, निरमल नेत्रे होइए अंध।

ता कारन कियो प्रकास, तारतम को जो उजास।।१६।।

इस मायावी जगत की यही वास्तविकता है जिसमें ज्ञान, विवेक, वैराग्य, आदि की पवित्र दृष्टि रखने वाले मार्कण्डेय जैसे महान ज्ञानी और तपस्वी ऋषि भी स्वयं को भूल जाते हैं। यही कारण है कि प्रियतम अक्षरातीत हमें माया के इस भयानक अन्धकार से निकालने के लिये तारतम ज्ञान का अलौकिक उजाला लेकर आये हैं।

सो ए लेके आए धनी, दया आपन ऊपर है घनी।

जाने देखसी माया न्यारे भए, तारतम के उजियारे रहे।।१७।।

हम सब सुन्दरसाथ पर प्रियतम श्री राज जी की प्रेम भरी अपार कृपा है, इसलिये वे हमारे लिये तारतम ज्ञान का प्रकाश लेकर आये हैं। यदि हम तारतम ज्ञान के उजाले में अपना जीवन व्यतीत करेंगे, तो यह निश्चित है कि हम इस मायावी प्रपञ्च को मात्र द्रष्टा होकर देखेंगे और इसके छल में न फँसते हुए दूर ही रहेंगे।

भले तारतम कियो प्रकास, देखाया माया में अखंड विलास।
तारतम वचन उजाला करया, दूजा देह माया में धरया।।१८।।

यह कितना अच्छा हुआ कि स्वयं धाम धनी ने तारतम ज्ञान का दिव्य प्रकाश फैलाकर इस नश्वर जगत में भी हमें परमधाम की अखण्ड लीला के ज्ञान का आनन्द दिया है। उन्होंने श्री देवचन्द्र जी का तन त्यागकर दूसरा तन (श्री मिहिरराज जी का) धारण किया है और उसके

माध्यम से सबके हृदय में तारतम वाणी का प्रकाश कर रहे हैं।

भावार्थ– इस चौपाई में यह बात विशेष रूप से दर्शायी गयी है कि दोनों तनों में लीला करने वाले एक ही अक्षरातीत हैं। इसलिये तनों के नाम पर गुरू–शिष्य की भावना करना या बड़ा–छोटा दिखाना कदापि उचित नहीं है।

प्रकरण ।।९।। चौपाई ।।२२३।।

विनती

सुन्दरसाथ के द्वारा श्री राज जी से की जाने वाली प्रार्थना।

यद्यपि इस प्रकरण में श्री राज जी से की गई यह विनय (प्रार्थना) समस्त सुन्दरसाथ की ओर से है, किन्तु उनके प्रतिनिधि के रूप में श्री इन्द्रावती जी की आत्मा ही व्यक्त कर रही है।

साखी– विनती एक सुनो मेरे प्यारे, कहूं पिउजी बात।
आए प्रगटे फेर कर, करी कृपा देख अपन्यात।।१।।

मेरे प्राणेश्वर! आप हमारी इस प्रेम भरी विनती को सुनिए। आपने परमधाम के मूल सम्बन्ध से हमारे ऊपर प्रेम भरी अपार कृपा की है, जो हमें जाग्रत करने के लिये आप पुनः मेरे (श्री इन्द्रावती जी के) धाम हृदय में प्रकट

हो गये हैं।

श्रीदेवचंदजी हम कारने, निध तुमारे हिरदे धरी।

वचन पालने आपना, साथ सकल पर दया करी।।२।।

सुन्दरसाथ का कहना है कि सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने हमारी आत्म–जाग्रति के लिये ही आप (श्री इन्द्रावती जी) के धाम हृदय में तारतम ज्ञान की अनमोल निधि (सम्पदा) प्रदान की है। यह कार्य उन्होंने इसलिये किया है क्योंकि अपने धामगमन के समय सब सुन्दरसाथ को वचन दिया था कि मैं अब इस तन का परित्याग करके श्री मिहिरराज जी के तन से लीला करूँगा। इस प्रकार सब सुन्दरसाथ के ऊपर उनकी अपार प्रेम भरी कृपा (दया) हुई है।

जनम अंध जो हम हते, सो तुम देखीते किए।

पीठ पकड़ हम ना सके, सो फेर कर पकर लिए।।३।।

हम जन्म से ही अन्धे थे, अर्थात् जब से हमारी आत्मा (सुरता) इस नश्वर जगत् में आयी है, तभी से हमें यह पता नहीं था कि हम कौन हैं, हमारी आत्मा का प्रियतम कौन है, तथा हमारा मूल घर कहाँ है? आपने तारतम ज्ञान की ऐसी अलौकिक दृष्टि प्रदान की जिससे सब कुछ दिखने लगा (ज्ञात होने लगा) था, किन्तु आपके अन्तर्धान होने के पश्चात् हम आपके दर्शाये हुए मार्ग पर नहीं चल सके। परिणाम स्वरूप हमारे ऊपर आपने ऐसी अनुपम कृपा की कि श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान होकर अब पुनः तारतम ज्ञान का प्रकाश देने लगे हैं। आपकी इस लीला ने हमें अंगीकार कर अन्धकार में भटकने से बचा लिया।

भावार्थ– जन्म शरीर का होता है और जीव के द्वारा उस शरीर को धारण किया जाता है। आत्मा उस जीव पर विराजमान होकर खेल में मात्र द्रष्टा बनी रहती है। उपरोक्त चौपाई के प्रथम चरण में जन्म होने का तात्पर्य इस खेल में आने से है। इस प्रकार का कथन काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से होता है। प्रकाश हिन्दुस्तानी प्रकट वाणी चौपाई २६ में भी इसी प्रकार का कथन है–

"उपजत ही मन आसा घनी, हम कब मिलसी अपने धनी।"

"पीठ पकड़ना" तथा "हाथ पकड़ना" मुहावरे हैं, जिनका अभिप्राय होता है– अनुसरण करना एवं अपनी छत्रछाया में रखना, या अंगीकार (स्वीकार) करना।

अब जो कछूए हम में, होसी मूल अंकूर।

जो नींद उड़ाए तुम निध दई, सो क्योंए ना छोडूं पिया नूर।।४।।

हे धाम धनी! अब यदि मेरे अन्दर परमधाम का कुछ भी अँकुर होगा, तो आपने मेरी माया की नींद उड़ाकर तारतम ज्ञान की जो अखण्ड निधि दी है, उसे मैं किसी भी प्रकार से नहीं छोड़ सकती क्योंकि तारतम ज्ञान आप के हृदय का बहता हुआ अमृत रस है।

भावार्थ– अँकुर का अभिप्राय है– सम्बन्ध। इस चौपाई में यह बात दृढ़तापूर्वक कही गयी है कि जिसके अन्दर परमधाम की आत्मा होगी, वह तारतम वाणी से कदापि अलग नहीं होगी।

पेहेले तो हम न पेहेचाने, सो सालत है मन।

चरचा कर कर समझाए, कहे विध विध के वचन।।५।।

हमारे मन में इस बात की बड़ी व्यथा (पीड़ा) है कि जब आप श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर

लीला कर रहे थे, उस समय आपने अनेक प्रकार के अनमोल वचनों की चर्चा करके हमें समझाया, किन्तु हम आपकी पहचान नहीं कर सके।

चाल–

ऐसे अनेक वचन कहे हमको, जिन एक वचने पेहेचाने तुमको।

तुम दई पेहेचान विध विध कर, पर निरोध बैठा हिरदा पकर।।६।।

आपने हमें जाग्रत करने के लिये अलौकिक ज्ञान के इतने अनमोल वचन कहे कि यदि हम उनमें से किसी एक भी वचन को आत्मसात् कर लेते, तो आपकी पहचान करने में समर्थ हो जाते। ज्ञान के साथ–साथ आपने आड़िका लीला के द्वारा भी अपनी पहचान दी, किन्तु माया के प्रभाव से हमारे हृदय में नकारात्मक भावना थी जिसके कारण हम आपकी पहचान नहीं कर

सके।

भावार्थ– इस चौपाई के प्रथम चरण में कथित अनेक वचनों का आशय उन भविष्य के कथनों से भी है, जो श्री देवचन्द्र जी एकान्त में श्री मिहिरराज जी को बताया करते थे। ज्ञान की बातों को बुद्धिवाद का विषय बताकर पहचान न होने का बहाना बनाया जा सकता है, किन्तु श्री राज जी के आवेश से प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने वाली व्रज–रास की लीलाओं तथा यमुनाजी को देखकर भी यदि श्री देवचन्द्र जी के अलौकिक स्वरूप की पहचान नहीं हुई, तो इसमें माया की नींद में हँसी होना प्रमुख कारण माना जा सकता है।

तब हँस कर आंझू आन के कह्या, पर तिन समे हम कछु ए ना लह्या।
तब तारतम केहे देखाया घर, हम तो भी ना सके पेहेचान कर।।७।।

इसके पश्चात् हमें जाग्रत करने के लिये सद्गुरु महाराज ने कभी हँसते हुए, तो कभी आँखों में आँसू भरकर अर्थात् गहरे अपनेपन की भावना से अति भाव विह्वल होकर समझाया। किन्तु माया के प्रभाव में होने के कारण हमने उनकी बातों का थोड़ा सा भी अंश ग्रहण नहीं किया। तब सद्गुरु रूप में विराजमान धाम धनी ने तारतम ज्ञान से अखण्ड परमधाम की भी पहचान करायी, तो भी हमें यह पहचान नहीं हो सकी कि हमारी जाग्रति के लिये इतना प्रयास करने वाले कौन हैं?

भावार्थ– उपरोक्त दोनों चौपाई ६ एवं ७ में ज्ञान के वचनों के सम्बन्ध में सूक्ष्म अन्तर है। चौपाई ६ में ज्ञान के अनेक वचनों, जैसे– कबीर, नरसी मेहता, एवं जाटी भाषा के बोधकारक वचनों से श्री मिहिरराज जी को जाग्रत करने के प्रयास का वर्णन है। इसके साथ ही

भविष्य की बातों का भी समावेश है। किन्तु चौपाई ७ में तारतम ज्ञान के अमृतमयी वचनों से उन्हें परमधाम का बोध कराकर जाग्रत करने के प्रयास का वर्णन है।

तब हममें से अद्रष्ट भए, कोई कोई वचन हिरदे में रहे।
जो या समें खबर ना लेते तुम, तो मोहजल अति दुख पावते हम।।८।।

तदनन्तर प्रियतम ने श्री देवचन्द्र जी के उस पञ्चभौतिक तन का परित्याग कर दिया। उनके धामगमन के पश्चात् उनके कहे हुए कुछ–कुछ वचन मेरे हृदय में अवश्य चुभते रहे हैं। यह तो निश्चित है कि इस विकट समय में यदि आप हमारी सुधि नहीं लेते , अर्थात् मेरे (श्री इन्द्रावती जी के) धाम हृदय में विराजमान होकर परमधाम की तारतम वाणी का प्रकाश नहीं करते, तो इस मायावी संसार में हमें बहुत ही दुःखी होना पड़ता।

भावार्थ– यदि श्रवण किया हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाता है, तो वह निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार ग्रन्थ में निहित ज्ञान भी स्वाध्याय के अभाव में निरर्थक होता है। किन्तु ग्रन्थ के ज्ञान में इतनी विशिष्टता अवश्य होती है कि उसका कभी भी स्वाध्याय करके आत्मसात् किया जा सकता है। इसके विपरीत श्रवण ज्ञान तत्क्षण ग्रहण किये जाने पर ही लाभदायक होता है।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व, ध्वनि को संग्रहीत करने के लिये कोई भी संसाधन नहीं थे। यही कारण है कि श्री देवचन्द्र जी के मुखारविन्द से व्रज –रास एवं परमधाम की सुनी हुई चर्चा भी निष्फल हो गयी। जो थोड़ी बहुत ज्ञान की स्मृति थी, वह भी आड़िका लीला के आकर्षण में बह गयी। यदि श्री देवचन्द्र जी के तन से भी तारतम वाणी का अवतरण हुआ होता, तो सम्भवतः

उसका चिन्तन–मनन करके सुन्दरसाथ जागनी की राह पर चल सकते थे।

श्रीजी के अन्तर्धान के लगभग ३० वर्ष पश्चात् और वर्तमान समय से लगभग ५० वर्ष पूर्व के समयान्तराल को यदि देखा जाये, तो तारतम वाणी के न्यूनतम प्रकाशन एवं चिन्तन–मनन के अभाव में जागनी कार्य बहुत ही मन्थर (धीमी) गति से चला है।

यों जान के आए हम मांहें, आए बैठे प्रगटे तुम जांहें।
ज्यों आपन पेहेले बृज में हते, नित प्रते पियासों प्रेमे खेलते।।९।।

हे धनी! आप इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि यदि आप माया में हमारी सुधि नहीं लेंगे , तो हमें बहुत दुःख देखना पड़ेगा। यही कारण है कि मेरे धाम हृदय में आप वैसे ही विराजमान हो गये, जैसे आप श्री देवचन्द्र

जी के अन्दर विराजमान हुए थे। व्रज मण्डल में भी हम सभी आपके साथ नित्य ही प्रेममयी लीलायें किया करते थे।

अनेक खेल किए आपन, पूरन मनोरथ सब किए तिन।
अग्यारे बरस लो लीला करी, कालमाया इतही परहरी।।१०।।

हम सबने आपके साथ अनेक प्रकार की प्रेममयी क्रीड़ायें की और आपने हमारी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण भी किया। इस प्रकार लीला करते हुए जब ११ वर्ष व्यतीत हो गये, तो हमने कालमाया के इस ब्रह्माण्ड का त्याग कर दिया।

जोगमाया कर रास जो खेले, कई सुख साथ लिए पिउ भेले।
करी अंतराए देने को याद, हम दुख मांग्या पिउपे आद।।११।।

इसके पश्चात् हमने योगमाया के ब्रह्माण्ड (केवल ब्रह्म की भूमिका आनन्द योगमाया) में महारास की लीला की तथा आपके साथ अनेक प्रकार की प्रेममयी लीलाओं का सुख लिया। किन्तु रास के मध्यान्तर में आपने हमें विरह का कष्ट इस बात की याद दिलाने के लिये दिया कि हमने आपसे परमधाम में दुःख का खेल देखने की इच्छा प्रकट की थी।

सोई देख के आए ज्यों, फेर अब प्रगट हुए हैं त्यों।
धनी जब करें अपन्यात, मनचाह्या सुख देवें साख्यात।।१२।।

रास में हमारे विरह का कष्ट देखकर जैसे आप प्रकट हो गये थे, इसी प्रकार जागनी ब्रह्माण्ड में भी हमारा कष्ट देखकर पुनः प्रकट हो गये हैं। जब आप परमधाम के मूल सम्बन्ध से अपना आत्मीय प्रेम प्रकट करते हैं, तो हमें

ऐसा अनुभव होता है कि जैसे आप प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर हमारे मनोवांछित सुख दे रहे हैं।

तिन समें धाख रहीती जोए, अब इत सुख देत हैं सोए।
अब सुनो पिउ कहूं गुन अपने, अवगुन मेरे हैं अति घने।।१३।।

उस समय मेरे मन में परमधाम को देखने की प्रबल इच्छा थी। अब मेरे हृदय में विराजमान होकर परमधाम को देखने का सुख दे रहे हैं। मेरे धाम धनी! अब मेरी यह बात सुनिये। मैं आपसे अपनी वास्तविकता बता रही हूँ। मेरे अवगुण तो बहुत अधिक हैं।

तुमारे मन में न आवे लवलेस, पर मैं जानों मेरे मन के रेस।
वार डारों तुम पर मेरी देह, तुम किए मोसों अधिक सनेह।।१४।।

मेरे प्राणवल्लभ! यद्यपि आपके मन में यह विचार ही नहीं

आ सकता कि मेरे (श्री इन्द्रावती जी के) मन में नाम मात्र के लिए भी अवगुण हैं, किन्तु मैं तो अपने मन के एक–एक तन्तु में विद्यमान अवगुणों के विषय में जानती हूँ। आपने मुझसे इतना अधिक प्रेम किया है कि मेरे मन में यही बात गूँजती रहती है कि मैं आपके ऊपर अपने तन को पूर्ण रूप से न्योछावर कर दूँ।

भावार्थ– मन इतना सूक्ष्म होता है कि उसके तन्तु हो ही नहीं सकते, किन्तु यहाँ मन के तन्तुओं का वर्णन बोधगम्य होने के लिये किया गया है।

आत्मा परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा है। उसके मूल स्वरूप में कोई भी अवगुण नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार सत्व, रज और तम के बन्धन में होने से जीव विकारों से ग्रसित रहता है, उसी प्रकार आत्मा जीव के ऊपर विराजमान होकर जब जीव भाव से ग्रस्त हो जाती है, तो

जीव के द्वारा होने वाले अवगुण आत्मा के साथ भी जुड़े हुए कहे जाते हैं। उपरोक्त चौपाई में यही बात दर्शायी गयी है।

घोली घोली मैं जाऊं तुम पर, उरिनी मैं होऊंगी क्योंकर।
उरिनी होना तो मैं कह्या, माया लेस हिरदे में रह्या।।१५।।

मैं आपके ऊपर बार–बार न्योछावर होती हूँ। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं आपके प्रेम का ऋण कैसे पूर्ण (चुकता) करूँ? मैं आपसे उऋण (ऋण रहित) हो जाने की बात इसलिये कर रही हूँ क्योंकि अभी भी मेरे हृदय में माया का कुछ अंश विद्यमान है।

भावार्थ– ऋण लेने या उसे पूर्ण रूप से चुकता कर देने का प्रसंग इस मायावी जगत में ही होता है। स्वलीला अद्वैत परमधाम में इसकी कल्पना भी नहीं की जा

सकती। यही कारण है कि इस चौपाई में इस बात का संकेत किया गया है कि माया के प्रभाव से ग्रसित होने के कारण अपने मुख से ऋण मुक्त होने की बात कही जा रही है। प्रेमाग्नि में जब स्वयं का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, तो ऋण को पूरा कौन करेगा? परायेपन की भावना में ही तो ऋण को पूरा करने की बात सोची जा सकती है।

अनेक बार मैं लेऊं वारने, तुम अपनी जान गुन किए घने।
मैं वार डारूं आतम अपनी, पर सालत सोई जो करी दुस्मनी।।१६।।

मैं अनेक बार आपके ऊपर समर्पित (बलिहारी) होती हूँ। परमधाम के मूल सम्बन्ध से आपने मुझे अपनी हृदयेश्वरी (अंगना) मानकर मेरे प्रति अपने हृदय का बहुत अधिक प्रेम लुटाया है। मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि मैं अपनी आत्मा को आपके ऊपर पूर्ण रूप से

न्योछावर कर दूँ। किन्तु मेरे मन की पीड़ा यह है कि मैंने अतीत में आपसे शत्रुता की भावना कर ली थी।

भावार्थ– परमधाम के दर्शन या ज्ञान प्राप्ति के लिये स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता का होना अच्छा है, क्योंकि इससे महान लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसका रूप विकृत तब हो जाता है, जब प्रेरणास्रोत को ही छोटा दिखाने एवं स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की मानसिकता उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति को द्वेष भाव से युक्त अवश्य कहा जा सकता है।

श्री इन्द्रावती जी ने ऐसा कुछ भी नहीं किया था, जिसके कारण उन्हें द्वेष या शत्रुता का भाव रखने वाला कहा जा सके। यद्यपि "पतित सिरोमनि" के प्रकरण में उन्होंने वज्रलेप एवं द्वेषी कहलाने का दोष भी स्वयं अपने मुख से कहा है तथा उपरोक्त चौपाई में शत्रुभाव रखने

वाला भी कह दिया है, किन्तु ऐसा प्रायश्चित की भावना के अतिरेक (अधिकता) में कहा गया है।

प्रेम में सर्वस्व लुटाना होता है। स्वयं या अपने प्रेमास्पद से कुछ पाना या उनके समान बन जाने की भावना, सर्वस्व समर्पण या प्रेम की पवित्र चादर पर धूल के कणों को विखेर देती है। अपनी इस भूल को अतिश्योक्ति के रूप में वर्णित करते हुए श्री इन्द्रावती जी ने उक्त उद्गार प्रकट किया है।

क्यों छूटोंगी ए गुन्हे हो नाथ, सांची कहूं मेरे धाम के साथ।
तुम साथ मिने मोहे देत बड़ाई, पर मैं क्यों छूटोंगी बज्रलेपाई।।१७।।

मेरे प्राणनाथ! मैं अपने इस अपराध बोध से मुक्त कैसे हो पाऊँगी? मैंने इतना भयंकर अपराध किया था, फिर भी आप सब सुन्दरसाथ में मुझे प्रतिष्ठित (महिमान्वित)

कर रहे हैं। किन्तु मैं इस रहस्य को अच्छी तरह से जानती हूँ कि मैंने आपके प्रति ऐसा भयंकर अपराध किया है जिसका कोई भी प्रायश्चित नहीं हो सकता। हे मेरे परमधाम के सुन्दरसाथ जी! यह निश्चित है कि मैं आपसे ये सारी बातें सच–सच कह रही हूँ।

तुम गुन किए मोसों अति घन, पर अलेखे मेरे अवगुन।
तुम गुन किए मोसों पेहेचान कर, मैं अवगुन किए माया चित धर।।१८।।

आपने मेरे ऊपर अपनी प्रेम भरी अपार कृपा की है, किन्तु मेरे दोष तो इतनी अधिक संख्या में हैं और इतने भयंकर हैं कि उन्हें व्यक्त किया (लिखा) ही नहीं जा सकता। आपने परमधाम की आत्मा मानकर मुझसे प्रेम किया और मैं अपने हृदय (चित्त) में माया को बसाकर अपराध करती रही।

भावार्थ– अपराध न करते हुए भी स्वयं को भयंकर अपराधी मानने के प्रसंग से हमें शिक्षा लेनी चाहिए कि कभी भी अपने अवगुणों (दोषों) को छिपाना नहीं चाहिए, बल्कि निष्पक्ष चिन्तन करके उनका परित्याग कर देना चाहिए। इसी में आत्म–जाग्रति का रहस्य छिपा हुआ है। "अवगुण काढ़े गुण ग्रहे, हारे से होय जीत" का कथन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

अब बल बल जाऊं मेरे धनी, मेरे मन में हाम है घनी।

असत मंडल में हासल अति बड़ी, मैं पिउजी की उमेद ले खड़ी।।१९।।

मेरे प्राणेश! मेरे मन में इस बात की प्रबल चाहना है कि अब मैं आपके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाऊँ। माया के इस नश्वर जगत में भी आपको पा लेना सबसे बड़ी उपलब्धि है। आपकी पल–पल सान्निध्यता पाने की

आशा में ही तो मैं इस संसार में रह रही हूँ।

भावार्थ– सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी की अन्तर्धान लीला के पश्चात्, अपने धाम हृदय में युगल स्वरूप का आभास ही इस संसार में प्रियतम की पल–पल की सान्निध्यता प्राप्त करना है।

जो मनोरथ किए मांहें श्रीधाम, सो पूरन इत होए मन काम।
जो विध सारी कही है तुम, सो सब द्रढ़ करी चाहिए हम।।२०।।

परमधाम में हमने आपसे जो–जो इच्छायें व्यक्त की थीं, निश्चित है कि हमारे मन की वे सारी इच्छायें पूरी हो जायेंगी। आपने सतगुरु श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर माया–ब्रह्म की जो वास्तविकता दर्शायी है, उसे हम सब सुन्दरसाथ को दृढ़तापूर्वक आत्मसात् कर लेनी चाहिए।

भावार्थ– परमधाम में सखियों के मन में यह जानने की इच्छा थी कि अक्षर ब्रह्म की मायावी लीला कैसी है। धाम धनी ने इस मायावी जगत में लाकर उनकी इस इच्छा को पूर्ण कर दिया है तथा तारतम वाणी का प्रकाश लेकर उन्हें परमधाम के प्रेम, एकत्व, मूल सम्बन्ध की सर्वोच्च अवस्था (मारिफत) की भी पहचान दे दी है, जो परमधाम में भी नहीं थी।

सुख धाम के जो पाइए इत, सो काहूं मेरी आतम न देखे कित।
इन अंग की जुबां किन विध कहे, जो सुख कहूं सो उरे रहे।।२१।।

परमधाम के जिन सुखों का अनुभव यहाँ किया जा सकता है, मेरी आत्मा उन्हें अपने अतिरिक्त अन्य कहीं भी किसी के अन्दर अनुभव होते हुए नहीं देख पा रही है। किन्तु इस नश्वर तन की जिह्वा से उसका वर्णन मैं कैसे

करूँ? मैं जो कुछ भी कहती हूँ, तो वह वर्णन इधर (बैकुण्ठ–निराकार तक) ही रह जाता है।

भावार्थ– कुछ सुन्दरसाथ के मन में यह भ्रान्ति थी कि गादी पर बैठने मात्र से बिहारी जी की आत्मा परमधाम के सुखों (युगल स्वरूप एवं पच्चीस पक्षों की शोभा का दर्शन तथा वर्णन करने का सामर्थ्य) का अनुभव कर रही है। उनके इस भ्रम का निराकरण करने के लिये ही यह चौपाई अवतरित हुई है। इसके दूसरे चरण में कथित "काहू" और "कित" शब्दों का प्रयोग यही दर्शा रहा है।

किसी आध्यात्मिक महान पुरूष के आसन (गादी) का आभामण्डल अवश्य पवित्र होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस आसन में ही अक्षरातीत की सारी कृपा बरसती है, तथा उस पर बैठने मात्र से परमधाम का दर्शन होने लगेगा, या वह व्यक्ति अक्षरातीत कहलाने

लगेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तो स्वयं को विरह–प्रेम की अग्नि में जलाकर निर्विकार होना पड़ेगा। जैसा कि इस चौपाई की अगली चौपाई के तीसरे चरण में कहा गया है– "ए सुख विलसूं होए निरदोस"।

यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि छठे दिन की लीला में प्रत्येक सुन्दरसाथ को यह स्वर्णिम अवसर प्राप्त है कि वह तारतम के तारतम (खिल्वत, परिक्रमा, सागर, एवं श्रृंगार) को आत्मसात् करके तथा विरह एवं प्रेम में स्वयं को भस्मीभूत करके, परमधाम के सभी सुखों का अनुभव प्राप्त कर सकता है। बिहारी जी गादी पर भले ही बैठे रहे, किन्तु वे तारतम ज्ञान, अटूट विश्वास (ईमान), तथा विरह–प्रेम से रहित होने के कारण इस सुख से वंचित ही रहे।

ए सोभा सब्दातीत है घनी, और सब्द में जुबां आपनी।

ए सुख विलसूं होए निरदोस, होए फेरा सुफल दया तुम जोस।।२२।।

मेरे धाम धनी! आपकी यह अपार शोभा शब्दों की परिधि से सर्वथा परे है, जबकि मेरी जिह्वा से उस अलौकिक शोभा के वर्णन में निकले हुए शब्द इस नश्वर जगत के हैं। अब तो मुझे पूर्णतया निर्दोष होकर, आपकी दया एवं जोश की छत्रछाया में, सुखों का उपभोग करना है। तभी इस जागनी ब्रह्माण्ड में मेरा आना सार्थक हो सकेगा।

भावार्थ– सभी मानसिक विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तथा ईर्ष्या) का पूर्णतः परित्याग होने पर ही स्वयं को निर्दोष कहा जा सकता है। यह अवस्था तारतम वाणी के प्रकाश में अटूट विश्वास के साथ प्रेम में डूबने पर ही प्राप्त होती है।

इतने मनोरथ होंए पूरन, तब जानों दया हुई अति घन।

फेर फेर दया को तो कह्या घना, जो कर न सकी कछू बस आप अपना।।२३।।

परमधाम या आपके दर्शन आदि की जो इच्छायें सुन्दरसाथ के मन में है, यदि वे पूर्ण हो जाती हैं, तभी यह कहा जा सकता है कि आपकी सुन्दरसाथ पर बहुत अधिक प्रेममयी कृपा है। मैं आपसे बारम्बार बहुत अधिक प्रेम भरी कृपा की बात इसलिये कर रही हूँ, क्योंकि आपकी मेरे ऊपर कृपा की कमी थी। तभी मैं स्वयं को आपके प्रति पूर्णरूप से समर्पित न कर सकी (वश में न कर सकी अर्थात् माया की ओर दृष्टिपात करती रही)।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में श्री इन्द्रावती जी के द्वारा अपने प्राणेश्वर से सुन्दरसाथ के लिये परोक्ष रूप में यह प्रार्थना की गयी है कि उनके ऊपर इस प्रेम भरी कृपा की कमी नहीं करना, अन्यथा वे मेरी तरह माया में वैसे ही

भटक जायेंगे जैसे मैं आपको प्रत्यक्ष पाकर भी पूर्ण लाभ न ले सकी। इस समय जब आपने अपने चरण कमल मेरे धाम हृदय में रख ही दिये हैं, तो अपनी प्रेम भरी कृपा–दृष्टि से सबको लाभान्वित कीजिए।

अब मनसा वाचा करमना कर, क्योंए न छोडूं अखंड घर।
नैनों निरखूं करी निरमल चित, रूदे राखूं पिउ प्रेमें हित।।२४।।

मेरे प्राणेश! अब मैं मन, वाणी, एवं कर्म से किसी भी रूप में अपने अखण्ड मूल घर परमधाम को नहीं छोडूँगी। अपने हृदय को निर्मल करके, अपने आत्म–चक्षुओं से जी भरकर आपका दर्शन करूँगी और अत्यधिक प्रेम के साथ आपको अपने हृदय मन्दिर में बसाऊँगी।

भावार्थ– मन, वाणी, और कर्म से परमधाम को न छोड़ने का आशय है– केवल परमधाम एवं युगल स्वरूप

का ही चिन्तन–मनन करना, मुख से केवल उसी सम्बन्ध में बातें करना, तथा आत्मिक दृष्टि को उसमें जोड़े रखना।

कर परनाम लागूं चरने, करूं सेवा प्यार अति घने।

करूं दंडवत जीव के मन, देऊँ प्रदखिना रात ने दिन।।२५।।

मैं आपको प्रणाम करते हुए आपके चरणों में शीश झुकाती हूँ। मेरे मन में यह तीव्र चाहना है कि मैं बहुत अधिक प्रेम से आपकी सेवा करूँ और अपने जीव के द्वारा मानसिक रूप से दिन–रात दण्डवत् परिक्रमा किया करूँ?

भावार्थ– किसी पूज्य व्यक्ति के सामने होने पर सर्वप्रथम उसकी ओर हाथ जोड़कर प्रणाम किया जाता है। तत्पश्चात् उनके चरणों में शीश झुकाया जाता है।

शिष्टाचार की इसी प्रक्रिया के अनुसार, चौपाई के पहले चरण में, धाम धनी को प्रणाम करते हुए उनके चरणों में शीश झुकाने की बात कही गयी है।

धरती पर दण्ड के समान लेटकर प्रणाम करना "दण्डवत् प्रणाम" करना कहलाता है। इसी प्रक्रिया को बार-बार दोहराते हुए आराध्य के चारों ओर उस स्थान से आगे बढ़ते जाना "दण्डवत् परिक्रमा" करना कहा जाता है। किन्तु उपरोक्त चौपाई के उक्त कथन से यह संशय पैदा होता है कि चरणों में दण्डवत् प्रणाम करना या परिक्रमा करना तो दास भक्ति का लक्षण है। परमधाम की प्रेम लक्षणा भक्ति के मार्ग में स्वयं इन्द्रावती जी द्वारा ऐसी भावना क्यों की गयी है, वह भी तारतम वाणी के अवतरित होने के बाद?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि आत्मिक

प्रेम की गहन स्थिति में चरणों में प्रणाम करना तो दूर, हाथ जोड़कर प्रणाम करना भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि जब दोनों का एक ही स्वरूप है, तो कौन किसको पूज्य मानकर प्रणाम करेगा? उस समय नेत्रों की प्रेम भरी दृष्टि ही प्रणाम का स्थान ले लेती है।

दण्डवत् परिक्रमा तो पूर्ण रूप से दास भक्ति की सूचक है, जो प्रायः देवी–देवताओं के मन्दिरों में की जाती है। किन्तु इस प्रकार का कथन कहकर श्री इन्द्रावती जी ने अपने जीव की समर्पण भावना को व्यक्त किया है। जीव स्वभावतः अहंकार के वशीभूत होता है। वह प्रेम के मार्ग पर चलने के लिए समर्पण की भावना नहीं रखता है। दण्डवत् प्रणाम करने का आशय ही है कि मेरे आराध्य! मैंने अपना सर्वस्व आपको सौंप दिया है। अब आपको जो भी उचित लगे, कीजिए। उपरोक्त चौपाई में भी

शारीरिक रूप से दण्डवत् परिक्रमा करने का वर्णन नहीं है, बल्कि मानसिक रूप से ही दण्डवत परिक्रमा का चित्रण किया गया है।

कृपा करत हो साथ पर बड़ी, भी अधिक कीजो घड़ी घड़ी।
इंद्रावती पांउ परत आधार, धनी धाम के लई मेरी सार।।२६।।

यद्यपि आप सुन्दरसाथ पर बहुत अधिक कृपा करते हैं, किन्तु मेरा आपसे विशेष आग्रह है कि आप प्रत्येक क्षण (हर घड़ी) इससे भी अधिक कृपा कीजिए। अपने प्राणेश्वर के चरणों में प्रणाम करती हुई श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कहती है कि मेरे प्राणेश! आपने इस मायावी जगत में मेरा हाथ पकड़कर मेरी सुधि ली है और मुझे कृतार्थ कर दिया है।

प्रकरण ।।१०।। चौपाई ।।२४९।।

इस प्रकरण में धाम धनी अक्षरातीत के गुणों की महत्ता को दर्शाया गया है।

आपन में बैठे आधार, खेल देखाया खोल के द्वार।

अब माया कोटान कोट करे प्रकार, तो इत साथ को न छोडूं निरधार।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे आराध्य , मेरे सर्वस्व, श्री राज जी मेरे धाम हृदय में आकर विराजमान हो गये हैं। उन्होंने तारतम ज्ञान से परमधाम का दरवाजा भी खोल दिया है, अर्थात् सबको परमधाम की पहचान करा दी है, तथा द्रष्टा बनाकर इस मायावी खेल को भी दिखा रहे हैं। यदि यह छलने वाली माया अपनी शक्ति से करोड़ों मार्ग अपनाकर भी सुन्दरसाथ को भटकाना चाहेगी, तो मैं निश्चित रूप से किसी भी स्थिति में उन्हें भटकने नहीं दूँगी।

भावार्थ– यद्यपि "आपन" शब्द का बाह्य अर्थ "हमारे मध्य" होता है, किन्तु यह कथन सांकेतिक भाषा में कहा गया है। सुन्दरसाथ के मन में यह भ्रम था कि सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी हमें छोड़कर परमधाम चले गये हैं। उनके इस भ्रम का निराकरण करने के लिये ही यह बात कही गयी है कि धाम धनी परमधाम नहीं गये हैं, बल्कि हमारे ही मध्य अर्थात् श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान हो गये हैं।

मूल सम्बन्ध से धाम धनी सभी आत्माओं के धाम हृदय में सूक्ष्म रूप से सदा ही विराजमान रहते हैं। किन्तु जिनके ऊपर से माया की नींद का आवरण हट जाता है, उन्हें इसकी अनुभूति हो जाती है और उनसे जागनी लीला (धनी के आदेश से) प्रारम्भ हो जाती है। यही कारण है कि इस चौपाई के चौथे चरण में "न छोडूं" शब्द

का प्रयोग किया गया है, जो स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि धाम धनी श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। यदि उस समय सबके लिये कथन होता, तो "न छोडूं" के स्थान पर "न छोड़े" लिखा होता है।

बुलाए सैयों को चले वतन, क्यों न होए जो कहे वचन।
मन के मनोरथ पूरन कर, नेहेचे धनी ले चलसी घर।।२।।

प्रियतम अक्षरातीत ने ब्रह्मात्माओं को निजधाम की राह दिखायी और अब वे मेरे धाम हृदय में आकर विराजमान हो गये हैं। उन्होंने अपने अन्तर्धान से पूर्व जो बातें कही थीं कि "मैं इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला करूँगा", भला वे पूर्ण क्यों नहीं होंगी (अवश्य होंगी)। यह तो निश्चित है कि वे अपनी प्रेम भरी

कृपा दृष्टि से हमारे मन की सभी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे तथा हमें जाग्रत करके परमधाम ले जायेंगे।

अब जो आपन होइए सनमुख, तो धनी बोहोत विध पावें सुख।
कई विध दया साथ पर कर, सब विध के सुख देवें फेर।।३।।

अब यदि हम सुन्दरसाथ माया की नींद को छोड़कर उनके सम्मुख हो जाते हैं, अर्थात् जाग्रत हो जाते हैं, तो वे बहुत ही सुख का अनुभव करेंगे। धाम धनी ने सुन्दरसाथ पर अनेक प्रकार से दया की है और वे मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर पहले की तरह ही सब प्रकार के सुख दे रहे हैं।

भावार्थ– आनन्द आत्मा का गुण है, जबकि सुख का भोग मुख्यतः अन्तःकरण का विषय है। सच्चिदानन्द परब्रह्म आनन्द के अनन्त सागर हैं। उनके लिये किसी से

सुख की अपेक्षा का कथन उचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति में ऐसा ही कहा जाता है। जब अक्षरातीत श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान हो जाते हैं, तो महामति जी की आत्मा अपने जीव के सुख–दुःख का जो अनुभव करती है, उसे भी प्रायः धाम धनी के सुख–दुःख के रूप में देखा जाता है, जैसे–

ज्यों ज्यों साथ में होत है प्रीत, त्यों त्यों मोही को होत है सुख।

किरंतन ८९/१४

तारतम सब समझहीं, धाम सैयां हम बेहेन।

तित भी ब्रोध छूटा नहीं, ए भी लगे दुख देन।।

किरंतन ६३/१५

रूह छाती इनसे कोमल, तिनसे पांऊ कोमल।

इत सुख देऊं मासूक को, सुख यों लेऊं नेहेचल।।

सागर ९/२२

मूल स्वरूप श्री राज जी के द्वारा भी प्रेम में "सुख लेने" का कथन है–

सुख देऊं सुख लेऊं, सुख में जगाऊँ साथ।
इन्द्रावती को उपमा, मैं दई मेरे हाथ ।।

क. हि. २३/६८

फेर कर भलो आयो अवसर, खुले भाग धनी चित में धर।
आपने छोड़ने न करें संसार, पर धनी धाम बिछोहा न सहे लगार।।४।।

हे साथ जी! अब हमें पुनः दूसरी बार प्रियतम की सान्निध्यता में लीला का सुख प्राप्त करने का सुन्दर अवसर मिला है। हमारे लिये तो सौभाग्य का द्वार ही खुल गया है। यद्यपि हम इस संसार (भौतिक सुखों की तृष्णा) को छोड़ना नहीं चाहते हैं, किन्तु हमारे प्राण प्रियतम तो हमारे प्रेम में इतने अधिक डूबे हुए हैं कि वे

हमारा अति अल्प वियोग भी सहन नहीं कर सकते।

भावार्थ– सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वसामर्थ्यवान् होने से प्रत्येक आत्मा के साथ पल–पल हैं, किन्तु माया की नींद में होने से आत्मा को उनकी पहचान नहीं हो पाती और वह माया के अन्धकार में जीव भाव को धारण करके भटकती रहती है। इसे ही उपरोक्त चौपाई में वियोग की संज्ञा दी गयी है।

बिछोहा नहीं कछू पख तारतम, सुपन में माया देखें हम।
सुपन बिछोहा धनी ना सहे, तारतम वचन प्रगट कहे।।५।।

यदि तारतम ज्ञान की दृष्टि से देखा जाये, तो प्रियतम से हमारा कुछ भी वियोग नहीं है। इस स्वप्नमयी जगत में हमारी आत्मा माया का खेल देख रही है। तारतम वाणी के वचनों में यह तथ्य स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धाम

धनी इस स्वप्न के संसार में भी हमसे वियोग सहन नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई से इस मान्यता का खण्डन होता है कि अक्षरातीत मात्र परमधाम में ही नूरमयी स्वरूप से विराजमान हैं, इस नश्वर जगत में नहीं। अपनी मान्यता की पुष्टि में कीर्तन की यह चौपाई उद्धृत की जाती है– "सत सुपने में क्यों कर आवें, सत सांई है न्यारा।"

इस मान्यता के अनुयायियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि यह चौपाई वेदान्तियों के इस सिद्धान्त के खण्डन में कही गयी है, जिसके अनुसार वे इस स्वप्नवत् जगत् के कण–कण में ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं। यदि अक्षरातीत इस नश्वर जगत में नहीं आये हैं, तो निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित होते हैं–

१. व्रज लीला किसने की तथा जागनी लीला में तारतम वाणी किसने कही है?

२. "प्रगटे पूरन ब्रह्म सकल में, ब्रह्मसृष्टि सिरदार" (किरंतन ५७/२) का क्या अर्थ होगा?

३. "आवसी धनी-धनी रे सब कोई केहेते, आगमी करत पुकार" (किरंतन ५३/७) का क्या अभिप्राय होगा?

४. महाराजा छत्रसाल जी ने श्री प्राणनाथ जी को किस रूप में माना है?

५. "इन गुन्हेगारों के दिल को, अर्स कर बैठे मेहेरबान" का कथन क्या सिद्ध करता है?

वस्तुतः धाम धनी परमधाम में अपने नूरमयी स्वरूप से अवश्य विराजमान हैं, किन्तु इस नश्वर जगत में भी श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान हैं। इस सम्बन्ध

में ये कथन देखने योग्य हैं–

तुम ही उतर आए अर्स से, इत तुम ही कियो मिलाप।
तुम ही दई सुध अर्स की, ज्यों अर्स में हो आप।।

श्रृंगार २३/३१

ए ही साईत मैं तुमको, एह खेल देखाया जब।
मैं तुमारे साथ था, मुझसों कैसा प्यार था तब।।

बड़ी वृत्त ७७/९३

ल्याए वचन तारतम सार, खोले पार के पार द्वार।
जानों जिन आसंका रहे, साथ ऊपर धनी एता ना सहे।।६।।

प्रियतम अक्षरातीत इतना भी सहन नहीं कर सकते हैं कि किसी सुन्दरसाथ में नाम मात्र के लिये भी संशय रहे। इसलिये उन्होंने मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर

सबके (परमधाम के) सार रूप में तारतम वाणी का अवतरण किया। इसके द्वारा उन्होंने निराकार के परे बेहद और उससे भी परे परमधाम का अलौकिक ज्ञान प्रकट किया।

भावार्थ– जिस प्रकार दूध का सार रूप– मक्खन या घी–दूध से ही प्रकट हुआ कहा जाता है, उसी प्रकार तारतम वाणी को सभी ग्रन्थों का सार रूप नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसमें तो ऐसा अनुपम ज्ञान है जो ग्रन्थकारों को भी विदित नहीं था। यहाँ तक कि जो ज्ञान आदिनारायण, अक्षर ब्रह्म, जोश (जिबरील), तथा जाग्रत बुद्धि को भी पता नहीं था, वह तारतम वाणी में निहित है। इस प्रकार अक्षरातीत के हृदय के छिपे हुए रहस्यों को उजागर करने वाली ब्रह्मवाणी को सम्पूर्ण परमधाम का सार रूप ही कहा जा सकता है।

धनी के गुन मैं केते कहूं, मैं अबूझ कछू बोहोत ना लहूं।
धनी के गुन को नाहीं पार, कर ना सके कोई निरवार।।७।।

अपने प्राणधन श्री राज जी के गुणों का मैं कितना वर्णन करूँ? मैं तो ज्ञान से रहित नादान (नासमझ) हूँ, इसलिये उनके अथाह गुणों के सम्बन्ध में मैं अधिक कुछ समझ (जान) नहीं पा रही हूँ। उनके गुण तो अनन्त हैं। किसी में भी इतना सामर्थ्य नहीं है कि उनकी गणना कर सके।

मैं केते नजरों देखे सही, पर गुन मुखसे न सके कही।
ना कछु किनका भोम गिनाए, सागर लेहेरें गिनी न जाए।।८।।

यद्यपि प्रियतम के कुछ गुणों का अनुभव मैंने उनकी लीला में अवश्य किया है, किन्तु उनका वर्णन करने में मैं पूर्णतया असफल रही हूँ। इस संसार में न तो धूल के

कणों को गिना जा सकता है और न ही सागर की लहरों को।

मेघ की बूंदे जेती परे, ना कोई वनस्पति निरमान करे।
जदपि याको निरमान होए, पर गुन धनी के ना गिने कोए।।९।।

न तो आकाश से होने वाली वर्षा की बूँदों को गिना जा सकता है और न इस पृथ्वी पर विद्यमान वनस्पतियों (पेड़–पौधों की संख्या) को, किन्तु यदि कोई किसी भी प्रकार से इन्हें गिनने का दावा भी करें, तो भी मेरे जीवन के आधार प्रियतम अक्षरातीत के गुणों को गिन पाना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है।

इन बेर के भी कहे न जाए, तो और बेर के क्यों कहूं जुबांए।
पेहेले फेरे की क्यों कहूं बात, गुन जो किए धनी साख्यात।।१०।।

इस समय धाम धनी मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर जिस प्रकार प्रेम भरी कृपा की वर्षा कर रहे हैं, उसका ही वर्णन जब मैं नहीं कर पा रही हूँ, तो इसके पूर्व श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर उन्होंने अपना जो प्रेम दर्शाया है, उसे मैं इस जिह्वा से कैसे व्यक्त कर सकती हूँ? पहली बार जब हम व्रज–रास में आये थे, उस समय प्रियतम ने साक्षात् रूप से हमारे ऊपर जिस अमृतमयी प्रेम की वर्षा की, उसका मैं कैसे वर्णन करूँ?

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में "इन बेर" का तात्पर्य इस जागनी ब्रह्माण्ड के दूसरे तन (श्री मिहिरराज जी) से है तथा "और बेर" का आशय पहले तन (श्री देवचन्द्र जी) से है। श्री इन्द्रावती जी अपने तन से होने वाली लीला के प्रेम की अपेक्षा श्री देवचन्द्र जी के तन से होने वाली लीला के प्रेम की महत्ता को अधिक गरिमामयी रूप में

दर्शा रही हैं, ऐसा दूसरे चरण से प्रतीत होता है।

"बेर" एवं "फेरे" शब्द के भावों में सूक्ष्म सा अन्तर है। पहला फेरा (पारी या पाली) व्रज–रास का है तथा दूसरा फेरा इस जागनी ब्रह्माण्ड के दोनों तनों (श्री देवचन्द्र जी एवं श्री मिहिरराज जी) से है। व्रज–रास में जहाँ सखियों का अपने प्राणेश्वर के साथ प्रिया–प्रियतम का सम्बन्ध था, वहीं इस जागनी ब्रह्माण्ड में सद्गुरु भाव है, जिसमें परमधाम के प्रेममयी भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति का हो पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सद्गुरु ज्ञान स्वरूप होते हैं। उनके हृदय का बहता हुआ प्रेम लौकिक मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही कारण है कि इस चौपाई के चौथे चरण में व्रज–रास के स्वरूप के लिये "साक्षात्" शब्द का प्रयोग किया गया है।

क्यों धनी गुन गिनूं इन आकार, पर कछुक तो गिनना निरधार।
इंद्रावती कहें मैं गुन गिनों, कछुक प्रकासूं आपोपनों।।११।।

भला मैं इस नश्वर तन से अपने प्राणवल्लभ के अनन्त गुणों की गणना कैसे कर सकती हूँ? किन्तु यह भी निश्चित है कि मुझे कुछ न कुछ अवश्य ही गिनना पड़ेगा। श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कहती है कि अनादि काल से श्री राज जी से मेरा अखण्ड प्रेम सम्बन्ध है। अपने अपनत्व भरे प्रेम के कुछ अंशों को इस संसार में प्रकट करने के लिये मुझे धाम धनी के गुणों को अवश्य ही गिनना पड़ेगा।

भावार्थ– प्रिया–प्रियतम (माशूक–आशिक) हमेशा ही आन्तरिक रूप से अभिन्न होते हैं। उनके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति उनके विषय में यथार्थ रूप से नहीं कह सकता। इसलिये इस चौपाई के चौथे चरण में

"आपोपनों" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका आशय होता है– प्रेम का ऐसा अपनापन जिसमें दो तन मात्र कल्पना में ही होते हैं, वास्तविक रूप में नहीं। दोनों में एक ही चेतना कार्य कर रही होती है, जिसे दो तन एक प्राण के रूप में व्यक्त किया जाता है।

प्रकरण ।।११।। चौपाई ।।२६०।।

श्री धनीजी के गुन

इस प्रकरण में लौकिक भावों के आधार पर धनी के गुणों को गिनने का असफल प्रयास किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि हम प्रियतम की अपार महिमा को जानें और उन्हें मानवीय दृष्टि से न देखकर अपनी आत्मा के सिंहासन पर विराजमान करें।

मैं लिखूं श्री धनीजी के गुन, जो रे किए मोसों अति घन।
जोजन पचास कोट जिमी केहेलाए, आड़ी टेढ़ी खड़ी सब मांहें।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मैंने प्रियतम के साथ उनके बहुत अधिक गुणों का रसास्वादन किया है। मैं अब उन गुणों को लिखने का प्रयास कर रही हूँ। श्रीमद्भागवत् में इस पृथ्वी का परिमाण ५० करोड़ योजन माना गया है। इसमें पर्वतों की आड़ी–खड़ी तथा सागरों के किनारे

की तिरछी (टेढ़ी) धरती भी आ जाती है।

भावार्थ– एक योजन में ४ कोस होते हैं और एक कोस में लगभग ३ कि.मी.। इस प्रकार ५० x ४ x ३=६०० करोड़ कि.मी. हुए, जबकि आधुनिक विज्ञान पृथ्वी का परिमाण मात्र ६८६१८ कि.मी. ही मानता है।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि पृथ्वी का परिमाण ६०० करोड़ कि.मी. मानना मात्र श्रीमद्भागवत् पुराण के अनुसार है। वैदिक मान्यता में इस प्रकार का कोई भी कथन नहीं है। पुराणों में सृष्टि विषयक सामग्री प्रायः तथ्यों के विपरीत भ्रामक एवं मिथ्या है।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार यह लोकश्रुति है कि पृथ्वी का परिमाप ५० करोड़ योजन (६०० करोड़ कि. मी.) है। यही कारण है कि इस चौपाई के तीसरे चरण में "केहेलाए" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसे श्री

इन्द्रावती जी या तारतम वाणी का कथन नहीं मानना चाहिए।

पर्वतों के सामने दिखायी देने वाली चोटियों की दीवार को आड़ी तथा अगल–बगल की दीवारों को खड़ी कहते हैं। सागर का किनारा कटा–फटा होता है, इसलिये वहाँ की धरती को टेढ़ी कहा गया है।

चौदे लोक बैकुंठ सुंन जोए, जिमी बराबर करूं सोए।
मैं प्रगट बिछाए करूं एक ठौर, टेढ़ी टाल करूं सीधी दोर।।२।।

वैकुण्ठ सहित चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण धरती को मैं समान रूप से समतल कर लूँ। इन पर स्थित ऊँचे–ऊँचे पर्वतों को भी प्रत्यक्ष रूप से बराबर करके (बिछाकर) एक समान समतल करूँ। समुद्र के किनारे की टेढ़ी धरती को सीधी कर लूँ, जिससे उस पर

सरलतापूर्वक लिखा जा सके। इनमें शून्य (निराकार) को भी धरती के समान कागज मानकर सम्मिलित कर लूँ।

भावार्थ– यद्यपि निराकार मण्डल अति सूक्ष्म है। उस पर कुछ भी लिखा जाना सम्भव नहीं है, किन्तु धरती रूपी कागज के विस्तार के लिये ऐसा कहा गया है।

कागद धरयो मैं याको नाम, गुन लिखने मेरे धनी श्रीधाम।
चौदे भवन की लेऊं वनराए, तिनकी कलमें मेरे हाथ गढ़ाए।।३।।

इस धरती को मैंने कागज कहा है। चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में जितनी वनस्पतियाँ हैं, उनकी टहनियों को मैंने अपने हाथों से लेखनी (कलम) के रूप में गढ़ा, जिससे मैं अपने प्राण प्रियतम के गुणों को लिख सकूँ।

गढ़ते सरफा करूं अति घन, जानों बड़ी छोही उतरे जिन।

ए सरफा मैं फेर फेर करूं, अखंड धनी गुन हिरदे धरूं।।४।।

लेखनी की नोंक बनाते समय मैं इस सम्बन्ध में बहुत ही कृपणता (कँजूसी) का व्यवहार करती हूँ, जिससे कहीं टहनी के छिलके का बड़ा भाग व्यर्थ में न कट जाये। चाकू से लेखनी बनाते समय मैं इस बात का बारम्बार ध्यान रख रही हूँ कि थोड़ी सी टहनी भी व्यर्थ न हो, क्योंकि मुझे अपने प्राणजीवन के अखण्ड गुणों को अधिक से अधिक लिखना है।

बारीक टांक मेरे हाथों होए, ऐसी करूं जैसी करे न कोए।

कोई तो केहेती हों जो माया लागी तुम, बोहोतक कह्या जो पेहेले हम।।५।।

मैं चाकू से लेखनी की नोंक को इतना बारीक बनाऊँ कि अन्य कोई भी वैसी न बना सके। मैं आप सुन्दरसाथ

के लिये "कोई" शब्द का प्रयोग इसलिये कर रही हूँ क्योंकि आपके ऊपर माया का प्रभाव पड़ा हुआ है। इस माया के बारे में मैंने पहले (रास ग्रन्थ में) बहुत कुछ कहा है।

भावार्थ– स्वलीला अद्वैत परमधाम के एकत्व (वहदत) में "मैं" और "तू" का प्रश्न नहीं होता। उपरोक्त चौपाई में "कोई और नहीं कर सके" का कथन भेद की रेखा खींच रहा है, जो यह दर्शा रहा है कि यह बात इस मायावी जगत् में कही जा रही है।

तुमको माया लागी होए सत, तुम बिना और सबे असत।
इन जिमी ऊपर के लेऊं सब जल, और लेऊं सात पाताल के तल।।६।।

हे साथ जी! आपको माया का यह मोहक बन्धन इस प्रकार लग रहा है, जैसे यह सत्य और सुखदायी है।

किन्तु वास्तविकता तो यह है कि आपके बिना यह सम्पूर्ण मायावी जगत् मिथ्या ही है। अपने प्राणधन अक्षरातीत के गुणों का वर्णन करने के लिये, मैं इस पृथ्वी लोक के सम्पूर्ण जल को ग्रहण करती हूँ। इसके अतिरिक्त सात पाताल लोकों के जल को भी स्याही बनाने में प्रयुक्त करती हूँ।

भावार्थ– "पादस्य तले यो देशः सः पातालः" अर्थात् हिमालय आदि पर्वतों से नीचे के जो भाग समुद्र के किनारे स्थित हैं, वे पाताल कहे जाते हैं। इस प्रकार सात सागरों के किनारे के (हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर, अन्ध महासागर, उत्तर महासागर, दक्षिण महासागर, अरब महासागर, भूमध्यसागर) भाग सात पाताल लोक कहे जाते हैं। जगत् को मिथ्या कहने का आशय पारमार्थिक दृष्टि से ही है, व्यवहारिक दृष्टि से

नहीं।

जल छे लोक के लेऊँ लिखनहारी, एक बूंद न छोडूं कहूँ न्यारी।

सब जल मिलाए लेऊँ मेरे हाथ, गुन लिखने मेरे श्री प्राणनाथ।।७।।

अपने प्राणेश अक्षरातीत के अनुपम गुणों का वर्णन करने (लिखने) के लिये इस पृथ्वी लोक से परे छः अन्य लोकों के भी सम्पूर्ण जल को मैं इस प्रकार ग्रहण करती हूँ कि उनमें से एक बूँद भी कहीं छूटने न पाये।

भावार्थ– पौराणिक मान्यता में पृथ्वी से परे छः लोक इस प्रकार हैं– भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक (बैकुण्ठ)। किन्तु वैदिक मान्यता में "भुवर्लोक अन्तरिक्ष (आकाश) लोक को कहते हैं तथा इसी में अन्य पाँचों लोक स्थित हैं। ये लोक क्रमशः सूक्ष्म होते गये हैं। दूसरे शब्दों में हम ऐसा

भी कह सकते हैं कि ये प्रकृति की एक–दूसरे से सूक्ष्म अवस्थाओं के प्रतीक हैं। आनन्द की मात्रा भी सूक्ष्मता के आधार पर क्रमशः बढ़ती जाती है। चौदह लोकों की यह मान्यता व्यष्टि (व्यक्तिगत) एवं समष्टि (सामूहिक) दोनों आधार पर है।

अरबों गलैक्सियों वाली इस सृष्टि को समष्टि रूप में भी चौदह लोकों में बाँटा जा सकता है। इसके अन्तर्गत अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) में जो भी प्राणीधारी ग्रह (नक्षत्र) स्थित हैं, उन्हें पृथ्वी लोक के अन्तर्गत माना जायेगा। पृथ्वी पर ही सागर के किनारे के भाग पाताल लोक कहे जायेंगे तथा शेष अन्य छः लोक सुख प्राप्ति की अन्य अवस्था विशेष के द्योतक माने जायेंगे। इस अवस्था में सूक्ष्म प्रकृति के दृश्यों और सुखों का अनुभव होगा।

व्यष्टि रूप में सूर्य और नौ ग्रहों सहित इस सौर मण्डल

या इससे बृहद् भाग को चौदह लोकों के रूप में दर्शाया जा सकता है।

बाकी स्याही करूँ मैं अति विगत, एक जरा न जाए समारूं इन जुगत।
ए कागद कलम मस कर, मांहें बारीक आंक लिखूं चित धर।।८।।

अब १४ लोकों के जल से बहुत सावधानीपूर्वक मैं इस प्रकार स्याही बनाऊँ कि इसकी एक बूँद भी व्यर्थ न हो। इस अवस्था में कागज, लेखनी, और स्याही को प्राप्त करके बहुत ही छोटे अक्षरों में अपने प्राणप्रियतम के गुणों को मैं एकाग्र चित्त से लिखना प्रारम्भ करती हूँ।

गुन जो किए पिउ तुम इत आए, सो इन जुबां मैं कहे न जाए।
देह माफक मैं लिखूं परमान, एक पाओ लवे का काढ़ूं निरमान।।९।।

मेरे प्राणवल्लभ! इस नश्वर संसार में आकर आपने हमारे

ऊपर जो अपार प्रेम की वर्षा की है, उसका वर्णन इस जिह्वा से हो पाना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ उजागर करने के लिये इस शरीर के सामर्थ्य के अनुसार मैं कुछ लिखने का प्रयास कर रही हूँ। इस कार्य में मुझे एक अक्षर के चौथाई भाग का भी ध्यान रखना है कि वह कहीं अधिक बड़ा न हो, जिससे अधिक स्थान न घिर जाये।

अब लिखती हूँ साथ देखियो उजास, मैं गजे माफक करूँ प्रकास।
मैं बोहोत सकोडूं आंक लिखते ए, जिन जानों मींडे होंए बड़े।।१०।।

हे साथ जी! अब मैं अपने प्राणप्रियतम के गुणों का वर्णन अपनी बुद्धि के अनुसार करती हूँ। आप उसका चिन्तन–मनन अवश्य कीजिए। मैं अक्षरों को बहुत पास–पास लिखती हूँ और इस बात का ध्यान रखती हूँ

कि कोई भी शून्य आकार में बड़ा न होने पावे।

प्रथम एकड़ा करूँ एक चित, लगता मींडा धरूँ भिलत।
मेरे हाथ अखर कुसादे न होए, मैं डरूँ जानों मिले न दोए।।११।।

सर्वप्रथम मैं एकाग्र चित्त होकर १ का अंक लिखती हूँ। उसके पश्चात् उससे लगता हुआ ० (शून्य) लिखती हूँ। लिखते समय मैं इस बात का ध्यान रखती हूँ कि मेरे हाथ से लिखे हुए इन अक्षरों का विस्तार (आकृति का फैलाव) अधिक न होने पावे। मैं इस बात से भी डरती हूँ कि कहीं पास–पास के दो अक्षर एक साथ मिल न जायें, अन्यथा यह पता ही नहीं चल पायेगा कि क्या लिखा गया है और उतनी जगह निरर्थक हो जायेगी।

यों करते ए दस जो भए, मींडा धरके एक सौ कहे।

भी एक धरके गिनूं हजार, धनी गुन दयाको नाहीं पार।।१२।।

इस प्रकार १ के आगे ० रखने से धनी के गुणों की संख्या १० हो जाती है और अगला शून्य रखने से १०० की संख्या मानी जाती है। इनके आगे ० रखकर मैं अपने प्रियतम के गुणों की संख्या १००० मानने लगती हूँ। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनके गुणों एवं दया की तो कोई सीमा ही नहीं है।

भी लगता मींडा धरूँ एक, जीव से गिनूं दस हजार विसेक।

भी एक धरके लाख गिनाए, भी धरूँ ज्यों दस लाख हो जाए।।१३।।

इसके आगे एक शून्य रखकर अपने जीव की बुद्धि से धनी के गुणों को दस हजार की संख्या में गिनती करती हूँ। इसके पश्चात् एक और शून्य रखकर एक लाख की

गणना करती हूँ, तथा एक और शून्य बढ़ाकर दस लाख की संख्या मान लेती हूँ।

कोट होवे मींडा धरते सातमां, दस कोट करूँ मींडा धरके आठमां।
नवमां धरके करूँ अबज, गुन गिनती जाऊँ करती कबज।।१४।।

सातवाँ शून्य रखते ही धनी के गुणों की संख्या एक करोड़ हो जाती है। जैसे ही मैं आठवाँ शून्य रखती हूँ, धाम धनी के गुण दस करोड़ की संख्या में हो जाते हैं। नवमाँ शून्य रखते ही धनी के गुणों की संख्या एक अरब हो जाती है। इस प्रकार मैं धनी के गुणों का चिन्तन करते हुए उनकी गणना करती जाती हूँ।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कथित अधिकार में लेने (कब्जा करने) का आशय उन गुणों का चिन्तन करने एवं आत्मसात् करने से है। यहाँ धाम धनी को वश

में करने का प्रसंग नहीं है।

दस धरके करूँ अबज दस, गुन गिनते आवे मोहे अति घनो रस।
अग्यारे धरके करूँ खरब एक, लिखते गुन धनी ग्रहूँ विसेक।।१५।।

जब मैं दसवाँ शून्य रखती हूँ, तो धनी के गुण दस अरब की संख्या में हो जाते हैं। अब तो मुझे अपने प्राणेश्वर के गुणों की गिनती करने में बहुत अधिक आनन्द आ रहा है। ग्यारहवाँ शून्य रखकर प्रियतम के गुणों को मैं एक खरब तक पहुँचा देती हूँ। मैं केवल धाम धनी के गुणों को गिन ही नहीं रही हूँ, बल्कि उन्हें अपने चिन्तन–मनन में भी ला रही हूँ (आत्मसात् करती जा रही हूँ)।

बारे धरके दस करूँ खरब, पेहेले यों गिनके किन कहे न कब।
तारतम कहे और कौन गिने गुन, हुआ न कोई होसी हम बिन।।१६।।

बारहवाँ शून्य रखकर धनी के गुणों को दस खरब तक गिन लेती हूँ। इसके पहले आज दिन तक किसी ने भी कभी इस प्रकार प्रियतम अक्षरातीत के गुणों को नहीं गिना है। तारतम वाणी भी स्पष्ट रूप से यह बात कहती है कि भला ब्रह्मसृष्टियों के बिना अन्य कोई भी अक्षरातीत परब्रह्म के गुणों को इस प्रकार कैसे गिन सकता है? न तो इस प्रकार कोई गिनने वाला पहले हुआ है और न भविष्य में होगा।

मैं गुन गिनूं श्रीधामधनी के रे, पर कमी कागद कलम मस मेरे।
कमी तो केहेती हूँ जो बैठी माया मांहें, ना तो कमी नहीं कछुए क्यांहें।।१७।।

हे साथ जी! यद्यपि मैं अपने प्राणप्रियतम के गुणों को अवश्य गिन रही हूँ, किन्तु मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरे पास उपलब्ध कागज, लेखनी, और स्याही की मात्रा

कम पड़ रही है। "कमी" शब्द का प्रयोग मुझे इसलिये करना पड़ रहा है क्योंकि मैं इस मायावी जगत में बैठकर धनी के गुणों को गिनने का प्रयास कर रही हूँ, अन्यथा परमधाम में तो कहीं भी किसी भी वस्तु (त्रिगुणातीत) की कमी नहीं है।

भावार्थ– परमधाम की प्रत्येक वस्तु परब्रह्ममयी है और अनन्त है। वहाँ त्रिगुणजन्य कोई भी लौकिक वस्तु या षड् विकार आदि नहीं हैं। कमी न होने का यही आशय समझना चाहिए।

साथ कारन मैं करूँ पुकार, देखों वासना मोहजल वार पार।
तेरह धरके गिनूं गुन नील, घने समावें गुन हिरदे असील।।१८।।

सुन्दरसाथ की आत्माओं को जाग्रत करने के लिए मैं यह बात पुकार–पुकार कर कह रही हूँ कि आप सभी

अपनी आत्मिक दृष्टि को इस मोह सागर से परे परमधाम में केन्द्रित कीजिए। अब मैं तेरहवाँ शून्य रखकर धनी के गुणों की गिनती एक नील तक पहुँचा देती हूँ। इस प्रकार धनी के इतने अधिक (खरबों) गुण मेरे वास्तविक हृदय में स्थित हो जाते हैं।

भावार्थ– जीव भाव से परे होकर यहाँ आत्मिक भाव में धनी के गुणों को गिना जा रहा है, इसलिये हृदय के लिये वास्तविक (असल) शब्द का प्रयोग किया गया है। हृदय के अति माधुर्य भावों में ही गणना होती है। यही कारण है कि यहाँ गुणों को आत्मा के धाम हृदय में प्रविष्ट करने (समाने) वाला कहा गया है। वस्तुतः आत्मा उस परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा है, जो अक्षरातीत का अंग है। ऐसी अवस्था में अंगी (श्री राज जी) के गुण अंग (सखियों) में विद्यमान क्यों नहीं कहे जायेंगे?

परात्म का हृदय (दिल) ही आत्मा के रूप में इस मायावी नींद (फरामोशी) की लीला को देख रहा है। स्वलीला अद्वैत परमधाम में होने से वह स्वयं नींद में नहीं है, बल्कि उसकी दृष्टि है। आत्मा का दिल जीव के ऊपर विद्यमान होकर मायावी लीला को देख रहा है, जबकि जीव का दिल उस लीला के भोग में डूबा हुआ है।

इस प्रकार हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जीव का हृदय अपनी इन्द्रियों के माध्यम से भोगासक्त है, आत्मा का हृदय द्रष्टा रूप में है, तथा परात्म का हृदय द्रष्टा के अनुभव को आत्मसात् करने वाला है। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी श्रृंगार के ये कथन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं–

मोमिन असल तन अर्स में, उन दिल बीच ए दिल।
केहेने को ए दिल है, है अर्से दिल असल।।

यद्यपि श्रीमुखवाणी का प्रत्येक शब्द अक्षरातीत के

आवेश द्वारा कहा गया है, किन्तु इसके अवतरण की प्रस्तुति में जीव के तन एवं बुद्धि का भी उपयोग किया गया है। यही कारण है कि प्र.हि. १२/९,१० में स्पष्ट कहा गया है– "देह माफक मैं लिखूं परमान" तथा "मैं गजे माफक करूं प्रकास"। परात्म तथा उसकी निजबुद्धि की शक्ति तो अनन्त है, किन्तु इस नश्वर तन के द्वारा जब श्रीमुखवाणी को शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, तो प्रकृति की मर्यादायें सामने आ जाती हैं। इस अवस्था में जीव अपने मूल भावों को छोड़कर जहाँ आत्म–भाव का अनुसरण करता है, वहीं आत्मा जो माया की नींद के प्रभाव से जीव भाव में विचरण कर रही होती है, अपने मूल आत्म–भाव में परात्म का आश्रय लेकर स्थित हो जाती है।

धनी के गुणों की गिनती के समय तीनों दिलों (परात्म,

आत्मा, तथा जीव) की भूमिका कार्य कर रही होती है। इस मायावी जगत में धनी के गुणों को जब परात्म का दिल आत्मा के दिल के माध्यम से आत्मसात् करता है, तो इसे ही असल दिल तक पहुँचना कहते हैं। जो इस चौपाई के चौथे चरण में दर्शाया गया है– "घने समावें गुन हिरदे असील"।

चौदे धरके करूँ नील दस, गुन प्रकास लेऊँ धनी जस।
पंद्रे धरके करूँ पदम, मेरे धनी के गुन की मैं करूँ गम।।१९।।

इसके आगे चौदहवाँ शून्य रखकर धाम धनी के गुणों की गणना दस नील तक कर लेती हूँ। प्रियतम के अनुपम गुणों को इस प्रकार से उजागर करके मैं यश भी ले रही हूँ। पन्द्रहवाँ शून्य रखकर धनी के गुणों की गणना मैं एक पद्म तक पहुँचा देती हूँ। इस प्रकार गिनती के द्वारा अपने

प्रियतम के गुणों की पहचान करती जा रही हूँ।

सोले धरके करूं पदम दस, गुन नजरों आवते हुए धनी बस।
सत्रे धरके करूं गुन अंक, अठारे धरूं ज्यों होए गुन संक।।२०।।

सोलहवाँ शून्य रखकर दस पद्म तक गणना करती हूँ। धनी के ये गुण जब मेरी दृष्टि (चिन्तन) में आते हैं, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अब तो मेरे प्रियतम मेरे प्रेम के वश में हो ही जायेंगे। इसके आगे सत्रहवाँ शून्य रखकर धनी के गुणों को "अंक" संख्या तक मान लेती हूँ। अब मैं अठारहवाँ शून्य भी रख देती हूँ, जिससे प्रियतम के गुणों की संख्या "शंख" तक पहुँच जाये।

भावार्थ– अपने प्रेमास्पद (माशूक) में गुण ही देखना प्रेमी (आशिक) के लिये अपने प्रेम को अभिव्यक्त करने का एक साधन है। ऐसा करके वह अपने मन में मान

लेता है कि अब मेरा प्रेमास्पद सम्भवतः मेरे प्रेम के वश में हो जायेगा। उपरोक्त चौपाई में प्रियतम को वश में करने का यही आशय है।

सुरिता करूं धरके उनईस, पत गुन ग्रहूं धरके बीस।
अंत करूं धरके इकैस, मध करूं गुन दोए धर बीस।।२१।।

उन्नीसवाँ शून्य रखकर प्रियतम के गुणों की संख्या मैं "सुरिता" तक कर देती हूँ। बीसवाँ शून्य रखकर गुणों की गणना पति (पत) तक पहुँचा देती हूँ। इसी प्रकार एक्कीसवाँ शून्य रखने से श्री राज जी के गुण "अन्त" तक हो जाते हैं। बाइसवाँ शून्य बढ़ाकर गुणों की गणना मध्य तक कर लेती हूँ।

भावार्थ– साहित्यिक दृष्टि से पत और मध के स्थान पर पति तथा मध्य होना चाहिए।

एकड़ा ऊपर तेईस मींडे धरूं, प्रारध करके लेखा मेरा करूं।
लौकिक लेखे गुन न गिनाए, मेरे धनी के गुन यों गिने न जाए।।२२।।

जब मैं एक के आगे तेइसवाँ शून्य रखती हूँ, तो मेरी दृष्टि में गुणों की संख्या प्रारब्ध तक हो जाती है। किन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस प्रकार की लौकिक गणित से तो अपने प्राणवल्लभ के अनन्त गुणों को गिन ही नहीं पाऊँगी।

हिसाब करूं साथ देखियो विचार, गुन जाहेर हुए प्राणके आधार।
प्रारध गुने एक मींडेसों बढ़े, दूजे सों हर एक यों चढ़े।।२३।।

हे साथ जी! मैं अपने प्राणेश्वर के गुणों की जो गणना कर रही हूँ, उसका आप चिन्तनपूर्वक विचार कीजिए। इस प्रकार की गणना से प्रियतम के कुछ गुण तो उजागर हो ही गये हैं। जब मैं इस गणना के आगे एक शून्य बढ़ाती

हूँ, तो धनी के गुण "प्रारब्ध" संख्या से १० गुने अधिक बढ़ जाते हैं तथा दूसरा शून्य बढ़ाने से १०० गुने अधिक हो जाते हैं।

यों करते ए होवें जेते, इन बिध चढ़ते जांए तेते।

ए हिसाब मेरी आतमा करे, गुन धनी हिरदे अंतर धरे।।२४।।

इस प्रकार मैं जैसे–जैसे शून्य बढ़ाती जाती हूँ, उसी अनुपात में (प्रति शून्य १० गुना) धनी के गुणों की संख्या भी बढ़ती जाती है। मेरी आत्मा अपने प्राणजीवन के इन गुणों की गणना करती जाती है तथा अपने हृदय में आत्मसात् भी करती जाती है।

भावार्थ– धनी के गुणों को अपने हृदय में आत्मसात करने का लाभ यह है कि हमारे हृदय में पल–पल अपने प्रियतम के प्रति विरह, प्रेम, श्रद्धा, एवं समर्पण में वृद्धि

होती रहेगी, तथा मायावी संकटों में कभी भी न तो नकारात्मक चिन्तन होगा और न हमारी श्रद्धा, विश्वास, तथा समर्पण की चादर ही फटेगी।

लिखते गुन धनी हिरदे आए, पर डरूं जानों कागद में न समाए।
कलमों को मेरा जीव ललचाए, गढ़ते गढ़ते जानों जिन उतर जाए।।२५।।

प्रियतम के गुणों को लिखते रहने से अब वे गुण मेरे हृदय में बस गये हैं। किन्तु मेरे मन में यह भय बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि गुणों को लिखने में कागज ही छोटा पड़ जाये। मेरे जीव में इस बात का लोभ भी है कि मेरे पास बहुत अधिक लेखनी होनी चाहिये, क्योंकि लिखते–लिखते जब वह घिस जाती है तो मुझे उसे बार–बार चाकू से गढ़ना पड़ता है। ऐसा करने पर मन में यह डर तो समाया ही रहता है कि सारी लेखनी समाप्त

हो जायेगी।

सरफा करूं मैं लिखते स्याही, जिन लिखते अधबीच घट जाई।
यों धरते धरते मींडे रहे भराए, वार किनार सब रहे समाए।।२६।।

अपने प्राणप्रियतम के गुणों को लिखने में स्याही की बचत (कृपणता, कंजूसी) भी इसलिये करती हूँ कि कहीं बीच में ही स्याही की कमी न पड़ जाये। इस प्रकार १ के आगे शून्य लिखते–लिखते सम्पूर्ण कागज भर गया। उसमें किनारे पर या चारों ओर शून्य ही नजर आ रहे थे।

ए कागद यों पूरन भया सही, स्याही कलमें कछू बाकी न रही।
अब ए गुन गिनूं मैं नीके कर, आतम के अंदर ले धर।।२७।।

इस प्रकार प्राणेश्वर के अनन्त गुणों को लिखते–लिखते सम्पूर्ण कागज तो भर ही गया, स्याही और लेखनी में से

कुछ भी नहीं बचा। अब मैं अच्छी प्रकार से अपने प्रियतम के गुणों को गिनने का प्रयास करती हूँ और अपनी आत्मा के हृदय में अखण्ड रूप से बसाती हूँ।

ए तो गुन गिने मैं चित ल्याए, पर इन धनी के गुन यामें न समाए।
भी करूं दूजे लिखने के ठाम, गुन लिखने मेरे धनी श्री धाम।।२८।।

यद्यपि मैंने बहुत ही एकाग्रचित्त से धाम धनी के गुणों को गिना है, किन्तु इस प्रकार की गणना से भी प्रियतम के गुणों को यथार्थ रूप से नहीं गिना जा सका। अतः अपने प्राणवल्लभ के गुणों को गिनने के लिये मैं पुनः दूसरे कागज का उपयोग करती हूँ।

ए गुन मिल जमें भए जेते, या बिध ऐसे कागद लिखे एते।
ऐसे कागद ऐसी स्याही कलम, मांहें बारीक आंक लिखे हैं हम।।२९।।

अब तक धनी के गुणों की जितनी संख्या हुई है, उतनी संख्या के बराबर कागजों पर मैंने गुणों को बारम्बार लिखा। कागजों के इसी क्रम में पूर्ववत् स्याही तथा लेखनियों (कलमों) का भी प्रयोग किया। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा है कि सभी अंक (१ तथा ०) बहुत ही छोटे अक्षरों में लिखे जायें।

इन कलमों की मैं देखी अनी, कछू कर न सकी बारीक घनी।
ए गुन गिन मैं एकठे किए, सो अपने हिरदे में लिए।।३०।।

इस लेखन कार्य में प्रयुक्त होने वाली लेखनियों की बारीक नोक को जब मैंने देखा, तो यही निर्णय किया कि इससे अधिक बारीक नोंक तो मैं किसी भी प्रकार से कर ही नहीं सकती। इस प्रकार प्रियतम के सभी गुणों को गिनकर मैंने एकत्रित किया और अपने धाम हृदय में

आत्मसात् कर लिया।

कलमें समारी जोस बुध बल, घड़ूं रास कर काढ़ के बल।
एक जीव कहियत है कथुआ, ए जो जिमी पर पैदा हुआ।।३१।।

प्रियतम के द्वारा दिये हुए जोश एवं जाग्रत बुद्धि की शक्ति से मैंने लेखनियों को तैयार किया। इसके लिये मैंने वनस्पतियों की टहनियों के टेढ़ेपन को दूर कर सुन्दरतापूर्वक उन्हें तराशा और चाकू से लेखनी की नोंक का निर्माण किया। कथुआ नामक एक बहुत ही छोटा सा कीड़ा होता है, जो इसी पृथ्वी पर पैदा होता है।

कथुए के पांउ का गुन जेता भाग, कलमों की टांक मैं देखी चीर लाग।
इन अनियों आंक लिखे यों कर, ए जेता कागद एती बेर फेर फेर।।३२।।

अब तक धनी के जितने भी गुण गिने गये हैं, उतने ही भाग मैंने कथुए के पैर के किये। उस एक भाग के बराबर मैंने लेखनी (कलम) की नोंक को चाकू से बारीक बनाया। इतनी बारीक नोंक वाली लेखनी से गुणों की संख्या मैंने लिखी। जितने कागज थे, अर्थात् धनी के पूर्व में गिने गये गुणों की संख्या के बराबर, उन पर इसी प्रकार बार–बार बारीक नोंक वाली लेखनी से लिखा।

यों लिख लिखके मैं गिने गुन, पर मेरे धनी के गुन हैं अति घन।
ए गुन मिलाए के एकठे किए, सो नीके कर मैं चित में लिए।।३३।।

इस प्रकार प्रियतम के गुणों को मैंने बार–बार लिखकर गिना, फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है कि धाम धनी के गुण तो बहुत अधिक (अनन्त) हैं। अब तक के गिने हुए सभी गुणों को मिलाकर मैंने एकत्रित किया और उन्हें बहुत

अच्छी तरह से अपने चित्त (हृदय) में बसा लिया।

ए लिखते मोहे केती बेर भई, तिनका निरमान काढ़ना सही।
जेते मिल के भए ए गुन, तेते बांटे किए एक खिन।।३४।।

अपने प्राणेश अक्षरातीत के गुणों को लिखने में मुझे जो भी समय लगा, उसकी माप (हिसाब) होना आवश्यक है। अब तक सभी कागजों पर जितने गुण लिखे गये हैं, उतने भाग एक क्षण के करती हूँ।

बेर भई एक बांटे जेती, ए सब कागद लिखे मांहें बेर एती।
ए लिख लिख के मैं लिखे अपार, अब ए बेर निरने करूं निरधार।।३५।।

क्षण के उस एक भाग में ही मैंने सभी कागजों पर प्रियतम के गुणों को लिख डाला है। इस प्रकार धाम धनी के गुणों को बार–बार लिखकर मैंने उनके अपार गुणों को

लिखने का प्रयास किया है। अब मुझे इस बात का भी निश्चित रूप से निर्णय करना है कि मैंने कितनी बार लिखा है?

गुन जेते महाप्रले भए, वाही जोस में लिख गुन कहे।
बीच में स्वांस न खाया एक, ढील ना करी कछू लिखते विसेक।।३६।।

धाम धनी के जितने गुण गिने गये हैं, उतनी संख्या में यदि महाप्रलय का समय माना जाये, तो उतने समय तक मैंने प्रियतम के जोश में गुणों का वर्णन कर लिया। विशेष बात यह है कि इस लेखन कार्य में मैं इतनी तल्लीन रही हूँ कि एक स्वांस (लेने और छोड़ने) में जो समय लगता है, उतने थोड़े समय को भी मैंने व्यर्थ नहीं जाने दिया, अर्थात् रूकी नहीं बल्कि निरन्तर ही लिखती रही हूँ।

एह जमें मैं गुन की कही, श्री सुंदरबाईऐं सिखापन दई।

साथ जाने लेखा जोर किया अपार, पर मेरे जीव के दरद की न दबी किनार।।३७।।

मैंने धाम धनी के जो भी गुण दर्शाये हैं, उनका योगफल भी यहाँ वर्णित कर दिया गया है। प्रियतम में केवल गुण ही गुण देखने का सिखापन सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने दिया है। सुन्दरसाथ तो यही समझता है कि प्रियतम के अनन्त गुणों का वर्णन करने में मैंने बहुत अधिक परिश्रम किया है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि मेरे हृदय में अपने प्राणेश्वर के गुणों का वर्णन करने का जो इच्छा रूपी सागर है, उसके एक किनारे (अल्प भाग) की भी तृप्ति अभी नहीं हुई है।

भावार्थ– जब परमधाम को देखने एवं उसका वर्णन करने की प्रबल इच्छा से श्री मिहिरराज जी कष्टसाध्य साधनाओं से गुजर रहे थे, उस समय सद्गुरु धनी श्री

देवचन्द्र जी ने उन्हें यह विशेष शिक्षा (सीख) दी कि मिहिरराज! तुम्हारी आत्मा में कोई भी दोष नहीं है। माया के प्रभाव से दोष मात्र जीव में ही होते हैं। जब तक मेरे तन से धाम धनी परमधाम–वर्णन की सेवा ले रहे हैं, तब तक तुम्हारे तन से यह लीला नहीं हो सकती। यदि तुम्हें अधिक शीघ्रता की इच्छा है, तो मुझे अपना तन शीघ्र ही छोड़ना पड़ेगा। क्या तुम्हें यह स्वीकार है?

इस घटना के पश्चात् श्री मिहिरराज जी के मन में यह प्रबल धारणा बन गयी कि किसी भी त्रिगुणातीत स्वरूप आत्मा–परब्रह्म में दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए , बल्कि केवल उनके अलौकिक गुणों का ही चिन्तन करना चाहिए। उपरोक्त चौपाई में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

जीव मेरा बड़ा वतनी पात्र, अजूं जीव जानें ए लिख्या तुछ मात्र।
गुन तो बाकी भरे भंडार, सोई भंडार गुन गिनूं आधार।।३८।।

प्रियतम की कृपा से परमधाम की शोभा, लीला, एवं महिमा का वर्णन करने के लिये मेरे जीव में बहुत अधिक योग्यता (पात्रता) है। धाम धनी के गुणों का इतना अधिक वर्णन करने के पश्चात् भी मेरा जीव यही मान रहा है कि उसने तो नाम मात्र (अति अल्प) ही वर्णन किया है। अभी तो अपने जीवन के आधार प्राणप्रियतम के गुणों के इतने अधिक भण्डार हैं कि उनका वर्णन ही नहीं हुआ है। अब मुझे उन भण्डारों की भी गणना करनी है।

ए गुन गिने मैं हिरदे विचार, गुन जेते भंडार गिने निरधार।
गिनते गिनते बाकी देखे अपार, तिनका भी मैं करना निरवार।।३९।।

इन गुणों को मैंने अपने हृदय से विचार करके गिना था।

जितने गुण गिने, उतने ही उसके भण्डार भी हुए। गुणों के भण्डारों की गिनती करते–करते मैंने देखा कि इनकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अतः मैंने सोचा कि प्रियतम के गुणों के अनन्त भण्डारों की भी कुछ न कुछ सीमारेखा (हिसाब) तो मुझे करनी ही पड़ेगी।

मैं ना करूं तो दूजा करे कौन, कर निरवार ग्रहूं धनी के गुन।
बाकी भंडार का लेखा देऊं मेरे पिउ, ए मुस्किल नहीं कछू मेरे जिउ।।४०।।

धाम धनी के गुणों के अनन्त भण्डारों की संख्या का निर्णय यदि मैं न करूँ तो और कौन करेगा? मेरा यह परम लक्ष्य है कि प्रियतम के गुणों का विवरण स्पष्ट करके अपने हृदय में आत्मसात् करूँ। मैं अपने आराध्य श्री राज जी को उनके गुणों के शेष भण्डारों का भी विवरण देना चाहती हूँ। मेरे जीव के लिये धनी की कृपा

से यह कार्य कर लेना कुछ भी कठिन नहीं लगता।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के प्रथम चरण में अहंकार की नहीं, बल्कि सौभाग्य की भाषा दर्शायी गयी है। श्री इन्द्रावती जी के कहने का आशय यह है कि जब श्री राज जी ने मेरे ऊपर अपार कृपा (मेहर) करके मुझसे अपने गुणों की इतनी गणना करवायी है, तो आगे का कार्य भी वे मुझसे ही लेंगे, अन्यथा उनकी सर्वशक्तिमानता, प्रेम, एवं उज्ज्वल महिमा पर हँसी का धब्बा लग जायेगा।

ए गुन गिन किए जीवें अपने हाथ, पल पल पसरे गुन प्राणनाथ।
ए सब तो कहूं जो गुन ठाढ़े रहे, ए गुन मन की न्यात दौड़े जाए।।४१।।

प्रियतम अक्षरातीत के गुणों को गिनकर ज्यों ही मैंने अपने हस्तगत किया अर्थात् अपनी बुद्धि के अधिकार क्षेत्र में लिया, त्योंही मैंने देखा कि गुणों में तो पल–पल

वृद्धि होती जा रही है। मेरे सर्वस्व श्री राज जी के गुणों का वर्णन तो तभी हो सकता है, जब इनमें वृद्धि न हो। प्रियतम के गुणों की वृद्धि तो, मन के वेग के समान, अनन्त गति से हो रही है।

भावार्थ– हमारा मन स्वयं अपनी अनन्त गति की सीमा का आँकलन (गणना) करने में असमर्थ है। जब माया से उत्पन्न होने वाले जीव के मन का सामर्थ्य इतना अधिक है, तो अक्षरातीत के अनन्त गुणों को प्रकृति की गणनाओं के बन्धन में कैसे बाँधा जा सकता है? उपरोक्त चौपाई में खड़े रहने का तात्पर्य वृद्धि से रहित होना है तथा दौड़ने का आशय गुणों में वृद्धि होने से है।

अब एता तो मैं किया निरमान, और बाकी कहूंगी मांहें फुरमान।
एक खिन के मैं बांटे किए, गुन जेते भाग विचार के लिए।।४२।।

अब मैंने अपने मन में यह निश्चय किया कि शेष बचे हुए गुणों को मैं तारतम वाणी के द्वारा प्रकट कर दूँगी। इसके लिये मैंने अब तक विचारपूर्वक गुणों के जितने भाग की गणना की थी, उतनी संख्या के बराबर एक क्षण का भाग (हिस्सा) किया।

तामें बेर एक बांटे की कही, पिया गुन एते में तेते किए सही।
ए गुन गिनते मेरा कारज सरया, आतम मूल सरूप हिरदे में धरया।।४३।।

उस एक भाग में जो अवधि निश्चित होती है, उतने समय में प्रियतम के जो गुण निश्चित होते हैं, मैंने उतना ही मान लिया। इस प्रकार, गुणों को गिनते–गिनते मेरा अभीष्ट सिद्ध हो गया और मेरी आत्मा के हृदय में मूल स्वरूप श्री राज श्यामा जी विराजमान हो गये।

भावार्थ– इस प्रकरण में अक्षरातीत के गुणों की गणना

करने का मुख्य लक्ष्य है– अपने धाम हृदय में अपने प्राणवल्लभ को बसा लेने का अनुभव करना।

जिस प्रकार योग दर्शन में सविचार तथा सवितर्क समाधि से निर्विचार एवं निवितर्क समाधि में प्रवेश किया जाता है, और अन्ततोगत्वा सम्प्रज्ञात समाधि की परिधि को भी पार करके असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि में स्थित हुआ जाता है जो योग का चरम लक्ष्य होता है, उसी प्रकार प्रियतम अक्षरातीत के गुणों को गिनने में बुद्धि की जो दौड़ लगायी गयी है, वह सवितर्क तथा सविचार समाधि की तरह है। इस के परिणामस्वरूप हृदय में प्रियतम के केवल गुण ही गुण भासने लगते हैं। जिसका प्रतिफल यह होता है कि संसार से मन का सम्बन्ध पूर्णतया टूट जाता है।

चौपाई ३८,३९ में अक्षरातीत के गुणों के भण्डार गिनने

की जो बात है, वह सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था "अस्मिता अनुगत समाधि" है। जब एक क्षण के भी उतने भाग करने की बात आती है जितने गुण गिने गये, तो वहाँ से असम्प्रज्ञात समाधि शुरू हो जाती है। अर्थात् यही वह अवस्था है जिसमें मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार की कोई भूमिका नहीं होगी, केवल तू ही तू का अनुभव होगा तथा अन्तर्दृष्टि में युगल स्वरूप नख से शिख तक की सम्पूर्ण शोभा के साथ दृष्टिगोचर होंगे। उस समय अन्तरात्मा केवल यही पुकारा करेगी– तू ही तू! अनन्त! अनन्त! अनन्त!

गुणों को गिनने के माध्यम से हमें इस बात के लिये प्रेरित किया गया है कि हम संसार के नकारात्मक भावों एवं बौद्धिक वाग्जाल से ऊपर उठकर अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था (मारिफत) को प्राप्त करें।

सारे जनमके क्यों कहूं गुन, पिया देह धर आए किए धंन धंन।
गुन पांच जनम के क्यों कहूं सोय, धनी दया आई धनी की खुसबोए।।४४।।

इस खेल में प्रियतम ने हमारे साथ लीला करने के लिये पाँच बार तन धारण किया और हमें धन्य–धन्य किया। इन पाँचों तनों में उन्होंने जो अलौकिक लीला की है, उसके गुणों का वर्णन हो पाना सम्भव नहीं है। इन लीलाओं में धाम धनी की हमारे प्रति प्रेम भरी अपार दया एवं पल–पल सामीप्यता की सुगन्धि का अनुभव होता है।

भावार्थ– यद्यपि अक्षरातीत या आत्माओं का जन्म नहीं होता, किन्तु परमधाम से बाहर (कालमाया या योगमाया में) अक्षरातीत ने लीला करने के लिये जो भी तन धारण किया, उन्हें जन्म लेना कहा गया है। इस प्रकार का कथन मात्र बोलचाल की भाषा में ही कहा जा सकता है,

दार्शनिक भाषा में नहीं।

लीला में धारण किये गये पाँच तन इस प्रकार हैं–

१. व्रज का (बाल स्वरूप श्री कृष्ण रूप में)

२. रास का (किशोर स्वरूप श्री कृष्ण रूप में)

३. अरब में मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के रूप में

४. श्री देवचन्द्र जी

५. श्री मिहिरराज के तन में।

व्रज–रास एवं अरब की लीला में अक्षर ब्रह्म की आत्मा को अधिष्ठान बनाकर अक्षरातीत के आवेश एवं जोश ने लीला की, जबकि श्री देवचन्द्र जी के तन में श्यामा जी, एवं श्री मिहिरराज जी के तन में श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला की। अरब में ब्रह्मसृष्टियों का अवतरण नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में ये कथन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं–

रूहें गिरों तब इत आई नहीं, तो यों करी सरत।

कह्या खुदा हम इत आवसी, फरदा रोज कयामत।।

खुलासा २/२८

हुकम के अमल में, ना कोई उतरे मोमिन।

बीतक ६२/३३

चिद्घन स्वरूप अक्षरातीत का आवेश या तो आनन्द स्वरूप श्यामा जी एवं सखियों पर अवतरित होगा, या सत अंग अक्षर ब्रह्म पर, क्योंकि परमधाम में ये पाँचों स्वरूप (श्री राज जी, श्यामा जी, सखियाँ, अक्षर ब्रह्म, और महालक्ष्मी) एक ही परब्रह्म के अभिन्न अंग हैं।

ए पांचों अद्वैत एक अंग। बीतक ६९/४३

ईश्वरी सृष्टि या जीव सृष्टि पर चिद्घन स्वरूप श्री राज जी के आवेश के अवतरण का कोई प्रसंग वर्णित नहीं है। कबीर जी, शुकदेव जी, योगेश्वर श्री कृष्ण, आदि में

परब्रह्म के जोश (जिबरील) ने लीला की है। यद्यपि इन तनों से अलौकिक ब्रह्मज्ञान का अवतरण हुआ है, इसलिये इन्हें ब्राह्मी कार्य तो अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु इन्हें परब्रह्म की लीला के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि–

१. इनके समय में ब्रह्मात्मायें अवतरित नहीं हुई थीं।

२. इनके ऊपर चिद्घन स्वरूप अक्षरातीत के आवेश का अवतरण नहीं हुआ था।

३. इनके ऊपर सत अंग अक्षर ब्रह्म के आवेश, जिसे अक्षरातीत का जोश (जिबरील) कहा जाता है, उसने लीला की थी। इस सम्बन्ध में नवरंग वाणी के ग्रन्थ रोसननामा प्र. २ चौ. ३५ का यह कथन देखने योग्य है–

असराफील फिरस्ता निरधार, अक्षर की बुद्धि बुध अवतार।
जबराईल फिरस्ता जेह, अक्षर का इस्क आवेश रूप तेह।।

व्रज–रास के श्री कृष्ण जी, श्री देवचन्द्र जी, एवं श्री महामति जी के अन्दर चिद्घन स्वरूप श्री राज जी के आवेश स्वरूप ने लीला की है तथा यह लीला ब्रह्मात्माओं के साथ हुई है, इसलिये इन्हें ब्रह्मलीला कहते हैं। इन तनों में लीला करने वाले को "साक्षात् अक्षरातीत" कहा गया है। "केहेलाया हिरदे बैठ साख्यात्" प्र. हि. ४/१५ का कथन यही सिद्ध करता है।

यदि यह संशय किया जाये कि व्रज–रास में अक्षर ब्रह्म की जिस आत्मा ने लीला की, उसी ने अरब में भी लीला की। ऐसी अवस्था में जब व्रज–रास के स्वरूप को अक्षरातीत कहा जाता है, तो अरब के स्वरूप को क्यों नहीं?

इसका समाधान यह है कि अरब में अक्षर ब्रह्म की

आत्मा सन्देशवाहक की भूमिका में थी, जबकि व्रज–रास में उसे धनी के आवेश के द्वारा ब्रह्मात्माओं के साथ लीला में सहभागी बनना था।

परब्रह्म को सत्, चित्, तथा आनन्दमय कहा जाता है। चिद्धन स्वरूप श्री राज जी के ही सत् अंग अक्षर ब्रह्म हैं तथा आनन्द अंग श्यामा जी एवं सखियाँ है। इसलिये जब तक चिद्धन स्वरूप का आवेश सत् अंग या आनन्द अंग पर न आये, उसे सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं कहा जा सकता।

यदि यह कहा जाये कि जोश एवं आवेश एक ही हैं, क्योंकि हिन्दी में जिसे "आवेश" कहते हैं, अरबी में उसे ही "जोश" कहते हैं। जब अरब में अक्षर ब्रह्म की आत्मा के साथ धनी का वही "जोश" था जो व्रज–रास में था–

सो सुरत धनी को ले आवेस, नन्द घर कियो प्रवेस।।

प्रगटवाणी ३७/२९

दो भुजा सरूप जो स्याम, आतम अछर जोस धनी धाम।।

प्रगटवाणी ३७/३०

–तो वह अक्षरातीत क्यों नहीं कहे जायेंगे?

इसके उत्तर में यही कहना उचित है कि अक्षर ब्रह्म का आवेश ही "जिबरील" है, जिसे "जोश" कहा जाता है। तारतम वाणी में कहीं–कहीं "जो जोस इश्क करे भीर" कि. ८५/१५ का कथन भी आया है, जिसका आशय इश्क (प्रेम) की शक्ति के रूप में दर्शाया गया है।

जिस प्रकार तारतम वाणी में हिन्दी या संस्कृत के प्रेम, वन, आशा को अरबी में क्रमशः इश्क, जंगल, उम्मेद शब्द से सम्बोधित किया गया है, उसी प्रकार आवेश को भी मानना उचित नहीं है।

यद्यपि भाषा दृष्टि से दोनों एक ही हैं, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से नहीं। अरबी भाषा में वह समृद्धि नहीं है , जो हिन्दी या संस्कृत भाषा में है। अरबी में जीव या आत्मा दोनों के लिये ही "रूह" शब्द का प्रयोग होता है। यही स्थिति आवेश के सम्बन्ध में भी है।

परब्रह्म की संदेशवाहिका शक्ति (जोश) जिबरील है, जिसके द्वारा समय–समय पर अखण्ड ज्ञान अवतरित होता रहा है–

जेते पैगम्बर भए, पाई जबराईल से बुजरकी।

–जबकि आवेश उनका निज स्वरूप है। श्री देवचन्द्र जी को श्यामजी के मन्दिर में आवेश स्वरूप मूल स्वरूप श्री राज जी ने दर्शन दिया था, जोश स्वरूप (जिबरील) ने नहीं। क्या जिबरील कभी श्यामा जी से यह कह सकता है कि तुम मेरी अर्धांगिनी हो और तुमने मुझसे इश्क–

रब्द करके माया का खेल माँगा था? अरब में अवतरित अक्षर ब्रह्म की आत्मा को जब मेयराज होता है, तो उसका वर्णन वह इस प्रकार करती है–

कह्या सुभाने मुझको, हरफ नब्बे हजार।
तीस तुम जाहेर कीजियो, और तीस तुम पर अखत्यार।।
बाकी जो तीस रहे, सो तुम राखियों छिपाए।
बका दरवाजे खोलसी, आखिर को हम आए।।

खुलासा १२/११,१२

दूसरी चौपाई के चौथे चरण में अक्षर ब्रह्म की आत्मा से कहने वाला स्वरूप श्री राज जी का है, जो अब अपने आवेश स्वरूप से महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर तारतम वाणी के द्वारा अपने दिये हुए वायदों को पूरा कर रहा है।

इसके अतिरिक्त "हक साथ मैं आऊँगा" का कथन भी

यही सिद्ध करता है कि अक्षरातीत का स्वरूप मुहम्मद सल्लि. अलैहि वसल्लम से अलग है, क्योंकि यहाँ वे सन्देशवाहक (रसूल) की भूमिका में हैं, जिसमें आवेश स्वरूप की आवश्यकता नहीं थी। यह अवश्य है कि बसरी, मल्की, तथा हकी तीनों श्री राज जी की ही सूरतें हैं।

यद्यपि तारतम वाणी की ये दोनों चौपाइयाँ मुहम्मद साहिब को श्री राज जी के द्वारा धारण किया गया स्वरूप ही घोषित करती है–

ले फुरमान जो हाथ में, केहेलाया मैं रसूल।
ए देखो अरवाहें अर्स की, जिन कोई जावें भूल।।

सनंध १९/९

रसूल आया हुकमें, तब नाम धराया गैन।
हुकम बजाए पीछा फिरया, तब सोई ऐन का ऐन।।

सनंध ३६/६२

परिक्रमा ३/९८ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वरूप एक है लीला दोए। इस आधार पर अक्षर ब्रह्म की आत्मा का धनी के जोश (जिबरील) के साथ अरब में अवतरित होना, श्री राज जी के द्वारा धारण किया गया स्वरूप ही माना जायेगा, क्योंकि अंग (अक्षर ब्रह्म) अंगी (श्री राज जी) का स्वरूप एक ही है।

इसी प्रकार "रातें मारा तमाचा राज ने" बीतक २६/२५ के कथन से बाह्य रूप में अवश्य ऐसा कहा जा सकता है कि श्री राज जी ने सोए हुए महावजी भाई को चाँटा मारा। यह लीला वस्तुतः जिबरील के द्वारा सम्पादित की गयी, परन्तु कथन रूप में श्री राज जी का ही नाम आता है। इसका मूल कारण यह है कि भले ही लीला में, चिद्धन स्वरूप श्री राज जी के साथ विद्यमान,

अक्षर ब्रह्म या जिबरील कुछ करें, सबमें श्री राज जी का ही नाम आयेगा।

इस प्रकार श्री राज जी के द्वारा धारण किये गये पाँच तनों में अरब वाले तन का भी नाम आयेगा, भले ही उस तन में चिद्घन स्वरूप की आवेश लीला न हुई हो।

ए गुन गिने मैं अस्थिर आकार, ना तो यों क्यों गिनूं मेरे प्राण के आधार।
अब बात करसी तुम आग्या केरी, मुझे आसा इत जाग उड़ाऊं अंधेरी।।४५।।

अपने प्राणेश्वर के गुणों की जो मैंने इस प्रकार की गणना की है, वह माया के इस नश्वर तन से की है, अन्यथा यदि मैं अपने अखण्ड तन (परात्म) से अपने प्रियतम का गुणगान करती, तो इतने हल्के रूप में नहीं करती। अब तो मैंने यह निश्चित ही कर लिया है कि आपका जैसा आदेश होगा, मैं वैसा ही कथन करूँगी। मुझे इस

बात का पूर्णतया विश्वास है कि आपकी कृपा की छाँव तले मैं जाग्रत होकर सबके हृदय में विद्यमान अज्ञानता के अन्धकार को नष्ट कर दूँगी।

भावार्थ– अनन्त महिमा वाले प्रियतम परब्रह्म के गुणों को संख्याओं के बन्धन में बाँधना इस नश्वर जगत की ही प्रवृत्ति हो सकती है। परात्म अक्षरातीत की ही अंगरूपा है, इसलिये वहाँ अंग (ब्रह्मसृष्टि) के लिये अंगी (श्री राज जी) ही सर्वस्व हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ गुणों की संख्या बोधक गणना नहीं हो सकती। यही कारण है कि उपरोक्त चौपाई में इस प्रकरण में वर्णित धनी के गुणों की गणना को श्री महामति जी ने बहुत ही हल्का (कम महत्व का) बताया है।

पिउ तुम आए माया देह धर, साथ की मत फिर गई क्यों कर।

हांसी करसी पिउ साथ पर, क्या करसी माया जब मांगी घर।।४६।।

मेरे प्राणधन अक्षरातीत! आपने श्री देवचन्द्र जी का पञ्चभौतिक तन धारण किया। किन्तु न जाने सुन्दरसाथ की बुद्धि ऐसी क्यों हो गयी, जो आपके स्वरूप को न पहचान सकी। अब तो परमधाम में जाग्रत होने पर आप धाम धनी हमारे ऊपर बहुत हँसी करेंगे कि तुमने तो परमधाम में माया का खेल माँगते समय यह बात जोर देकर कही थी कि माया हमारा क्या कर लेगी? हम आपको किसी भी स्थिति में भूलेंगी नहीं, किन्तु मैं तो तुम्हारे साथ ही था, फिर भी तुमने मुझे पहचाना नहीं।

भावार्थ– इस जागनी लीला में श्री राज जी ने प्रत्यक्ष रूप से दो तनों (श्री देवचन्द्र जी और श्री मिहिरराज जी) में लीला की है और परोक्ष रूप में सभी आत्माओं

के धाम हृदय में शाहरग से भी निकट होकर विराजमान रहे हैं, किन्तु आश्चर्य है कि तारतम वाणी का प्रकाश होने पर भी सुन्दरसाथ उन्हें यथार्थ रूप से पहचान नहीं पाये।

तुम लई खबर हमारी ततखिन, ले आए तारतम देखाया वतन।
पिया हांसी करसी अति जोर, भुलाए मायाऐं कर बैठाए चोर।।४७।।

जैसे ही आप श्री देवचन्द्र जी के तन से अन्तर्धान हुए, वैसे ही उसी क्षण आपने मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर सबकी सुधि ली और तारतम वाणी का अवतरण करके मूल घर परमधाम की पहचान करायी। इतना होने पर भी माया ने हमें भुला रखा है और जिस प्रकार चोर घरों से मूल्यवान वस्तुएँ चुरा ले जाते हैं, उसी प्रकार इस माया ने हमसे परमधाम की शोभा, लीला, मूल सम्बन्ध,

प्रेम, एवं आनन्द की चोरी कर ली है। परमधाम में जाग्रत होने पर धाम धनी हमसे इस बात की बहुत अधिक हँसी करेंगे।

भावार्थ– इस चौपाई के प्रथम चरण में तत्क्षण (ततखिन) शब्द का प्रयोग यही दर्शाता है कि यहाँ माया में आने पर श्री देवचन्द्र जी का तन धारण कर तारतम ज्ञान लाने का प्रसंग नहीं है, बल्कि एक तन (श्री देवचन्द्र जी) को छोड़कर दूसरे तन (श्री मिहिरराज जी) में प्रविष्ट होने का कथन है।

अब करेंगे जाए वतन बात, माया अमल चढ़यो निघात।
पिउ कई विध तारतम कियो रोसन, तो भी क्योंए न भैयां चेतन।।४८।।

सुन्दरसाथ के ऊपर माया का गहरा नशा छाया हुआ है। इसलिये अब जब हम परमधाम में जाग्रत होंगे, तो

अपनी इस भूल के सम्बन्ध में बातें करेंगे। यद्यपि धाम धनी ने अनेक प्रकार से तारतम ज्ञान को उजागर किया है, किन्तु महान आश्चर्य की बात है कि अभी भी सुन्दरसाथ माया के प्रति दूर रहने के लिये सावचेत नहीं हो पा रहे हैं।

भावार्थ– श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान होकर धाम धनी ने रास, प्रकाश, एवं षट्ऋतु का अवतरण किया, जिसमें अनेक प्रकार से माया की यथार्थता को दर्शाते हुए प्रियतम के प्रेम में डूबने के लिये प्रेरित किया गया है। इसके अतिरिक्त चर्चा के माध्यम से भी सुन्दरसाथ को जाग्रत करने का प्रयास किया गया। इसे ही उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में अनेक प्रकार से तारतम ज्ञान को उजागर करने की बात कही गयी है।

लेवे इंद्रावती वारने गुन जेते, इत सुख दिए हमको एते।

घर के सुख की इत कैसी बात, घर के सुख घरों होसी विख्यात।।४९।।

मेरे प्राणेश्वर! आपके जितने (अनन्त) गुण हैं, आपने हमें इस संसार में उतने ही (अनन्त) सुख दिये हैं। आपके इस अनुपम प्रेम पर मैं उतनी ही (अनन्त) बार न्यौछावर (समर्पित) होती हूँ। यद्यपि परमधाम के सुख अखण्ड हैं और उनका पूर्ण उपभोग इन नश्वर तनों से हो पाना सम्भव नहीं है, किन्तु उन सुखों का रसास्वादन तो हमारी आत्मा ने किया ही है। इस स्वप्नवत् जगत में भी प्रियतम ने परमधाम के सुखों का अनुभव कराने वाला जो असम्भव सा कार्य था, उसे भी अनायास रूप में लीला द्वारा चरितार्थ कर दिखाया है। अब परमधाम चलकर हम इसकी भी चर्चा करेंगे।

चरनों लाग कहें इंद्रावती, गुन न देखे किन एक रती।

धनी जगाए के देखावसी गुन, तब हांसी होसी अति घन।।५०।।

आपके चरणों में प्रणाम करते हुए मैं इन्द्रावती की आत्मा यह विशेष बात कह रही हूँ कि आपके अनन्त गुणों में से रत्ती मात्र अर्थात् नाममात्र भी गुण की पहचान अभी सुन्दरसाथ को नहीं हो पायी है। जब आप सुन्दरसाथ को जाग्रत करके अपने गुणों की पहचान करायेंगे, तभी वे कर सकेंगे। परमधाम में जाग्रत होने पर इस भूल की (पहचान न कर पाने की) बहुत अधिक हँसी होगी।

प्रकरण ।।१२।। चौपाई ।।३१०।।

साथ को प्रबोध

साथ को सिखापन

इस प्रकरण में यह विशेष रूप से शिक्षा दी गयी है कि वर्तमान समय में अक्षरातीत श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं।

सुनो साथ मेरे सिरदार, वचन कहूं सो ग्रहो निरधार।
एते गुन आपनसों कर, बैठे आपन में माया देह धर।।१।।

मेरे प्रमुख सुन्दरसाथ जी! मैं एक बहुत ही विशेष बात कह रही हूँ। उसे आप अवश्य ग्रहण कीजिए। प्रियतम ने हमारे ऊपर प्रेम भरी अनन्त कृपाएँ की हैं और हमारी आत्म–जाग्रति के लिये हमारे मध्य (मेरे धाम हृदय) में माया का पञ्चभौतिक तन धारण करके विद्यमान हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में प्रमुख (सरदार) का आशय

उन सुन्दरसाथ से है, जो अपने ज्ञान, विवेक, प्रेम, सेवा, आदि गुणों के द्वारा आत्म –जाग्रति के क्षेत्र में अग्रणी हैं।

भानो भरम वचन देख कर, छोड़ो नींद रोसनी हिरदे धर।
श्री धाम के धनी केहेलाए, सो बैठे आपन में इत आए।।२।।

आप इस तारतम वाणी के अनमोल वचनों को आत्मसात् करके अपने संशयों को समाप्त कीजिए। इसके प्रकाश को अपने हृदय में धारण करके अपनी अज्ञान रूपी निद्रा का परित्याग कीजिए। यदि आप अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो आपको यह स्पष्ट रूप से विदित होगा कि प्रियतम अक्षरातीत मेरे धाम हृदय (हमारे मध्य) में आकर विराजमान हो गये हैं।

सेवा कीजे पेहेचान चित धर, कारन अपने आए फेर।

भी अवसर आयो है हाथ, चेतन कर दिए प्राणनाथ।।३।।

हे साथ जी! अपने प्रियतम अक्षरातीत के स्वरूप की पहचान करके उनकी सेवा कीजिए। इस तथ्य को आप अपने चित्त में बसा लीजिए कि हमारी जागनी करने के लिये ही धाम धनी पुनः अपने पहले वाले तन को छोड़कर दूसरे (श्री मिहिरराज जी के) तन में आ गये हैं। इस सम्बन्ध में धाम धनी ने हमें सावचेत भी कर दिया है। उनकी प्रेमभरी सेवा करके रिझाने का हमारे लिये यह स्वर्णिम अवसर है।

इन ऊपर और कहा कहूं, मैं श्रीधनीजी के चरने रहूं।

कर जोड़ करूं विनती, दूर ना होऊँ बेर पाओ पल जेती।।४।।

मेरे प्राणवल्लभ! इससे अधिक मैं और क्या कह सकती

हूँ। मैं अपने दोनों हाथ जोड़कर आपसे यह प्रार्थना करती हूँ कि मैं सर्वदा आपके चरणों में ही रहूँ और चौथाई पल के लिये भी कभी आपसे अलग न होऊँ।

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में धाम धनी तो विराजमान हैं ही, किन्तु इस प्रकार का कथन सुन्दरसाथ को यह सीख देने के लिये किया गया है कि वे पल–पल स्वयं को श्री राज जी की सान्निध्यता में अनुभव करें। तभी वे माया के दुष्प्रभावों से वंचित रहेंगे और जाग्रत हो सकेंगे।

प्रकरण ।।१३।। चौपाई ।।३१४।।

जीव को प्रबोध

इस प्रकरण में जीव को उसके कर्त्तव्य–बोध के सम्बन्ध में शिक्षा दी गयी है।

मेरे अंध अभागी जीव, तू क्यों सूता इत।

बिध बिध धनिऐं जगाइया, अजहूं ना घर सूझत।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे अन्धे भाग्यहीन जीव! तू अभी तक अज्ञान की निद्रा में क्यों सो रहा है? धाम धनी ने तुझे अनेक प्रकार (वाणी चर्चा एवं लीला आदि) से जगाया, फिर भी तुझे अभी तक निज घर की पहचान क्यों नहीं हुई है?

आगे भी तें कहा कियो, चल गए पिउ जब।

अवगुन ना देखे अपने, पिउ मेहेर करी फेर अब।।२।।

अभी कुछ समय पहले जब प्रियतम का अन्तर्धान हुआ था, उस समय भी तूने कौन सा त्याग किया? तू अपने अवगुणों की ओर क्यों नहीं देखता (चिन्तन करता)? धाम धनी तो प्रेम के सागर हैं। उन्होंने पुनः प्रकट होकर अलौकिक मेहर (प्रेम भरी कृपा) की है।

भावार्थ– जीव के अवगुणों का आशय है – मायावी सुखों एवं विकारों में डूबकर प्रियतम के प्रेम को खो देना।

धाम धनी तुझ कारने, आए माया में दोए बेर।
मेहेर ना देखे पिउ की, ऐसो हिरदे निपट अंधेर।।३।।

रे जीव! तू इस बात का भी विचार कर कि प्रियतम तुझे जगाने के लिये इस नश्वर जगत में दो बार आ चुके हैं। पहली बार श्री देवचन्द्र जी के तन में और दूसरी बार श्री मिहिरराज जी के तन में। तुम्हारे हृदय में तो माया का

इतना अधिक घना अन्धकार छा गया है कि तुझे इस बात का नाममात्र भी अनुभव नहीं हो रहा कि धाम धनी तुम्हारे ऊपर अपार प्रेम की वर्षा (मेहर) कर रहे हैं।

आप पकड़ तूं अपना, बल कर आंखां खोल।

दूध पानी दोऊ जाहेर, देख नीके तारतम बोल।।४।।

मेरे जीव! तू स्वयं को जान और अपने आत्मिक बल का उपयोग कर अपनी अन्तर्दृष्टि को खोल। तारतम वाणी के वचनों का अच्छी प्रकार से चिन्तन कर। इससे तुझे अच्छी तरह विदित हो जायेगा कि तेरे लिये क्या हितकारी है– मायावी सुखों का मोह या प्रियतम परब्रह्म का प्रेम।

पेहेले तो आंखां फूटियां, अब तो कछुक संभाल।

ए जासी अवसर हाथ से, पीछे होसी कौन हवाल।।५।।

पहले तो तेरी आँखें फूटी हुई थीं, अर्थात् जब धाम धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्दर लीला कर रहे थे तब तुमने उनकी पहचान नहीं की कि यह कौन हैं? अब तो तुम कुछ सम्भल जाओ और पहले वाली भूल को न दोहराओ। अब वही धाम धनी तेरे (मिहिरराज जी के) तन में बैठकर लीला कर रहे हैं। तू पूर्ण श्रद्धा–समर्पण के साथ उनकी सेवा करके रिझा ले, अन्यथा जब यह सुनहरा अवसर चला जायेगा तो यह सोच लेना कि उस समय प्रायश्चित की अग्नि में जलने की तुम्हारी अवस्था क्या होगी?

आगे उलटा हुआ अकरमी, अजहूं ना करे कछु सुध।
जागत नहीं क्यों जोर कर, ले हिरदे मूल बुध।।६।।

मेरे निष्क्रिय कर्महीन जीव! इसके पहले (श्री देवचन्द्र जी के समय) तो तू परमधाम के विपरीत ही राह अपनाता रहा। तुझे इस जागनी वेला में भी आत्म–जाग्रति की कुछ सुध नहीं हो पा रही है। अपने हृदय में जाग्रत बुद्धि के ज्ञान का प्रकाश भर कर, तू जाग्रत होने के लिये पूर्ण प्रयास क्यों नहीं करता?

पुकार सुनी दोऊ पिउ की, वतन देखाया नजर।
उठी ना अंग मरोर के, अब आई नजीक फजर।।७।।

मेरी आत्मा! तूने दोनों तनों (श्री देवचन्द्र जी एवं श्री मिहिरराज) से होने वाली लीला में जाग्रत होने के लिये प्रियतम की प्रेम भरी पुकार सुनी है। उन्होंने तारतम ज्ञान

के प्रकाश में परमधाम की भी पहचान करा दी है, फिर भी तू मायावी नींद को छोड़कर जाग्रत क्यों नहीं हो जाती। अब तो तारतम ज्ञान का सूर्य उग जाने से प्रभात का उजाला भी फैलने लगा है।

भावार्थ– "अंग मरोड़ कर" उठने का आशय है– अंगड़ाई लेते हुए उठना। यह अवस्था नींद छोड़कर उठते समय होती है। उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में "उठी" शब्द का प्रयोग है, जो यह सिद्ध करता है कि यहाँ आत्मा के लिए सम्बोधन है, जीव के लिए नहीं।

तारतम देख विचार के, पिउ ल्याए बेर दोए।

एती आग सिर पर जली, तूं रह्या खांगडू होए।।८।।

मेरे जीव! तू जरा इस बात का विचार करके देख कि प्रियतम तुझे जाग्रत करने के लिये दोनों तनों से दो बार

तारतम ज्ञान लाये। तुम्हारे सिर पर ज्ञानाग्नि की इतनी अधिक ज्वाला धधकी, किन्तु तुम्हारे ऊपर इसका नाम मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा।

भावार्थ– "एक में उपज्या तारतम, दूजे मिने उजास" प्र.हि. ३१/१२७ के आधार पर यही कहना उचित होगा कि श्री देवचन्द्र जी के तन से एक चौपाई का तारतम ज्ञान अवतरित हुआ, जिसे वे चर्चा के द्वारा विस्तृत रूप प्रदान करते रहे। दूसरे तन से शेष ५ चौपाइयों के साथ विस्तृत रूप में सम्पूर्ण श्रीमुखवाणी का अवतरण हुआ।

सनद ग्रन्थ के अवतरण के साथ ही "निजनाम श्री जी साहिब जी" का प्रचलन हो गया, क्योंकि इस स्वरूप से वेद–कतेब की दोनों धाराओं के ज्ञान की अमृत धारा प्रवाहित होनी प्रारम्भ हो गयी थी। यह विशेष बात है कि प्रकास हिन्दुस्तानी एवं कलस हिन्दुस्तानी का अवतरण

सनद ग्रन्थ के अवतरण के पश्चात् ही हुआ था।

"सिर पर आग जलने" का आशय है– मस्तिष्क द्वारा ज्ञान के प्रकाश को ग्रहण करना। "खांगडू" दाल का ऐसा अन्न है, जिसे कितना भी गर्म जल में उबाला जाये किन्तु वह गलता नहीं है।

प्रकरण ।।१४।। चौपाई ।।३२२।।

मेरे जीव अभागी रे, जिन भूले तूं अब।

इन मोहजल से काढ़न वाला, ऐसा ना मिलसी कोई कब।।१।।

मेरे हतभाग्य (भाग्यहीन) जीव! तू इस समय अपने प्रियतम परब्रह्म को न भूल। तू इस रहस्य को अच्छी तरह से जान ले कि इस भवसागर से निकालने वाला परब्रह्म (श्री प्राणनाथ जी) के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है और न भविष्य में अन्य कोई उनका स्थान ले सकता है।

ए गुन तूं याद कर, जो किए अनेक सजन।

तूं क्यों सूता जीव अभागी, देकर साहेबी मन।।२।।

रे मन्दभाग्य जीव! प्रियतम ने तुम्हारे ऊपर अनेक प्रकार से अपनी प्रेमभरी कृपा की वर्षा की। तू उनके इस गुण को क्यों नहीं याद करता? तू मन को इतना अधिक

स्वामित्व देकर, अर्थात् मन के अधीन होकर, माया की गहरी निद्रा में इस प्रकार क्यों सो रहा है?

भावार्थ– यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार), आदि जीव के ही अधीन होते हैं, किन्तु जब इन्द्रियाँ मन की तृष्णाओं के भोग में डूब जाती हैं, तो जीव असहाय अवस्था में मूक दर्शक की भांति प्रतीत होता है। इसे ही मन को स्वामी बनाने की बात से दर्शाया गया है। वास्तविकता यह है कि मन को जीव के अधीन रहना चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब जीव जाग्रत हो और इन्द्रियों के राजा मन के प्रपञ्चों (सुखों की तृष्णा) में न फँसे।

पेहेले तें काढ़े वचन, सो क्या मन की दोर।

बुध मन तेरे बैठे रेहेसी, जीव को क्रोध काढ़सी जोर।।३।।

पहले तो तूने प्रियतम के वियोग में हृदय को झकझोरने वाले वचन कहे, तत्पश्चात् उनके अनन्त गुणों को भी गिनने का प्रयास किया। तुम्हारे इस प्रकार के रूखे व्यवहार से तो ऐसा लगता है कि कहीं वह सब तुम्हारे मन की भावुक कल्पना की दौड़ तो नहीं थी। यदि तुम्हारी बुद्धि और मन इसी प्रकार मायावी तृष्णाओं में ही लिप्त रहेंगे, तो प्रियतम का आदेश तुम्हें अपनी शक्ति से क्रोधपूर्वक यहाँ से परमधाम ले जायेगा।

भावार्थ– यद्यपि अक्षरातीत की कोई भी लीला क्रोध वाली नहीं होती है, किन्तु इस प्रकार के कथन का भाव यह है कि यदि जीव निरन्तर माया में ही फँसा रहता है और बार–बार प्रबोधित करने पर भी अपने में कोई परिवर्तन नहीं लाता है, तो उसकी इच्छा (माया में फँसे रहने की) के विपरीत उसे बलपूर्वक माया से निकाला

(हटाया) ही जाता है।

जीव तूं क्यों होत है निलज, तोहे अजूं ना लगे घाए।
याद करके पिउ को, क्यों ना उड़े अरवाए।।४।।

मेरे जीव! तू इस प्रकार माया में लिप्त होकर निर्लज्ज क्यों होता जा रहा है? तेरे हृदय में विरह–प्रेम की पीड़ा (चोट) क्यों नहीं हो रही है? प्रियतम अक्षरातीत की प्रेम भरी याद में तू अपने इस नश्वर तन का परित्याग क्यों नहीं कर देता?

जो अब जीवरा भूलसी, तो देखी तेरी बिध।
काढूंगी तुझे जोर से, करके बुरी सनंध।।५।।

रे जीव! अब मैंने तुम्हारी वास्तविकता जान ली है। तू अब तक प्रियतम को भुलाता रहा है, किन्तु यदि अब

उन्हें नाममात्र भी भुलाने का प्रयास करेगा, तो याद रख, तुझे विरह की भट्ठी में डालकर बुरी तरह तड़पाऊँगी और तुझे बलपूर्वक माया–जाल से निकालूँगी।

पेहेले तो तें बुरी करी, अब जिन चूके अवसर।

पिउ तोकों वतन में, बुलावत हैं हँसकर।।६।।

पहले तन की लीला में तूने भयंकर अपराध किया, जो अपने प्राणेश्वर को ही भुला बैठा। अब इस दूसरे तन की लीला में किसी भी स्थिति में तू अपने आराध्य को न भूल। उन्हें रिझाने का सुनहरा अवसर न खो। प्रियतम तुझे हँसते हुए निज घर बुला रहे हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में यह संशय होता है कि जीव का घर किसके लिये सम्बोधित किया गया है? परमधाम के लिये, सत्स्वरूप के लिये, या श्री इन्द्रावती जी के

धाम हृदय के लिये?

परमधाम तो पूर्णात्पूर्ण है। उसमें से किसी ब्रह्मसृष्टि का निष्कासन, या कालमाया और योगमाया के किसी भी चैतन्य का उसमें प्रवेश असम्भव है। सत्स्वरूप में भी उसका प्रवेश तभी होगा, जब जागनी लीला समाप्त हो जायेगी तथा इस ब्रह्माण्ड (सौर मण्डल) का प्रलय हो जायेगा।

वस्तुतः श्री इन्द्रावती जी का हृदय ही वह धाम है, जिसमें विराजमान अक्षरातीत उनके जीव को जाग्रत होने के लिये पुकार रहे हैं।

यदि यह कहा जाये कि श्री इन्द्रावती जी के जीव के द्वारा धारण किये गये तन में ही तो धाम धनी विराजमान हैं, पुनः उस जीव को जाग्रत करने के लिये बार-बार पुकार क्यों लगायी जा रही है? जब अक्षरातीत ही उस

जीव के तन में बैठे हैं, तो जीव का नींद में होना असम्भव है।

इसके समाधान में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण तारतम वाणी में श्री इन्द्रावती जी ने स्वयं को ही दोषी बनाकर जाग्रति के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे शिक्षा लेकर सुन्दरसाथ जाग्रत हो सकें। यदि कहीं सुन्दरसाथ को सम्बोधित करके कहा भी है, तो बहुत ही विनम्र एवं प्रेम भरे शब्दों में, जैसे–

तुम सयाने मेरे साथ जी, जिन रहो विखे रस लाग।
पांऊ पकड़ कहे इन्द्रावती, उठ खड़े रहो जाग।।

श्री इन्द्रावती जी के जीव ने तो स्वयं को हब्शे में विरह की प्रचण्ड अग्नि में तपाया ही है, किन्तु जहाँ भी उसे ऐसा करने के लिये कहा जा रहा है, वहाँ हम सुन्दरसाथ को समझना चाहिए कि यह परोक्ष रूप से हमारे लिये ही

कहा गया है।

ससुई सो भी यों कहे, मैं हाथों अपना मार।

पुनों की बधाई में, देऊँ कोट सिर उतार।।७।।

अपने प्रियतम के विरह में तड़पती हुई शशि (शशुई) इस प्रकार कहती है कि जो भी व्यक्ति मेरे पुन्नू के आने की बधाई देगा, उसे मैं करोड़ों बार अपना शिर काटकर समर्पित कर दूँगी।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के द्वारा सूफी मत में प्रचलित शशि–पुन्नू की अमर प्रेम कहानी के माध्यम से यह सीख दी गयी है कि जब जीवों में इतना गहरा प्रेम होता है, तो हम सच्चिदानन्द परब्रह्म को अपनी आत्मा का प्रियतम मानकर भी क्यों नहीं प्रेम करते? यह कहानी इस प्रकार प्रचलित है–

सिन्ध प्रान्त के भम्बोर के राजा के यहाँ एक कन्या का जन्म होता है, जिसके सम्बन्ध में ज्योतिषी भविष्यवाणी करते हैं कि इसका जन्म अशुभ है। परिणाम स्वरूप राजा उसे लकड़ी के बक्से में बन्द करके सिन्धु नदी में बहा देता है।

नदी में उस बहते हुए बक्से को एक धोबी पा जाता है। खोलने पर उसमें से चन्द्रमा जैसी सुन्दर कन्या प्राप्त होती है, जिसे अपनी पुत्री मानकर उसका नाम शशि रख देता है। सूफी फकीरों ने उसे शशुई कहकर सम्बोधित किया है।

युवा होने पर शशि के सौन्दर्य का समाचार चारों ओर फैल जाता है। बलूचिस्तान के बादशाह मीर अली होत खान के बेटे मीर पुन्हुन खान (मीर दोस्तिन होत) तक यह सूचना पहुँच जाती है। पुन्नू उससे मिलने के लिये

सादे वस्त्रों में आता है और पहली ही दृष्टि में उसे शशि से प्रेम हो जाता है।

जब पुन्नू शशि के धर्मपिता धोबी से विवाह का प्रस्ताव रखता है, तो वह यह शर्त रखता है कि यदि तुम वस्त्रों को अच्छी तरह से धो लोगे, तो तुम्हारा विवाह हो जायेगा। वस्त्र धोते–धोते शशि और पुन्नू में प्रेम बहुत गहरा हो जाता है। पुन्नू एक–एक वस्त्र में अशर्फियाँ डालकर धोबी को प्रसन्न कर लेता है। अन्ततः उन दोनों का विवाह हो जाता है।

किन्तु पुन्नू के घर वालों को यह स्वीकार नहीं था कि उसका विवाह एक सामान्य परिवार की लड़की से हो। इसलिये अपने राजघराने की गरिमा की रक्षा के लिये वे रात्रि के समय पुन्नू को बहुत अधिक शराब पिलाकर बेहोश कर देते हैं और चुपचाप राजमहल ले आते हैं।

जब शशि को यह पता चलता है कि उसका प्रेमी उसे छोड़कर चला गया है, तो उसकी खोज में वह घर से अकेले ही निकल पड़ती है। विरह में तड़पती हुई वह रेगिस्तान में भटकने लगती है। एक चरवाहा पानी पिलाकर उसकी प्राण रक्षा तो करता है, किन्तु उसके मन में पाप आ जाता है। फलस्वरूप अपनी पवित्रता की रक्षा के लिये वह वहाँ से भाग जाती है और रेगिस्तान में पुन्नू को पुकारते–पुकारते अपना तन छोड़ देती है।

पूर्वोक्त चौपाई में पुन्हुन के आने की बधाई का समाचार लाने वाले के लिये अपने शिर को करोड़ों बार न्योछावर करने की बात यहाँ पर ही घटित होती है।

इधर प्रातःकाल जब पुन्नू की नींद टूटती है, तो वह भी शशि की याद में अपने राजमहल को छोड़कर भाग निकलता है। उसे खोजते–खोजते वह भी उसी

रेगिस्तान में वहाँ पर पहुँच जाता है, जहाँ उसे वही चरवाहा मिलता है जिसने शशि को पानी पिलाया था। पुन्हुन की विरहावस्था को देखकर चरवाहा सारी स्थिति को समझ जाता है और उसे सारी बात बताकर वहाँ ले जाता है, जहाँ शशि ने अपना तन छोड़ा था।

पुन्नू वहाँ पहुँचते ही विरह में पागल हो जाता है तथा तड़पते–तड़पते रेगिस्तान की बालू में अपना तन छोड़ देता है। इस प्रकार दोनों प्रेमी एक ही स्थान पर एक दूसरे के विरह में अपने शरीर का परित्याग कर देते हैं।

सूफी मत के अनुसार इन प्रेमियों पद्मिनी–रत्नसिंह, लैला–मजनू, सोहनी–महिवाल, तथा हीर–रांझा ने भी इसी प्रकार एक–दूसरे के विरह में अपना तन छोड़ दिया था। ये प्रेमी परमधाम की ब्रह्मसृष्टियों को यह सन्देश दे रहे हैं कि तारतम न होने पर भी उनका त्याग भरा प्रेम

प्रशंसनीय है।

क्यों ना देखे ए वचन, भट परो मेरे जिउ।

तूं लेत निमूना किनका, तूं कौन कौन तेरा पिउ।।८।।

मेरे जीव! तुझे धिक्कार है। लौकिक प्रेम की यथार्थता को दर्शाने वाले इन वचनों को तू क्यों नहीं देखता? प्रेम के स्वरूप को समझाने के लिये जीव सृष्टि के इन प्रेमियों का नमूना लेते समय जरा सोच कि तू कौन है और तेरा प्रियतम कौन है?

भावार्थ– जीवसृष्टि के प्रेमियों शशि–पुन्हुन, हीर–रांझा, सोहनी–महिवाल, लैला–मजनू, आदि ने एक–दूसरे के वियोग में अपना शरीर छोड़ दिया। ये कोई महामानव या ऋषि–मुनि नहीं थे, बल्कि हृदय के सर्वस्व प्रेम को इन्होंने एक–दूसरे पर लुटा दिया था। इनका अध्यात्म से

कोई नाता भी नहीं था। इसके विपरीत श्री मिहिरराज जी के जीव पर परमधाम की इन्द्रावती की आत्मा विराजमान है और तारतम ज्ञान के प्रकाश में उसे अक्षरातीत की भी पहचान हो चुकी है। ऐसी स्थिति में श्री मिहिरराज जी का जीव संसार में अक्षरातीत के बिना कैसे रह पा रहा है, यह सबसे अधिक अचम्भित करने वाली बात है। क्या उसके प्रेम का स्तर जीवसृष्टि के पूर्वोक्त प्रेमियों से भी निम्न है?

दुनियां चौदे भवन में, जो देखिए मूल अर्थ।
जो लेवे तेरा निमूना, ऐसा ना कोई समरथ।।९।।

रे जीव! यदि तारतम ज्ञान के प्रकाश में उपरोक्त कथन के वास्तविक आशय को देखा जाये तो यही स्पष्ट होता है कि चौदह लोकों के इस संसार (सौर मण्डल) में ऐसा

कोई भी सामर्थ्यवान व्यक्ति नहीं है जो तुम्हारी बराबरी कर सके।

तूं निमूना माया जीव का, क्यों कर लेवे इत।

ए दाग तेरा क्यों छूटहीं, ए तुझे लाग्या जित।।१०।।

जीव सृष्टि के इन प्रेमियों से भला तू अपनी तुलना क्यों कर रहा है? निःसन्देह तेरी गरिमा सर्वोपरि है। पर याद रख! प्रियतम से प्रेम करने में इन सांसारिक जीवों से भी तू जो पीछे रह गया है, इसका तुम्हारे ऊपर अमिट कलंक (दाग) लग चुका है। तुझे इस बात का भी विचार करना है कि अपने ऊपर लगे इस दाग को तू कैसे धोयेगा?

अजूं सुध तोको ना होत, तेरी क्यों हुई ऐसी रसम।

याद कर अपना वतन, जो तें सुनी बात खसम।।११।।

आश्चर्य है कि तुम्हें अभी भी इस बात की सुधि नहीं हो पायी है कि प्रेम के क्षेत्र में तुम्हारी इतनी दयनीय स्थिति क्यों हो गयी? प्रियतम (श्री देवचन्द्र जी) से तुमने अपने मूल घर (परमधाम) के विषय में जिन अमृतमयी वचनों को सुना है, उन्हें हृदयगम (आत्मसात्) करो।

भावार्थ– जीव जब आत्मिक भावों में डूबा होता है, तो उस स्थिति में परमधाम को उसका मूल घर कहने में कोई दोष नहीं लगेगा, क्योंकि उस समय वह स्वयं को ब्रह्मात्मा ही मान रहा होता है। इतना अवश्य है कि परमधाम में मात्र आत्मा ही जायेगी तथा जीव ब्रह्मसृष्टियों की परात्म का प्रतिबिम्बित रूप धारण कर सत्स्वरूप की पहली बहिश्त में अखण्ड सुख का रसपान करेगा।

तूं भूल जात क्यों वचन, जो श्री धाम धनी कहे आप।
एक आधा सुकन विचारते, तो पलक न छोड़े मिलाप।।१२।।

मेरे जीव! प्रियतम अक्षरातीत ने श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर जिन अनुपम वचनों को कहा है, उन्हें तू भूलता क्यों जा रहा है? यदि तू उनके द्वारा कहे गये अति अल्प (एक–आधा) वचनों का भी विचार कर लेता, तो तू पल भर के लिये उनसे अलग होना सहन नहीं कर सकता था।

तोको कहूं अभागी अकरमी, जो जाग्या न एते सोर।
सात बेर तोको कहूं सोहागी, जो तूं उठे अंग मरोर।।१३।।

प्रियतम के द्वारा परमधाम के ज्ञान की ऐसी अलौकिक वर्षा करने पर भी तू जाग्रत नहीं हो सका है, इसलिये मुझे विवश होकर तुझे भाग्यहीन एवं निष्क्रिय (निठल्ला)

कहना पड़ रहा है। यदि तू अपने प्रमाद एवं आलस्य को छोड़कर जाग्रत हो जाये, तो मैं उच्च स्वर से सात बार पुकार–पुकार कर यह कहूँगी– तू सुहागी है, तू सुहागी है।

भावार्थ– सुहागी का तात्पर्य है– जिसका सुहाग हो, अर्थात् अक्षरातीत को पतिव्रत–साधन से रिझाने वाला। तमोगुण से उत्पन्न नींद में प्रमाद –आलस्य स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। अंगों को मरोड़ने का आशय इन्हें त्यागने से है।

प्रकरण ।।१५।। चौपाई ।।३३५।।

मेरे जीव सोहागी रे, जिन छोड़े पिउ कदम।

दूसरी बेर माया मिने, तुझ कारन आए खसम।।१।।

पतिव्रता भाव में डूबे रहने वाले मेरे जीव! अब तू किसी भी स्थिति में प्रियतम के चरण कमलों को न छोड़। तुझे यह बात सदा ही अपने मन में बसाये रखनी होगी कि तुझे जगाने के लिये ही धाम धनी अपने पहले वाले (श्री देवचन्द्र जी के) तन को छोड़कर पुनः मेरे इस पञ्चभौतिक तन में विराजमान हुए हैं।

गुन धनी के याद कर, पकड़ पिउ के पाए।

सुखे बैठ सुखपाल में, देसी वतन पोहोंचाए।।२।।

तू प्रियतम अक्षरातीत के अनन्त गुणों को याद कर तथा उनके चरणों को दृढ़तापूर्वक पकड़ ले, अर्थात् उनके प्रति अटूट आस्था और विश्वास रख। इस प्रकार तू

निश्चित रूप से विरह–प्रेम के सुखपाल में बैठकर परमधाम पहुँचेगा, अर्थात् जाग्रत हो जायेगा।

भावार्थ– जीव भी विरह–प्रेम में डूबकर श्री राज जी एवं सम्पूर्ण परमधाम की शोभा को देख सकता है। उसे केवल सखियों या श्यामा जी का स्वरूप नहीं दिखायी देगा। "बदले आप देखावत, प्यारी निसबत रखे छिपाए" सागर १४/२७ के कथन से यही निष्कर्ष निकलता है।

खेल हँस कर बातड़ी, पेहेचान अपना पिउ।

दो बेर धनी तुझ कारने, आए जान अपना जिउ।।३।।

मेरे जीव ! तू प्रियतम अक्षरातीत के साथ हँसते–खेलते हुए बातें कर और उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान। ये धाम धनी तुझे अपना जानकर ही तो तुम्हें जागनी का सुख देने के लिये दो बार मानव तन धारण करके आये

हैं।

भावार्थ– हँसते–खेलते हुए बातें करने का आशय है– प्रफुल्लित मन से धाम धनी को रिझाना।

यहाँ यह संशय होता है कि जब धाम धनी श्री मिहिरराज जी के ही तन में लीला कर रहे हैं, तो उनका जीव उनसे कैसे बातें कर सकता है?

इसका समाधान यह है कि यह कथन परोक्ष रूप से पाँचवें या छठवें दिन के अन्य सुन्दरसाथ के लिये किया गया है। श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत श्री राज जी से कोई भी कहीं भी अपने भावों को आदान–प्रदान कर सकता है, चाहे वह ध्यान (चितवनी) के द्वारा हो या भावलीनता के द्वारा। इसे ही बातें करना कहा जाता है। लौकिक बातों का यहाँ कोई भी स्थान नहीं है। अक्षरातीत सार्वकालिक हैं और इस

जागनी ब्रह्माण्ड में श्री महामति जी को ही अक्षरातीत कहलाने की शोभा है। "नाम सिनगार शोभा सारी, मैं भेख तुमारो लियो" किरंतन ६२/१५ से यही निष्कर्ष निकलता है।

हैं कैसे धनी देख तूं, तोसों करी है ज्यों।

आप ना रख्या आपना, सो याद न कीजे क्यों।।४।।

तू जरा इस बात की पहचान भी तो कर कि तुझसे इस प्रकार अगाध प्रेम करने वाले प्रियतम कैसे हैं? तू इस बात को अच्छी तरह से याद क्यों नहीं करता कि तेरे प्रति प्रेम में उन्होंने अपने अक्षरातीत होने का भी भाव नहीं रखा।

भावार्थ– "तब हंसकर आंझू आन के कहया, पर तिन समें हम कछुए न लया" प्र. हि. १०/७ आदि के कथनों

से यह स्पष्ट होता है कि धाम धनी ने प्रेम की गहनता में स्वयं को मानवीय भावों में भी डुबा दिया। अन्यथा राग–द्वेष से सर्वथा परे, निर्विकार सर्वशक्तिमान अक्षरातीत द्वारा आँसू बहाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में कथित प्रेम में अपने अस्तित्व (अक्षरातीतपना) को मिटा देने का यही अभिप्राय है।

कर हिंमत बांध कमर, ले हुकम सब हाथ।

पिउ पास हो पेहेचान के, और छोड़ सब साथ।।५।।

रे जीव! तू आत्म–जाग्रति के लिये साहस करके तैयार हो जा। प्रियतम तुझे जाग्रत करना चाहते हैं। उनकी इस इच्छा को तू पूर्ण रूप से शिरोधार्य करके तारतम ज्ञान द्वारा उनकी पहचान कर तथा प्रेम के पंख लगाकर

उनकी सामीप्यता (सान्निध्यता, साक्षात्कार) को प्राप्त कर। उनके अतिरिक्त माया के अन्य सगे–सम्बन्धियों का मोह भी छोड़ दे।

आप कहियो अपने साथ को, जो तुझे खुले वचन।
सुध तो नहीं कछू साथ को, पर तो भी अपने सजन।।६।।

मेरे जीव! तारतम वाणी के जो भी गुह्य रहस्य तुझे विदित हों, उन्हें सुन्दरसाथ से अवश्य बताना। यद्यपि सुन्दरसाथ को प्रियतम की कुछ भी सुधि नहीं है, फिर भी वे अपने धाम के साथी हैं या तारतम ज्ञान के कारण सहचर हैं। इसलिये उन्हें अलौकिक ज्ञान के अमृत बिन्दु देने में संकोच नहीं करना चाहिए।

भावार्थ– तारतम ज्ञान को आत्मसात करने के कारण ईश्वरीसृष्टि या जीव सृष्टि भी सुन्दरसाथ ही कहलाती है।

इसलिये गुह्य ज्ञान का अमृत उन्हें भी अवश्य देना चाहिए।

प्रकरण ।।१६।। चौपाई ।।३४१।।

इस प्रकरण में समस्त सुन्दरसाथ को आत्मिक जाग्रति हेतु प्रबोधित किया गया है।

मेरे साथ सोहागी रे, पिउसों क्यों न करो पेहेचान।

पेहेले चले पेहेचान बिना, फेर आए सो अपनी जान।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि प्रियतम के प्रेम में डूबे रहने वाले मेरे सुहागी सुन्दरसाथ जी! आप सभी अपने प्राणेश्वर की पहचान क्यों नहीं करते हैं? जब धाम धनी पहले (श्री देवचन्द्र जी के) तन में लीला कर रहे थे, उस समय आपने उनकी पहचान नहीं की और वे अन्तर्धान हो गये। इस समय परमधाम के मूल सम्बन्ध से उन्हें पुनः हमारे मध्य (मेरे धाम हृदय में) आना पड़ा है।

सोई पिउ सोई बातड़ी, फेर सोई करे पुकार।

कारन अपने पिउ को, आंखों आवे जलधार।।२।।

मेरे धाम हृदय में लीला करने वाले वही धाम धनी हैं, जो पहले श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला कर रहे थे। वे पहले की तरह ही अखण्ड व्रज, अखण्ड रास, एवं परमधाम के ज्ञान की चर्चा कर रहे हैं। वे सबको जाग्रत होने के लिये तारतम वाणी से बार-बार पुकार रहे हैं। हमें माया में फँसा हुआ देखकर प्रियतम की आँखों में आँसू बह रहे हैं कि ये कब जाग्रत होंगे?

भावार्थ- सच्चिदानन्द परब्रह्म पूर्णतया निर्विकार हैं। वे किसी भी स्थिति में आँसू नहीं बहा सकते। आँसू बहाने का कथन भाषायी सौन्दर्य के रूप में है। श्री महामति जी के जिस हृदय धाम में विराजमान होकर धाम धनी लीला कर रहे हैं, उसमें आत्माओं को शीघ्र-अतिशीघ्र जाग्रत

करने की जो असीम पीड़ा छिपी हुई है, उसे ही यहाँ आलंकारिक रूप में आँसू बहाना कहा गया है।

सोई नसीहत देत सजन, खैंचत तरफ वतन।

पिउ पुकारें बेर दूसरी, अब क्यों होंए पीछे आपन।।३।।

प्रियतम पहले तन की लीला की तरह ही इस तन से भी जाग्रत होने की वैसी ही शिक्षा दे रहे हैं और सबको परमधाम की ओर दृष्टि करने के लिये प्रेरित कर रहे हैं। जब धाम धनी हमें जाग्रत करने के लिये दूसरे तन से पुकार रहे हैं, तो हम उनके दर्शाये हुए मार्ग पर चलने से पीछे क्यों हटें?

सोई कूकां करे पेहेले की, सो क्यों न समझो बात।

न तो दिन उजाले खरे दो पोहोरे, अब हो जासी रात।।४।।

हे साथ जी! आप इस बात को क्यों नहीं समझ पा रहे हैं कि श्री राज जी पहले वाले तन से जिस प्रकार तारतम ज्ञान की अमृतमयी वर्षा करते थे, वही लीला अब इस दूसरे (श्री मिहिरराज जी के) तन से भी कर रहे हैं। यद्यपि इस समय तारतम ज्ञान के उजाले से माया की रात्रि का अन्धकार मिट चुका है तथा दोपहर के तपते सूर्य जैसी स्थिति बन गयी है, किन्तु यदि आपने इस स्वरूप (श्री प्राणनाथ जी) को नहीं पहचाना, तो तारतम ज्ञान के अवतरण से पूर्व की रात्रि के अन्धकार जैसी स्थिति पुनः बन जायेगी।

फेर पटकोगे हाथड़े, और छाती देओगे घाउ।

चल जासी पिउ हाथ से, फेर न पाओगे दाउ।।५।।

किन्तु यह ध्यान रखिए कि यदि प्रियतम पुनः अन्तर्धान

हो गये, तो आपको उन्हें प्रत्यक्ष रिझाने का स्वर्णिम अवसर कभी भी प्राप्त नहीं होगा। उस समय आप प्रायश्चित के स्वरों में रोते हुए अपने हाथ–पैर पटकेंगे और अपनी छाती को हाथों से पीट–पीटकर उसमें घाव कर लेंगे।

भावार्थ– वि.सं.१७५१ तक सुन्दरसाथ ने श्री प्राणनाथ जी को अक्षरातीत के रूप में पहचाना तथा उसी भाव से सेवा की। अन्तर्धान लीला के पश्चात् बहुत से सुन्दरसाथ ने विरह में अपना तन भी छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त चर्चा, चितवनि, एवं तारतम वाणी का प्रसार भी न्यून हो गया। यद्यपि कहीं–कहीं परमहंसों ने इसकी ज्योति जलाये रखी, फिर भी वि.सं.१७५१ से पूर्व की स्थिति न तो बन पायी है और न अक्षरातीत को प्रत्यक्ष रिझाने का अवसर ही प्राप्त हो सका है।

विलख विलख कहे वचन, रोए रोए किए बयान।

प्रेम करे अति प्रीतसों, पर साथ को सुध न सान।।६।।

अपने पहले तन की लीला में धाम धनी ने सुन्दरसाथ को जगाने के लिये बहुत ही करूण स्वरों में (विलख–विलखकर, रो–रोकर) व्रज, रास, व परमधाम की चर्चा सुनाई। इस दूसरे तन की लीला में भी वे बहुत प्रीति के साथ सबको अपना प्रेम दे रहे हैं, परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि अभी भी सुन्दरसाथ को उनके स्वरूप की वास्तविक पहचान नहीं हो पा रही है।

भावार्थ– जिस प्रकार अहंकार का सूक्ष्म (बीज) रूप अस्मिता है और प्रकाश का सूक्ष्म रूप ज्योति है, उसी प्रकार प्रेम का सूक्ष्म रूप प्रीति है। विलखने की प्रक्रिया में मुख से किसी शब्द विशेष का उच्चारण होता है, किन्तु रोने में मौन भी रहा जा सकता है। इसमें मात्र सिसकियाँ

भरी जा सकती हैं। विलखना (करूण स्वरों में कहना) सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के जीव का व्यक्तिगत स्वभाव है। इसे श्री राज जी के आवेश स्वरूप के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

माया देखी बीच पैठ के, पिउ के उजाले तुम।

विध विध खेल देखावने, पिउ ल्याए तारतम।।७।।

हे साथ जी! आपने तारतम ज्ञान के उजाले में इस नश्वर जगत की मायावी लीला को देखा है। धाम धनी तारतम वाणी इसलिये लेकर आये हैं, जिससे कि आप अनेक प्रकार से इस मायावी खेल को देख सकें।

भावार्थ– तारतम वाणी ने हमें उस चौराहे पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से हम एक ओर परमधाम के अनन्त सुखों को देख रहे हैं, तो दूसरी ओर माया के अपार दुःखों को

भी द्रष्टाभाव से जानते हैं। इस ज्ञान ने अक्षरातीत के हृदय में डूबकर परम सत्य (मारिफत) को भी पाने का द्वार खोल दिया है, तो हृदय में युगल स्वरूप की छवि को बसाकर जल में रहने वाले कमल के फूल की तरह संसार में रहने का ढंग भी बता दिया है।

ए जो मांगी तुम माया, सो देखे तीन संसार।

अब साथ पिउ संग चलिए, ज्यों पिउ पावें करार।।८।।

आपने जो माया का खेल माँगा था, उसके कारण आपको व्रज, रास, एवं जागनी ब्रह्माण्ड की लीला देखने को मिली। अब आप इस संसार को छोड़कर अपने प्रियतम के साथ परमधाम चलिए, जिससे उन्हें हार्दिक प्रसन्नता मिले।

भावार्थ– इस चौपाई में यह बात स्पष्ट रूप से दर्शायी

गयी है कि इस जागनी लीला में धाम धनी हमारे साथ ही आये हैं, साथ रह रहे हैं, तथा साथ ही परमधाम भी जायेंगे। उपरोक्त चौपाई के कथन से उस विचारधारा का भी खण्डन होता है कि मात्र तारतम वाणी के अवतरण के समय ही श्री राज जी का आवेश अवतरित होता था और पुनः परमधाम चला जाता था। इस खेल में ब्रह्मसृष्टियों को अकेला छोड़कर धनी का आवेश कदापि परमधाम नहीं जा सकता।

अक्षरातीत सर्वदा आनन्दमग्न ही रहते हैं, किन्तु इस चौपाई के चौथे चरण में "करार" शब्द का प्रयोग, प्रेम भरी भावुकता की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है।

पिउ पांच बेर हम वास्ते, सागर में डारया आप।

सो नजरों न आवे प्रेम बिना, बिना मेहेर या मिलाप।।९।।

प्रियतम ने हमारे लिये परमधाम से बाहर ५ बार (व्रज–रास के श्री कृष्ण, मुहम्मद साहिब, श्री देवचन्द्र जी, और श्री मिहिरराज जी का) तन धारण किया है, किन्तु जब तक हमारे हृदय में धाम धनी के लिये अटूट प्रेम नहीं होगा, हमारे ऊपर उनकी प्रेम भरी कृपा की वर्षा नहीं होगी, तथा प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होगा, तब तक हमें उनकी इस प्रेम भरी लीला की वास्तविक पहचान नहीं हो सकती है।

भावार्थ– यद्यपि योगमाया को भवसागर नहीं कहा जा सकता, किन्तु महारास में विरह का कष्ट होने तथा स्वलीला अद्वैत परमधाम के अनन्त प्रेम एवं आनन्द से बाहर होने के कारण इसे भी सागर में मान लिया गया है। महारास की लीला उस केवल ब्रह्म की भूमिका (आनन्द योगमाया) में खेली गयी थी, जिसे ईश्वरी सृष्टि भी

परमधाम मानती है।

भले देखो तुम आकार को, पर देखो अंदर का तेज।
धनी धाम के साथ सों, कैसा करत हैं हेज।।१०।।

हे साथ जी! भले ही आप अपनी बाह्य आँखों से मात्र श्री मिहिरराज जी का तन ही देख रहे हैं, किन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि से अन्दर विराजमान आवेश स्वरूप का तेज भी तो देखिए। उनके स्वरूप की पहचान होने पर ही आपको यह विदित होगा कि धाम धनी सुन्दरसाथ से कितना प्रेम करते हैं।

अब कैसी विध करूं तुमसों, कछू ना पेहेचाने सजन।
सोर हुआ एता तुम पर, क्यों आवे नींद आंखन।।११।।

आपने अपने प्राणेश्वर को कुछ भी नहीं पहचाना। अब

आप ही बताइये कि मैं आपके साथ कैसा व्यवहार करूँ? आपको तारतम वाणी की चर्चा का इतना रस मिला, फिर भी आपकी आँखों (हृदय) में माया की नींद का इतना गहरा प्रभाव क्यों है?

ना गई नींद अंदर की, क्यों एते बान सहे।

जाग चलो संग पिउ के, पीछे करोगे कहा रहे।।१२।।

आपके अन्दर से माया की नींद अभी समाप्त नहीं हुई है, अन्यथा आपको सिखापन के रूप में भला शब्दों के वाण क्यों सहन करने पड़ते? आप तारतम वाणी के प्रकाश में जाग्रत होकर प्रियतम के साथ परमधाम की राह पर चलिये। इन मायावी सुखों में फँसे रहकर क्या करेंगे?

तुमें धनी बिना कौन दूसरा, ए उड़ावे अंधेर।

तुम देखो साथ विचार के, जिन भूलो इन बेर।।१३।।

हे साथ जी! आप इस बात का विचार करके देखिए कि धाम धनी के अतिरिक्त भला और कौन है, जो माया के सुखों में लिप्त रहने के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करे। इस बार प्रकट हुए प्रियतम अक्षरातीत को पीठ देने की भूल न करें।

एक बेर भूले आदमी, ताए और बेर आवे बुध।

ए चोटां सहियां सिर एतियां, तो भी ना हुई तुमें सुध।।१४।।

यदि कोई व्यक्ति एक बार भूल करता है, तो दूसरी बार उसे यह सद्बुद्धि अवश्य आ जाती है कि मुझे पहले वाली भूल की पुनरावृत्ति नहीं करनी है। आपने धनी के वियोग आदि के कष्ट को भी झेला है, फिर भी आपको यह सुधि

नहीं हुई कि अब भी हमें क्या करना चाहिए?

भावार्थ– "सिर पर चोट सहने" का तात्पर्य है– अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करना। सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान, तथा बिहारी जी का गादी पर बैठकर तारतम ज्ञान के प्रचार में बाधाएँ खड़ी करना, आदि ही सिर पर चोट सहने के समान है। प्रकास गुजराती में भी इसी भाव का कथन है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ खण्डनी के वचनों का कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि खण्डनी के वचनों को श्रीजी ने वि.सं.१७२२ में दीव बन्दर आदि से कहना प्रारम्भ किया था।

अब ढील ना कीजे एक पल, इत नाहीं बैठन का लाग।
एक पलक के कोटमें हिसे, हो जासी बड़ा अभाग।।१५।।

इसलिये अब एक क्षण की भी देर किये बिना अपने धाम

धनी को रिझाइए। इस समय खाली हाथ (निठल्ले) बैठे रहने से कोई लाभ नहीं है। यदि आप पूर्व की तरह ही प्रियतम से विमुख होकर बैठे रहेंगे, तो एक पल के करोड़वें भाग में भी बहुत ही अनर्थ हो सकता है।

भावार्थ– सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के तन से होने वाली आड़िका लीला के सम्मोहन में सुन्दरसाथ इतना फँस गया कि वह मूल स्वरूप तथा मूल सम्बन्ध की वास्तविक पहचान नहीं कर सका। उसने इस तथ्य पर भी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया कि जिस तन से इस प्रकार चमत्कारिक लीलायें की जा रही हैं, उस तन में स्वयं हमारे धाम धनी ही बैठे हैं और हमें अपने प्रेम एवं सेवा के द्वारा उन्हें रिझाना चाहिए।

यदि सुन्दरसाथ दूसरे तन से होने वाली लीला के समय भी पहले वाली भूल को दोहराता है, और यदि एक पल

के करोड़वें भाग (अति अल्प समय) में शरीर छूट गया, तो प्रियतम को प्रत्यक्ष रिझाने का स्वर्णिम अवसर कभी मिलने वाला नहीं है, क्योंकि धाम धनी अब किसी अन्य तन में इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से लीला नहीं करेंगे। यद्यपि वे छठवें दिन की प्रत्यक्ष लीला में ब्रह्मात्माओं के धाम हृदय में विराजमान होकर परोक्ष रूप से लीला अवश्य करेंगे।

जब आड़िका लीला से जागनी हेतु कोई लाभ हुआ ही नहीं, तो धाम धनी के द्वारा उसे दिखाने का क्या प्रयोजन था?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि तारतम वाणी की अनुपस्थिति में सुन्दरसाथ को यह विश्वास दिलाने के लिये कि व्रज–रास में आप ही थे, आड़िका लीला का प्रदर्शन अति आवश्यक था। सद्गुरु धनी श्री

देवचन्द्र जी अखण्ड व्रज–रास एवं परमधाम की चर्चा तो सुनाते ही थे, किन्तु सुन्दरसाथ ज्ञान, चितवनि, एवं आड़िका लीला में उचित सामञ्जस्य स्थापित न कर सका। परिणाम स्वरूप वह आत्म–जाग्रति के पथ से भटक गया।

कहूं गुसा कर वचन, सो ना वले मेरी जुबांए।

पर इत नफा क्या होएसी, तुम रहे माया लगाए।।१६।।

यदि आपको सावचेत करने के लिये मैं क्रोध में कठोर वचनों का प्रयोग करना चाहूँ, तो इसके लिये मेरी जिह्वा तैयार नहीं हो पाती है। किन्तु यदि आप इसी प्रकार बन्धनों में फँसे रहेंगे, तो आपको क्या लाभ होने वाला है?

टेढ़े सुकन तुमे कहूं, सो काट करूं जुबां दूर।

पर इन माया का तुमको, कहा होसी रोसन नूर।।१७।।

मेरे परमधाम के लाडले सुन्दरसाथ जी! यदि मैं आपके प्रति कटु वचनों का प्रयोग करूँ, तो उसके प्रायश्चित में मैं अपनी इस जिह्वा को ही काटकर फेंक देना उचित समझूँगा। किन्तु इस माया का आपके ऊपर इतना प्रभाव है कि इस स्थिति में तारतम ज्ञान का उजाला नहीं (कैसे) हो पाएगा।

ना पेहेचाने इन उजाले, ए दोए साख पूरन।

पीछे पिउ आगे वतन में, क्यों होसी मुख रोसन।।१८।।

तारतम वाणी के उजाले में इन दोनों स्वरूपों (सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी एवं श्री प्राणनाथ जी) के तन से अक्षरातीत के द्वारा लीला करने की पूर्ण साक्षी मिलती है,

किन्तु आपने इन दोनों स्वरूपों में अपने प्रियतम की स्पष्ट पहचान नहीं की है। ऐसी स्थिति में जब आप परमधाम में जाग्रत होंगे, तो धाम धनी के सम्मुख आपका मुख उज्ज्वल कैसे दिखेगा?

भावार्थ– अपराध बोध या भूल होने पर अत्यधिक लज्जित होने की स्थिति में चेहरे को उदास, मुर्झाया हुआ, या काले रूप में वर्णित किया जाता है। यद्यपि परमधाम में मुखारविन्द पर कालिमा नहीं आ सकती, किन्तु लज्जा के भावों को दर्शाने के लिये चौथे चरण में इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

पेहेले नजरों देखते, गयो अवसर टूटी आस।

निकस गए जब हाथ से, तब आपन भए निरास।।१९।।

जब प्रियतम अक्षरातीत सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के

स्वरूप में लीला कर रहे थे, उस समय हमने उन्हें प्रेम सेवा के द्वारा रिझाने का स्वर्णिम अवसर खो दिया था। जब धाम धनी हमारे हाथ (मध्य) से निकल गये अर्थात् उनका अन्तर्धान हो गया, तब हम सब सुन्दरसाथ निराश हो गये थे कि अब पुनः प्रियतम से मिलन कब होगा? इस सम्बन्ध में हमारी आशा भी समाप्त हो गयी थी।

ए ठौर ऐसा विखम, नास होए मिने खिन।

स्याने हो तुम साथजी, सब चतुर वचिखिन।।२०।।

यह मायावी जगत बहुत ही विषमताओं से भरा हुआ है और एक ही क्षण में प्रलय को प्राप्त हो सकता है। हे साथ जी! आपसे अधिक मैं क्या कहूँ? आप सब तो विलक्षण प्रतिभा से युक्त हैं और अति चतुर हैं।

तुम स्याने मेरे साथजी, जिन रहो बिखे रस लाग।

पांउ पकड़ कहे इंद्रावती, उठ खड़े रहो जाग।।२१।।

परमधाम के मेरे प्रिय सुन्दरसाथ जी! यद्यपि मैं यह बात बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ कि आप बहुत समझदार (विवेकवान) हैं, फिर भी आपके पाँव पकड़कर यह प्रार्थना कर रही हूँ कि मायावी विषयों में फँसकर प्रियतम के प्रेम को न खोइए। तारतम वाणी के प्रकाश में माया की नींद को छोड़कर खड़े हो जाइए और हृदय में प्रेम भर कर जाग्रत हो जाइए।

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी का यह कथन स्नेहभरी व्यंग्यात्मक भाषा में कहा गया है। माया की नींद में सोया हुआ सुन्दरसाथ मायावी विषय–सुख को ही महत्वपूर्ण मानकर उसमें डूबा रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह एक प्रकार की मूर्खता ही कही जा सकती है। शालीनता

की पराकाष्ठापूर्ण भाषा में हास्यपूर्ण भावों में यहाँ सुन्दरसाथ को बहुत अधिक विवेकशील एवं बुद्धिमान कहकर विषय सुखों को छोड़ने के लिये आग्रह किया गया है। साथ ही सबके लिये यह विशेष शिक्षा भी है कि किसी से भूल होने पर उसे कटु शब्दों में फटकारे नहीं, अपितु आत्मीय प्रेम की भाषा में समझाये। निश्चय ही उसके ऊपर इसका चमत्कारिक प्रभाव पड़ेगा।

प्रकरण ।।१७।। चौपाई ।।३६२।।

इस प्रकरण में श्री इन्द्रावती जी के द्वारा की गयी प्रेममयी प्रार्थना का मनोरम वर्णन है।

श्रीधनीजी के लागूं पाए, मेरे पिउजी फेरा सुफल हो जाए।
ज्यों पिउ ओलखाए मेरे पिउजी, सुनियो हो प्यारे मेरी विनती।।१।।

मेरे प्राणवल्लभ! प्राण प्रियतम! धाम धनी! मैं आपके चरणों में प्रणाम करके यह प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरा यह निवेदन अवश्य सुनिये। मेरी यह अति प्रबल चाहना है कि मैं आपकी पहचान कर लूँ, जिससे इस जागनी ब्रह्माण्ड में मेरा आना सार्थक हो जाये।

मैं पेहेले ना पेहेचाने श्री राज, मोहे आड़ी भई माया की लाज।
भवसागर की किने पाई न किनार, सो तुम सेहेजे उतारे पार।।२।।

मेरे राज रसिक! मैं इस बात से अत्यधिक लज्जा का

अनुभव कर रही हूँ कि जब आप श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला कर रहे थे, उस समय मेरे और आपके मध्य माया दीवार बनकर खड़ी हो गयी, जिस कारण मैं आपके स्वरूप की वास्तविक पहचान नहीं कर सकी। आज तक कोई भी इस भवसागर का थाह (माप) नहीं पा सका है, किन्तु आपने अपनी कृपा दृष्टि से मुझे अनायास ही इससे पार कर दिया।

भावार्थ– स्वरूप की पहचान में मानवीय तन बहुत बड़ी बाधा है। मानवीय दोषों को देखकर स्वाभाविक रूप से यह संशय पैदा हो जाता है कि क्या परब्रह्म का आवेश इस नश्वर एवं वैकारिक तन में लीला कर सकता है? माया के प्रभाव से द्रष्टा की अन्तर्दृष्टि का न खुलना भी एक विशेष कारण है। यद्यपि श्री देवचन्द्र जी के तन से बहुत सी चमत्कारिक (आड़िका) लीलायें हुईं, तथापि

उनकी पहचान करने के लिये जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी, वह तारतम वाणी के अवतरण एवं चितवनि की कमी के कारण सुन्दरसाथ को प्राप्त नहीं हो सकी।

तुम अपनी जान दया कर, धनी लेवे त्यों लई खबर।
माया गम सास्त्रों मांहें, सो त्रिगुन भी समझत नाहें।।३।।

जिस प्रकार एक प्रियतम अपनी प्रियतमा (पत्नी) को अंगीकार करता है, उसी प्रकार आपने भी अपनी अर्धांगिनी जानकर अपनी कृपा दृष्टि से इस संसार में मेरी सुधि ली है। यद्यपि शास्त्रों में माया की पहचान सूक्ष्म रूप से अवश्य की गयी है, किन्तु उसे ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव, आदि भी यथार्थ रूप से नहीं जान पाये हैं।

भावार्थ– सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है,

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में कम या अधिक मात्रा में सत्व , रज, तथा तम मिले होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सत्व, रज, और तम तीनों होते हैं, किन्तु जिस व्यक्ति में जिस गुण की प्रधानता होती है उसे उसी गुण के स्वभाव वाला माना जाता है। सांकल्पिक सृष्टि के पुरुषों में ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव प्रमुख हैं, इसलिये इन्हें त्रिगुण अर्थात् तीनों गुणों के स्वभाव के प्रतीक रूप में माना जाता है।

सो तारतम केहे करी रोसन, और देवाई साख सास्त्रों वचन।
हम मांग लई जो माया, सो पेहेचान के खेल देखाया।।४।।

आपने तारतम ज्ञान का प्रकाश करके माया की वास्तविकता को उजागर किया। इस सम्बन्ध में आपने धर्मग्रन्थों की साक्षियाँ भी दीं। हमने आपसे माया का खेल देखने की इच्छा की थी और आपने हमें तारतम

ज्ञान के प्रकाश में माया की पहचान कराकर उसका खेल भी दिखाया है।

भावार्थ– ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (मण्डल १० सूक्त १२९) में माया के स्वरूप को दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी बताया गया है कि ब्रह्म के द्वारा किस प्रकार सृष्टि होती है। यजुर्वेद के व्याख्या ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत श्वेताश्वेतरोपनिषद् में त्रिगुणात्मक माया तथा ब्रह्म की प्राप्ति के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार का कथन श्रीमद्भगवद्गीता में भी है।

उमेद करी जो सैयन, सो इत आए करी पूरन।

तुम उमेद करते मने किए, तो भी खेल देखाए सुख दिए।।५।।

हमने परमधाम में आपसे माया का खेल देखने की जो

इच्छा प्रकट की थी, उसे आपने इस संसार में आकर पूर्ण कर दिया है। यद्यपि खेल माँगते समय आपने हमें बारम्बार मना किया था, किन्तु खेल में आ जाने पर आपने हमें अनेक प्रकार से सुख दिया है।

हमको खेल देखन की लागी रढ, सो इत आए देखाई कर मन द्रढ।
तुम हमको खेल देखावन काज, हमसों आगे आए श्री राज।।६।।

हमारे अन्दर माया का खेल देखने की धुन लगी हुई थी। उसे पूर्ण करने के लिये आप दृढ़ निश्चय के साथ इस संसार में आये। मेरे राज रसिक! आप हमसे इतना प्रेम करते हैं कि आप हमें माया का खेल दिखाने के लिये हमसे पहले ही इस संसार में आ गये।

भावार्थ– इस नश्वर जगत में भी यही देखा जाता है कि दृष्टि का सम्बन्ध हृदय की भावना के साथ जुड़ा होता है।

धाम धनी के हृदय की जो भावना होती है, उसी के अनुसार सभी सखियों की भावना होती है, क्योंकि वे उनकी अंगरूपा या तन हैं। इसी प्रकार का भाव दृष्टि के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

इस कथन से यही सिद्ध होता है कि श्री राज जी के हृदय में जो इच्छा होगी, वही सभी सखियों की इच्छा होगी। उनकी दृष्टि जहाँ पर भी होगी, सखियों की दृष्टि भी उसी पर केन्द्रित होगी। इस खेल में सखियों का श्री राज जी से पहले आना यही भाव दर्शाता है।

तुम बिना लाड़ पूरन कौन करे, इन माया में दूजी बेर देह कौन धरे।
तुम मोसों गुन किए अनेक, सो चुभे मेरे हिरदे में लेख।।७।।

मेरे प्राण प्रियतम! आपके अतिरिक्त और कौन है, जो इस नश्वर जगत में भी दूसरा (श्री मिहिरराज जी का)

तन धारण कर हमारी प्रेम की चाहत को पूर्ण करे। आपने मेरे ऊपर प्रेम भरी बहुत सी कृपाएँ की हैं, जो हमेशा मेरे हृदय पटल पर अंकित रहती हैं।

तुम पर वार डारूं जीवसो देह, तुम किए मोसों अधिक सनेह।
मैं वारने लेऊं तुम पर, मैं सुरखरू होऊंगी क्यों कर।।८।।

मेरे प्राणधन! आपने मुझसे बहुत अधिक प्रेम किया है। ऐसी स्थिति में मेरे मन में यह प्रबल इच्छा बनी रहती है कि मैं इस शरीर सहित अपने जीव को आपके ऊपर न्योछावर कर दूँ। मैं आपके सम्मुख होने का साहस तभी कर पाऊँगी, जब मैं आपके प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाऊँ।

तुम हो हमारे धनी, तो पूरी आसा लाख गुनी।

इंद्रावती चरनों लागे, कृपा करो तो जागी जागे।।९।।

श्री इन्द्रावती जी अपने प्राणवल्लभ श्री राज जी के चरणों में प्रणाम करते हुए कहती हैं कि मेरे धाम धनी ! आप हमारी आत्मा के प्राण–जीवन हैं। इसलिये आपने हमारी इच्छाओं को लाख गुना अधिक पूर्ण किया है। आप इसी तरह अपनी प्रेममयी कृपा बनाए रखिए, जिससे सभी आत्मायें जाग्रत हो जायें।

भावार्थ– इस चौपाई के दूसरे चरण का कथन अतिशयोक्ति अलंकार के रूप में है कि आप हमारी जो भी इच्छायें होती हैं, उनसे भी अधिक लाखों गुना इच्छाओं को पूर्ण किया करते हैं।

प्रकरण ।।१८।। चौपाई ।।३७१।।

इस प्रकरण में पूर्व प्रकरण जैसा ही प्रसंग है। श्री इन्द्रावती जी की आत्मा अपने धाम धनी से प्रेमभरी प्रार्थना करती हैं।

अखंड दंडवत करूं परनाम, हैड़े भीड़के भानूं हाम।
प्रेमें देऊँ प्रदखिना, बेर बेर अनेक अति घना।।१।।

मेरे प्राणेश्वर! मेरे मन में यह प्रबल चाहना है कि सर्वदा के लिये आपके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होकर आपको प्रणाम करूँ तथा आपके गले लिपटकर अपने प्रेम की प्यास बुझाऊँ। मैं बहुत अधिक प्रेम में भरकर बार–बार आपकी अनेकों परिक्रमा करना चाहती हूँ।

भावार्थ– दण्डवत् का अर्थ होता है– धरती पर दण्ड के समान लेट जाना अर्थात् अपने अहम् का पूर्णतया विसर्जन (समापन) करके प्रणाम करना। इस प्रकार

अखण्ड दण्डवत् प्रणाम करने का आशय है– स्वयं को सर्वदा के लिये पूर्णतया (तन, मन, जीव से) प्रियतम के प्रति समर्पित कर देना।

बल बल जाऊं मुखारके बिंद, बरनन करूँ सरूप सनंध।
वारने जाऊँ नैनों पर, देखत हो सीतल द्रष्ट कर।।२।।

मैं आपके मुखारविन्द की अति मनोहर शोभा का वर्णन करते हुए उस पर बारम्बार बलिहारी जाती हूँ। मैं आपके उन नेत्रों पर भी न्योछावर होती हूँ, जिनसे आप प्रेम भरी शीतल दृष्टि से हमें देखते हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में मूल स्वरूप श्री राज जी को केन्द्र में रखकर ही श्री इन्द्रावती जी ने ये बातें कही हैं। यह अवश्य है कि कहीं प्रसंगानुसार मूल स्वरूप के लिये सम्बोधन है, तो कहीं श्री देवचन्द्र जी के लिये,

जैसे– चौ. १, ३, ७, इत्यादि। इसके अतिरिक्त कहीं पर अपने धाम हृदय में विराजमान धाम धनी के लिये भी कहा है– जैसे चौपाई १४, १८, २१ में।

वारने ऊपर लेऊँ वारने, सुख दिए मोको अति घने।
बेर बेर मैं लागूं पाए, सेवा करूं हिरदे चित ल्याए।।३।।

मेरे प्रियतम! आपने इस नश्वर जगत में भी मुझे परमधाम के सुखों का बहुत अधिक अनुभव कराया है। मैं आपके ऊपर बार–बार न्योछावर होती हूँ। आपके चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हुए यही इच्छा करती हूँ कि आपकी छवि को अपने हृदय में बसाकर पूरे मन–चित्त से सेवा करूँ।

वार फेर डारूं मेरी देह, इंद्रावती कहे अधिक सनेह।

बोहोत अस्तुत मैं जाए ना कही, अपने घर की बात जो भई।।४।।

अत्यधिक प्रेम में भरकर श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे धाम धनी! मैं आपके ऊपर अपने तन को पुनः – पुनः समर्पित करती हूँ। परमधाम में मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। इसलिये इस नश्वर जगत में आने पर भी निजधाम के अपनेपन के सम्बन्ध से आपकी लौकिक रीति से स्तुति नहीं कर पा रही हूँ।

भावार्थ– अर्धांगिनी का सर्वस्व (तन–मन) उसके पति के लिये ही होता है, किन्तु वह वाणी (शब्द) से इसे प्रत्यक्ष रूप में प्रकट नहीं करती। वस्तुतः विरह , प्रेम, श्रद्धा, एवं समर्पण को यथार्थ रूप में व्यक्त करना सम्भव ही नहीं होता। जब प्रेमी और प्रेमास्पद (आशिक–माशूक) एक ही स्वरूप होते हैं, तो कैसे कोई एक–दूसरे

की अनावश्यक प्रशंसा या स्तुति कर सकता है। ऐसा तो दास भक्ति में ही सम्भव हो पाता है।

अपनी बड़ाई आप मुख होए, ताको मूरख कहे सब कोए।
पर जैसी बात तैसा बरनन, करसी विचार चतुर अति घन।।५।।

यदि कोई अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है, तो सभी लोग उसे मूर्ख कहते हैं। किन्तु जैसी बात होती है, वैसी तो कहनी ही पड़ती है। कोई भी वक्तव्य पूर्णतया सत्य ही होना चाहिए क्योंकि भविष्य में संसार में बुद्धिमान लोग उन कथनों का बहुत अधिक चिन्तन करेंगे।

वचन धनी के कहे परवान, प्रगट लीला होसी निरवान।
चौदे भवन का कहिए सूर, रास प्रकास उदे हुआ नूर।।६।।

तारतम वाणी में विद्यमान धाम धनी के वचन स्पष्ट रूप से यह बात कहते हैं कि अब निश्चित रूप से मेरे तन से परब्रह्म की लीला प्रकट होगी। रास और प्रकाश ग्रन्थ के रूप में जो अलौकिक ज्ञान अवतरित हुआ है, उसे चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड का सूर्य ही कहना चाहिए।

भावार्थ– रास एवं प्रकाश ग्रन्थ को ज्ञान रूपी सूर्य कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही चन्द्रमा समेत सभी तारागण निस्तेज और अस्त हो जाते हैं, उसी प्रकार इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाश के समक्ष अन्य ग्रन्थों का ज्ञान नीरस एवं सारहीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त ये ग्रन्थ सबके (तीनों सृष्टियों के) संशयों को भी दूर करके वास्तविक सत्य की पहचान कराने वाले हैं।

चौदे भवन में जोत न समाए, ए नूर किरना किने पकड़ी न जाए।

सब्दातीत ब्रह्माण्ड किए प्रकास, देखसी साथ एह उजास।।७।।

इन दोनों ग्रन्थों के ज्ञान की ज्योति इतनी है कि वह चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में भी नहीं समा सकती। इसके प्रकाश की किरणों को फैलने से कोई भी रोक नहीं सकता। इन दोनों ग्रन्थों ने शब्दातीत कहे जाने वाले अखण्ड व्रज, रास, एवं परमधाम की भी स्पष्ट रूप से पहचान दे दी है, जिसका अनुभव भविष्य में सुन्दरसाथ को अवश्य होगा।

भावार्थ– रास–प्रकाश के ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों को किसी के भी द्वारा न पकड़े जाने का आशय यह है कि वेद पक्ष (वेद, गीता, भागवत) तथा कतेब पक्ष (तौरेत, इंजील, जंबूर, और कुर्आन) का कोई भी विद्वान अपने ज्ञान से न तो इन्हें हल्का कर सकता है और न

इनसे दूर होकर (अनभिज्ञ रहकर) अपने ग्रन्थों (वेद, कतेब) के वास्तविक अभिप्राय को ही समझ सकता है।

प्रकास के वचन निरधार, वचन सब करसी विचार।

आगे बड़ो होसी विस्तार, अखंड सब होसी संसार।।८।।

इस प्रकाश ग्रन्थ के वचन पूर्णतया सत्य हैं। सभी सुन्दरसाथ इसके अमृतमयी वचनों का अवश्य ही विचार करेंगे। भविष्य में तो इस तारतम ज्ञान के अवतरण का बहुत अधिक विस्तार होने वाला है, अर्थात् बृहद् रूप में ब्रह्मवाणी का अवतरण होना है, जिसके ज्ञान को आत्मसात् कर लेने वाला यह समस्त संसार ही अखण्ड मुक्ति को प्राप्त करेगा।

इन लीला को करसी विचार, क्या करसी ताको संसार।
प्रगट नीउ बांधी है एह, बड़ी इमारत होसी जेह।।९।।

जो इस ब्रह्मलीला का विचार करेगा, भला यह मायावी संसार उसका क्या कर लेगा, अर्थात् जो व्यक्ति श्री महामति जी के धाम हृदय में लीला करने वाले अक्षरातीत की पहचान कर लेगा, उसके ऊपर मायावी प्रपञ्चों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। अभी तो धाम धनी ने रास एवं प्रकाश ग्रन्थ के द्वारा ब्रह्मज्ञान रूपी भवन की नींव डाली है। भविष्य में भव्य भवन शोभायमान होगा।

सुनो वचन ब्रह्मसृष्टि जाग, इंद्रावती कहे चरणों लाग।
ए बानी मेरे धनी ए कही, फेर फेर तुमको कृपा भई।।१०।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे सुन्दरसाथ जी! मैं

आपके चरणों में प्रणाम करते हुए एक बात कह रही हूँ। उसे आप जाग्रत होकर सुनिये। मेरे प्रियतम अक्षरातीत ने बार–बार आपके ऊपर अपार कृपा की है और आपके लिये अपने हृदय के बहते हुए प्रेम रस को इस तारतम वाणी के रूप में अवतरित किया है।

ऐसा पकव प्रवीन ना कछू हूं, तो सिखापन तुमको क्यों देऊं।
मैं मन में यों जान्या सही, जीव अपना समझाऊं रही।।११।।

वैसे तो मैं कोई महान बुद्धिमान एवं ज्ञानवान नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न ही नहीं होता कि मैं आपको शिक्षा देती फिरूँ। किन्तु मैंने अपने मन में यह निश्चय किया कि इन्हीं कथनों के बहाने अपने जीव को तो समझा लूँ।

भावार्थ– माया के कीचड़ में आकण्ठ डूबे हुए व्यक्ति को

प्रायः शिक्षा देने पर बुरा भी प्रतीत होता है कि क्या मेरे पास बुद्धि नहीं है जो मुझे इतना समझाया जा रहा है? ऐसी अवस्था में श्री इन्द्रावती जी ने स्वयं को विनम्रता की प्रतिमूर्ति बनाकर अति सामान्य व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है और यह प्रेम भरी व्यंग्योक्ति की है कि हे साथ जी! मेरे कथनों को आप अक्षरातीत का कथन मानकर स्वीकार कीजिए। मैं आपको समझाने का सामर्थ्य नहीं रखती।

पर साथ ऊपर दया अति घनी, फेर फेर कृपा करत हैं धनी।
तो वचन तुमको कहे जाएं, न तो चींटी मुख कुम्हड़ा न समाए।।१२।।

किन्तु धाम धनी की सुन्दरसाथ पर अपार प्रेम भरी दया बरस रही है। वे बार-बार सब पर कृपा कर रहे हैं। यही कारण है कि तारतम वाणी के अनमोल वचन आपसे कहे

जा रहे हैं। यह बात वैसे ही है जैसे चींटी के मुख में कुम्हड़े (पेठे) का प्रवेश करना, अर्थात् जीव की पात्रता चींटी के मुख के समान अति न्यून है और तारतम वाणी की गरिमा पेठे के समान बहुत अधिक है।

जिन तुम वचन विसारो एक, कारन साथ कहे विसेक।
वचन कहे हैं कीजो त्यों, आपन पेहेले पांउ भरे हैं ज्यों।।१३।।

हे साथ जी! परमधाम की यह वाणी विशेष रूप से आपको ही जाग्रत करने के लिये कही गयी है, इसलिये इसके एक भी कथन को भूलिए नहीं। तारतम वाणी में प्रियतम के द्वारा हमारे लिये जो भी निर्देश दिये गये हैं, हमें उनका अक्षरशः पालन करना चाहिए। जिस प्रकार व्रज से रास में जाते समय हमने नाममात्र भी संसार का मोह नहीं रखा, उसी प्रकार इस जागनी ब्रह्माण्ड में अब

हमें परमधाम की चितवनि का मार्ग अपनाना चाहिए।

फेर अवसर आयो है हाथ, चरने लाग केहेती हूं साथ।

अब चरने लागूं धनी चितधरी, तुम खबर मेरी भली विध करी।।१४।।

परमधाम के प्रिय सुन्दरसाथ जी! मैं आपके चरणों में प्रणाम करके यह बात कह रही हूँ कि प्रियतम को प्रेमपूर्वक रिझाने का अब पुनः (दूसरी बार) अवसर प्राप्त हो गया है। मेरे प्राण प्रियतम अक्षरातीत! मैं आपको अपने हृदय मन्दिर में बसाकर आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ। आपने इस मायावी जगत में मेरी अच्छी प्रकार से सुधि ली है (ध्यान रखा है)।

भावार्थ– धाम धनी ने सर्वप्रथम श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर लीला की। इसके पश्चात् वे श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में लीला करने लगे। इसी

तथ्य को दर्शाने के लिये उपरोक्त चौपाई के प्रथम चरण में कहा गया है कि धाम धनी को पाने (प्रेमपूर्वक रिझाने) का अवसर अब पुनः प्राप्त हो गया है। यद्यपि प्रेम की गहन स्थिति में चरणों में प्रणाम करने की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इस प्रकार का कथन जीव के अहम् को दूर करके, श्रद्धा एवं समर्पण के भावना में वृद्धि करने के अभिप्राय से किया जाता है।

ए माया बाहोत जोरावर हती, दूर करी मेरे प्राणपति।
माया को तजारक भई, तिन कारन ए विनती कही।।१५।।

इस माया की शक्ति बहुत अधिक थी, किन्तु मेरे प्राण प्रियतम ने माया को फटकार लगाकर दूर भगा दिया। यही कारण है कि आपकी इस कृपा के प्रत्युत्तर में मैंने यह विनती (स्तुति) की है।

भावार्थ– सत्व, रज, तम की यह त्रिगुणात्मिका माया (प्रकृति) जड़ है, किन्तु भाषायी सौन्दर्य की दृष्टि से आलंकारिक रूप में इसका वर्णन उस मोहिनी नारी के रूप में किया जाता है जिसके वशीभूत इस सम्पूर्ण जगत के प्राणी हैं। उपर्युक्त चौपाई में उस नारी रूपी माया को फटकार लगाकर भगाने (दूर करने) की बात कही गयी है।

ए विनती सुनिये तुम सार, माया दुख पायो निरधार।
ए माया बातें हैं अति घनी, मोहे मुखथें काढ़ी मेरे धनी।।१६।।

हे साथ जी! धाम धनी के प्रति मेरे द्वारा की गयी विनती के सार तत्त्व को सुनिये। यह तो निश्चित है कि हमने इस संसार में माया के बहुत अधिक दुःख का अनुभव किया है। मायावी कष्टों की बातें तो बहुत ही अधिक हैं। मेरे

प्राणवल्लभ अक्षरातीत ने अपनी कृपा की छत्रछाया में रखते हुए मुझे माया के मुख से प्रत्यक्ष रूप से निकाल लिया।

तुमारे गुन की कहा कहूं बात, तुम लाड़ पूरे करके अपन्यात।
पिउ ने अपनी जानी परवान, इन्द्रावती चरने राखी निरवान।।१७।।

आपकी प्रेम भरी कृपाओं का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? आपने परमधाम के अपनेपन से हमारी प्रेममयी इच्छाओं को पूर्ण किया है। यह बात तो पूर्णतया सत्य है कि आपने मुझ इन्द्रावती को अपनी अर्धांगिनी मानकर सर्वदा ही अपने चरणों की छत्रछाया में रखा है।

श्री सुन्दरबाई के चरन पसाए, मूल वचन हिरदे चढ़ आए।
चरन फले निध आई एह, अब ना छोडूं चित चरन सनेह।।१८।।

श्री श्यामा जी (सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी) के चरणों की कृपा से परमधाम के मूल वचनों की मुझे स्मृति हो गयी है। उनके चरणों की छत्रछाया में रहने का ही यह फल है कि मुझे प्रियतम के चरणों की यह अनमोल निधि प्राप्त हुई है। अब मैं किसी भी स्थिति में धनी के चरणों का प्रेम नहीं छोड़ सकती।

भावार्थ– परमधाम में प्रेम संवाद (इश्क रब्द) के समय सखियों ने धाम धनी से कहा था कि माया कितना भी प्रयास क्यों न करें, हम आपको कदापि नहीं भूलेंगी। ये ही निजधाम से आते समय के मूल वचन हैं।

चरन तले कियो निवास, इन्द्रावती गावे प्रकास।

भान के भरम कियो उजास, पावे फल कारन विस्वास।।१९।।

अब मैं इन्द्रावती की आत्मा अपने धाम हृदय में

विराजमान युगल स्वरूप श्री राज श्यामा जी के चरणों की छत्रछाया में रहकर इस प्रकाश वाणी का गायन (अवतरण) कर रही हूँ। धाम धनी ने प्रकाश वाणी का उजाला करके सबके संशयों को नष्ट कर दिया है। जो भी सुन्दरसाथ इस प्रकाश ग्रन्थ पर विश्वास करेगा, उसे धाम धनी की पहचान रूपी फल अवश्य प्राप्त होगा।

भावार्थ– सुन्दरसाथ के मन में यह बहुत बड़ा भ्रम फैला हुआ था कि सद्गुरु के सुपुत्र श्री बिहारी जी गादी पर विराजमान हैं, इसलिये वे ही हमारे धाम धनी हैं। किन्तु प्रकाश ग्रन्थ से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अक्षरातीत मात्र आत्माओं (श्री इन्द्रावती जी) के धाम हृदय में निवास करते हैं, जड़ गादी में नही। वंशवाद एवं गादीवाद की परम्परा समाज को अज्ञानता के अन्धकार में ले जाने वाली है।

विस्वास करके दौड़े जे, तारतम को फल सोई ले।

तिन कारन करों प्रकास, ब्रह्मसृष्टि पूरन करूं आस।।२०।।

तारतम ज्ञान का फल उसी सुन्दरसाथ को प्राप्त होगा, जो श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप पर अटूट विश्वास करके उनके प्रेम में दौड़ लगायेगा, अर्थात् अत्यधिक प्रेम करेगा। यही कारण है कि मैं इस तारतम वाणी का उजाला कर रही हूँ, जिससे ब्रह्मसृष्टियों में अपने धाम धनी को पाने की जो इच्छा है, वह पूरी हो जाये।

इंद्रावती धनी के पास, रास को कियो प्रकास।

धनिऐं दई मोहे जाग्रत बुध, तो प्रकास करूँ तारतम की निध।।२१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मैं पल –पल अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की सान्निध्यता में रह रही हूँ, अर्थात् वे मेरे धाम हृदय में अखण्ड रूप से विराजमान हैं।

उन्होंने मेरे द्वारा ही रास के अलौकिक ज्ञान को इस संसार में प्रकट करवाया है। प्रियतम ने मुझे जाग्रत बुद्धि की शक्ति भी प्रदान की है, जिससे मैं तारतम ज्ञान की अनमोल निधि को प्रकाशित कर रही हूँ।

प्रकरण ।।१९।। चौपाई ।।३९२।।

अस्तुत कर गुन फिराए हैं

अवगुणों को गुणों में परिवर्तित करके धनी की तरफ लगाना।

इस प्रकरण में यह बात दर्शायी गयी है कि हम किस प्रकार लोभ, मोह, तृष्णा, एवं अहंकार, आदि अवगुणों को भी धाम धनी के प्रति केन्द्रित कर गुणों में रूपान्तरित कर सकते हैं तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं। माया के गुण ही जीव के साथ जुड़कर अवगुण कहलाते हैं। उन्हें धनी के प्रति केन्द्रित करके दिव्य गुणों में रूपान्तरित किया जाता है।

अब करूं अस्तुत आधार, वल्लभ सुनो विनती।

एते दिन मैं ना पेहेचाने, मोहे लेहेर माया जोर हुती।।१।।

मेरे जीवन के आधार! प्राण प्रियतम श्री राज जी! अब

मैं आपकी स्तुति कर रही हूँ। मेरे द्वारा की गई इस प्रेम भरी प्रार्थना को सुनिए। मैं आज दिन तक आपको यथार्थ रूप से पहचान नहीं पायी थी, क्योंकि मैं माया की भयंकर लहरों में डूबी हुई थी।

भानूं भरम मोह जो मूल को, लेऊ सो जीव जगाए।

करूं अस्तुत पिया की प्रगट, देऊं सो पट उड़ाए।।२।।

मैं अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करके माया के पर्दे को समाप्त कर (हटा) देना चाहती हूँ। इस स्तुति से मैं उस मोहमयी भ्रम (संशय) को भी समाप्त कर देती हूँ, जो सृष्टि के प्रारम्भ से ही सभी प्राणियों के साथ जुड़ा हुआ है। इस प्रकार मैं अपने जीव को जाग्रत कर लूँगी।

भावार्थ–

"मोह अग्यान भरमना, करम काल और सुन्य" (क. हि. २४/१९) के कथन के अनुसार मोह से ही अज्ञान की उत्पत्ति होती है और अज्ञान से भ्रम या संशय उत्पन्न होता है। इसी अज्ञान को दूसरे शब्दों में अविद्या कहते हैं, जिसके कारण जड़ को चेतन एवं दुःख को सुख समझने की भ्रान्ति होती है। इसके अधीनस्थ प्राणी लौकिक कर्मों को करने के लिये विवश हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप न तो उसे काल के बन्धन से छुटकारा मिल पाता है, और न ही मोहमयी शून्य से बनी इस सृष्टि से परे का बोध हो पाता है। इसी के परिणामस्वरूप जीव को भवसागर में भटकना पड़ता है।

अक्षरातीत श्री राज जी की प्रेम भरी स्तुति इस बन्धन को तोड़ देती है और जीव को अखण्ड आनन्द का अधिकार प्रदान करती है।

सोभा पिउ की सब्दातीत, सो आवत नहीं जुबांए।

जोगवाई जेती इन अंग की, सो सब मूल प्रकृती मांहें।।३।।

मेरे प्रियतम की शोभा शब्दों की परिधि से परे है। उसे इस जिह्वा (वाणी) के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। मेरे जीव के द्वारा धारण किये गये इस शरीर के सभी संसाधन (अन्तःकरण, कोश, इन्द्रियाँ) मूल रूप में माया से ही बने हुए हैं।

भावार्थ– सांख्य दर्शन के आधार पर अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार) की उत्पत्ति महत्तत्व से तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से हुई है। अहंकार से तन्मात्राएँ और उनसे आकाश आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन सम्पूर्ण साधनों के मायाजन्य होने के कारण, इनसे त्रिगुणातीत तत्त्व का वर्णन नहीं हो सकता।

अब किन बिध करूं मैं अस्तुत, मेरे जीव को ना कछू बल।
जीव जोगवाई सब अस्थिर की, क्यों बरनों सोभा नेहेचल।।४।।

मेरे प्राण प्रियतम! अब आप ही बताइये कि मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? मेरे जीव में तो कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। मेरे जीव के सभी संसाधन इस नश्वर माया के हैं। ऐसी अवस्था में भला मैं आपकी अखण्ड शोभा का वर्णन कैसे कर सकती हूँ?

पेहेले जीवों करी अस्तुत, भली भांत भगवान।
पंडिताई चतुराई महाप्रवीनी, किव कर हिरदे आन।।५।।

अब से पहले जीव सृष्टि के बहुत से महापुरुषों ने अपने भगवान (विष्णु, नारायण, या अक्षर ब्रह्म) की बहुत अच्छी प्रकार से स्तुति की है। उन्होंने अपनी विलक्षण विद्वता एवं बुद्धिमता से अपने आराध्य की स्तुति में

काव्यमय ग्रन्थों की रचना की है और उन्हें अपने हृदय में बसाने का प्रयास किया है।

भावार्थ– षड् ऐश्वर्यों (ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शील, शक्ति, तथा ऐश्वर्य) युक्त व्यक्तित्व भी भगवान कहे जाते हैं, जैसे– भगवान राम, भगवान बुद्ध, भगवान व्यास, आदि।

वेद के अनुयायी अपने आराध्य के रूप में मात्र अक्षर ब्रह्म को ही मानते हैं और उन्होंने उनकी महिमा में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, षड् दर्शन, तथा महाभारत, आदि ग्रन्थ रचे हैं। पौराणिक विद्वान विष्णु भगवान या नारायण को अपना इष्ट मानते हैं तथा इनकी स्तुति में इन्होंने विशाल पौराणिक साहित्य की रचना की है।

ए किव प्रवाही जब देखिए, तामे कोई कोई भारी वचन।
ए तो देवें सोभा अचेत में, पर मोहे सालत है मन।।६।।

अपने आराध्य की महिमा को उजागर करने के लिये माया के प्रवाह में बहने वाले जीवों के द्वारा काव्य–ग्रन्थों की रचना की एक परम्परा ही चल पड़ी। यदि इन ग्रन्थों का अवलोकन किया जाये, तो इनमें कहीं–कहीं बहुत ही महत्वपूर्ण वचन मिलते हैं। तारतम ज्ञान से रहित होने के कारण इन ग्रन्थों के रचनाकार माया की नींद में बेसुध हैं, किन्तु इस अवस्था में भी इनके द्वारा रचे गये ग्रन्थों की शोभा (महिमा) बहुत अधिक है। इस स्थिति को देखकर मेरे मन में एक विशेष प्रकार की पीड़ा होती है।

बेसुध भए देवे एती सोभा, तो कहा करे कर पेहेचान।
जो मुख वचन एक कहों प्रवाही, तो सुन्या नहीं निरवान।।७।।

श्री इन्द्रावती जी अपने मन की पीड़ा को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि जब बेसुधि (मूर्च्छित) अवस्था में ये परब्रह्म के सम्बन्ध में इतने ऊँचे (श्रेष्ठ) कथन वाले ग्रन्थों की रचना कर सकते हैं, तो यदि इन्हें अक्षरातीत की पहचान हो जाती तो ये क्या करते, अर्थात् अति उच्च स्तर के धर्म ग्रन्थों की रचना करते। यदि मैं धाम धनी के द्वारा कहे गये तारतम ज्ञान के वचनों एवं इस संसार के लोगों (प्रवाहियों) के द्वारा रचे गये ग्रन्थों को एक समान कहती हूँ, तो इसका अर्थ यह होता है कि मैंने प्रियतम के वचनों को निश्चित रूप से यथार्थतः सुना ही नहीं।

भावार्थ– आदि शंकराचार्य द्वारा रचित विवेक चूड़ामणि ग्रन्थ तथा ११ उपनिषदों में परब्रह्म के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर विवेचना है। किन्तु कटु सत्य यह है कि इन ग्रन्थों के रचनाकार अक्षर से परे अक्षरातीत के धाम,

स्वरूप, एवं लीला के विषय में कुछ भी नहीं जानते। सच्चिदानन्द शब्द का प्रयोग भी ये अपने–अपने आराध्य (राम, नृसिंह, नारायण, निराकार, तथा अव्याकृत, आदि) के लिये करते हैं। श्री इन्द्रावती जी के मन की व्यथा यही है कि यदि इन लोगों को भी तारतम ज्ञान से अक्षरातीत की पहचान हो गयी होती, तो सम्भवतः इनका इतना बड़ा पुरुषार्थ सार्थक हो जाता।

परब्रह्म के सम्बन्ध में अति उच्च स्तर की शब्दावली के होते हुए भी स्वप्न की बुद्धि के ग्रन्थों की तुलना तारतम वाणी से कदापि नहीं की जा सकती।

न कछू सुनिया वेद पुरान, न कछू किव चातुरी।
एक दोए वचन सुने मुख धनी के, तिनसे सुध सब परी।।८।।

न तो मैंने वेद–शास्त्रों एवं पुराणों का अध्ययन (श्रवण)

किया है और न ही चतुरतापूर्वक कुछ काव्य ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु मैंने सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के मुखारविन्द से अति अल्प (एक दो) वचनों को ही सुना है। उन्हीं वचनों से मुझे इस नश्वर जगत से लेकर परमधाम तक का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है।

भावार्थ– तारतम की एक या छः चौपाइयों में सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान बीज रूप से विद्यमान है। इसे ही उपरोक्त चौपाई में एक –दो वचन सुनकर सम्पूर्ण बोध प्राप्त करने की बात कही गयी है। वस्तुतः सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के मुखारविन्द से श्री मिहिरराज जी के द्वारा सुनी गयी अखण्ड व्रज, रास, एवं परमधाम की चर्चा ही एक–दो वचन है। इस चर्चा का संक्षिप्त रूप तारतम की एक या छः चौपाइयाँ हैं।

सो भी न सुन्या चित देयके, न तो जोर गया पूर चल।

पर जो रे गुन आड़े माया के, ताथें ले ना सकी बूंद जल।।९।।

दुर्भाग्यवश उस ज्ञान को भी मैंने एकाग्रचित्त होकर नहीं सुना। अन्यथा मेरे धाम धनी के हृदय से तो सागर की लहरों के समान ज्ञान का प्रवाह बह रहा था, किन्तु माया के गुण रूपी बन्धन मेरे आड़े आ गये और मैं उस ज्ञान की अमृतधारा की एक बूँद को भी ग्रहण नहीं कर सकी।

भावार्थ– यद्यपि प्रकृति (माया) के गुण सत्व, रज, तथा तम हैं, किन्तु उपरोक्त चौपाई में माया के गुणों से आशय रज और तम से उत्पन्न होने वाले प्रमाद, आलस्य, एवं भ्रम आदि दोषों से हैं। सत्व गुण तो ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है। वास्तविकता तो यह है कि श्री मिहिरराज जी में उपरोक्त मानवीय दोष (प्रमाद, आलस्य, एवं अहंकार आदि) थे ही नहीं, फिर भी

सुन्दरसाथ को सीख देने के लिये आत्म–चिन्तन की प्रक्रिया में छोटे से दोष को भी उन्होंने बहुत बढ़ा–चढ़ाकर लिखा है। यही प्रवृत्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वदा आगे बढ़ाती है।

ज्ञानामृत की एक बूँद को भी ग्रहण न कर पाने का कथन विनम्रता के भावों को दर्शाने के लिये आलंकारिक रूप में कहा गया है।

अब तिन गुन को कहा दीजे उपमा, धिक धिक पड़ो ए बुध।
आगे तूं सिरदार सबन के, तें क्यों न लई ए निध।।१०।।

अब अक्षरातीत के अनन्त गुणों की उपमा भला इस नश्वर जगत् में किससे दी जा सकती है? मेरी इस बुद्धि को धिक्कार है, जो इस प्रकार का दुस्साहस करने का प्रयास कर रही है। मेरी बुद्धि! तू इस प्रश्न का तो उत्तर दे

कि तू अन्तःकरण के मन–चित्त आदि में प्रमुख है, फिर भी तूने प्रियतम के द्वारा दी गयी ज्ञान–धारा को ग्रहण क्यों नहीं किया?

भावार्थ– यद्यपि अहंकार बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है, किन्तु बुद्धि की सात्विक, राजसी, एवं तामसिक अवस्था के आधार पर स्वयं की विवेचना भी बदल जाती है, अर्थात् वह अहंकार पर भी अपना वर्चस्व बना लेती है। यही कारण है कि उपरोक्त चौपाई में बुद्धि को अन्तःकरण में सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है।

अब जागी बुध कहूं मैं तोको, तूं है बुध को अवतार।
कर निरने तूं माया ब्रह्म को, खोल तूं पार द्वार।।११।।

हे जाग्रत बुद्धि! मैं तुमसे एक बात कहता हूँ कि तू ही बुद्धावतार है और तेरी सान्निध्यता से मेरी स्वप्नमयी

बुद्धि भी जाग्रत हो गयी है। तू माया और ब्रह्म के स्वरूप की स्पष्ट विवेचना कर तथा सारे संसार के लिये निराकार के पार अखण्ड मुक्ति का द्वार खोल दे।

भावार्थ– बी.सा.१३/५० में कहा गया है–

आयके चरनों लगे, तबहीं दई निध।

ततखिन हिरदे मिने, आए बैठी जागृत बुध।।

इससे यह स्पष्ट होता है कि श्री देवचन्द्र जी के चरणों में पहुँचने से पूर्व श्री मिहिरराज जी के अन्दर उनके जीव की वह स्वप्नमयी बुद्धि थी, जो प्रत्येक प्राणी में अनिवार्य रूप से होती है। जाग्रत बुद्धि अक्षर ब्रह्म की है, जो श्री देवचन्द्र जी के वरद हस्त रखते ही श्री मिहिरराज जी के धाम हृदय में प्रविष्ट हो जाती है तथा उनकी स्वप्नमयी बुद्धि को जाग्रत कर देती है।

इन दोनों से परे परमधाम के एकत्व (वहदत) में वह

निजबुद्धि भी होती है, जो मात्र युगल स्वरूप, सखियों, एवं महालक्ष्मी में होती है। इस सम्बन्ध में खि. १५/१७ का यह कथन देखने योग्य है–

तुम कूदत हो अर्स में, अपने इस्क के बल।
तब सुध जरा ना रहे, ना रेहेसी एह अकल।।

उपरोक्त चौपाई से यही निष्कर्ष निकलता है कि जाग्रत बुद्धि तथा निजबुद्धि में वही अन्तर है , जो अक्षर तथा अक्षरातीत में है। यद्यपि दोनों ही बुद्धियाँ जाग्रत हैं, किन्तु प्रेम का जो रस निजबुद्धि में है, वह जाग्रत बुद्धि में नहीं है। यही कारण है कि जाग्रत बुद्धि वि .सं.१७३५ तक निजबुद्धि की लीला के प्रारम्भ होने की बाट देखती रही। इस सम्बन्ध में कि. ५३/१ का कथन है–

धनी जी ध्यान तुमारे, बैठे बुध जी बरस सहस्र चार।
छे सौ साठ समें बीता, दुनिया को भयो आचार।।

स्पष्ट है कि परमधाम के चारों ग्रन्थ खिल्वत, परिक्रमा, सागर, और श्रृंगार निजबुद्धि की ही देन है। वि.सं. १७३५ से पूर्व न तो निजबुद्धि की लीला हुई और न परमधाम का कोई ग्रन्थ अवतरित हुआ।

"बरस निन्यानवे लों कही हुरम" क. १५/२ का कथन यही सिद्ध करता है कि वि.सं.१७३५ तक श्यामा जी पर्दे (फरामोशी) में थे। इसलिये न तो निजबुद्धि अवतरित हुई और न ही परमधाम की उपरोक्त चारों किताबें अवतरित हुईं।

और न कोई बुध मुझ जैसी, मैं ही बुध अवतार।

धाम धनी ग्रहूं इन विध, और अखंड करूं संसार।।१२।।

जाग्रत बुद्धि कहती है कि इस संसार में मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी बुद्धि नहीं है। मुझे ही बुद्धावतार कहलाने

की शोभा मिली है। मैंने श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में बैठकर धनी के चरणों को प्राप्त कर लिया है और अब तारतम ज्ञान के द्वारा सारे संसार को अखण्ड मुक्ति देना है।

ए बुध रही हमारे आसरे, जो सबथें बड़ा अवतार।

बुधजी बिना माया ब्रह्म को, कोई कर न सके निरवार।।१३।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि यह जाग्रत बुद्धि मेरे आश्रय में रही है, जिसके फलस्वरूप इसे सबसे बड़े अवतार के रूप में शोभा प्राप्त हुई है। इस बुद्धावतार के बिना आज तक किसी ने भी माया और ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ निरूपण नहीं किया है।

सुन्य निराकार निरंजन, तिनके पार के पार।

बानी गाऊं तित पोहोंच के, इन चरनों बुध बलिहार।।१४।।

आकार तथा अवयव से रहित जो महाशून्य (मोहतत्त्व) है, उसके परे बेहद है, तथा बेहद मण्डल से भी परे अनन्त परमधाम है। मैं जाग्रत बुद्धि से धाम धनी के चरणों की पहचान करके उन पर न्योछावर होना चाहती हूँ तथा अपनी आत्मिक दृष्टि (सुरता) से निजधाम पहुँच कर तारतम वाणी का कथन (गायन) करना चाहती हूँ।

भावार्थ– परमधाम पहुँचने का तात्पर्य चितवनि द्वारा सुरता से पहुँचना है। इसी प्रकार वाणी का अवतरण (कहना) ही गायन करना समझना चाहिए।

जो नहीं विष्णु महाविष्णु को, बुध जी पोहोंचे तित।

मेरे हिरदे चरन धनी के, इनें ए फल पाया इत।।१५।।

मेरे धाम हृदय में अक्षरातीत श्री राज जी के चरण कमल बसते हैं, जिनकी छत्रछाया में जाग्रत बुद्धि के रहने का परिणाम यह हुआ कि विष्णु भगवान एवं आदिनारायण को भी जिस परमधाम का ज्ञान नहीं है, जाग्रत बुद्धि ने शोभा एवं लीला सहित वहाँ का सारा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

ए सार पाए सुख उपजे, धंन धंन ए बुध अवतार।

अबलों किन ब्रह्मांड में, किन खोल्या न ए दरबार।।१६।।

यह बुद्धावतार धन्य–धन्य है, जिसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण ज्ञान के सार रूप परमधाम का ज्ञान अवतरित हुआ है। इस प्रकार अखण्ड मुक्ति का सुख सारे ब्रह्माण्ड को मिलना है। आज दिन तक, किसी भी ब्रह्माण्ड में, किसी ने भी अखण्ड परमधाम के विषय में कुछ भी नहीं

बताया था।

लीला इन अवतार की, करसी सब अखंड।

धंन धंन इन अवतार की, वानी गासी सब ब्रह्मांड।।१७।।

इस बुद्धावतार के द्वारा तारतम वाणी के उजागर होने की जो लीला होगी, उससे यह सारा ब्रह्माण्ड अखण्ड मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह अवतार धन्य –धन्य है, जिसके द्वारा अवतरित इस ब्रह्मवाणी का गायन योगमाया में अखण्ड होने वाले इस ब्रह्माण्ड के सभी जीव करेंगे।

भावार्थ– श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत श्री राज जी ही तारतम वाणी को कहने वाले हैं। "तारतम बानी धनिएं कही" ४/१५ तथा "केहेलाया बैठ हिरदे साख्यात" से यही निष्कर्ष निकलता है। जाग्रत बुद्धि एवं जोश (जिबरील) का योगदान उस ज्ञान को

मुख के द्वारा शब्द रूप में व्यक्त करने का होता है। इसलिये गौण रूप में कहीं जोश को तो कहीं जाग्रत बुद्धि को वाणी कहने वाला कह दिया गया है, किन्तु आन्तरिक रूप से ब्रह्मवाणी का कथन तो श्री राज जी के आवेश स्वरूप द्वारा ही होता है, जिसे सिन्धी भाषा में "हुक्म" के नाम से भी व्यक्त किया गया है।

अब कहूं तोको श्रवना, ताको धनिए कहे वचन।

क्यों न लई बानी वचिखिन, फिट फिट भूंडे करन।।१८।।

मेरे दोनों पापी कानों! अब मैं तुमसे एक बात कह रही हूँ– तुम्हे बारम्बार धिक्कार है। प्रियतम ने सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के स्वरूप में तुमसे ब्रह्मज्ञान के विलक्षण वचन कहे, किन्तु तुमने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया?

मेरे तो मुदा तुम ऊपर, लेना तुमारे जोर।

धनिएँ तो धन बोहोतक दिया, पर तें लिया न हरामखोर।।१९।।

मुझे तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास था कि मैं तुम्हारे बल से धाम धनी के मुखारविन्द से निकली हुई ज्ञान की अमृतधारा को ग्रहण कर लूँगी। यद्यपि प्रियतम अक्षरातीत ने ज्ञान रूपी धन की अपार वर्षा की, किन्तु मेरे निठल्ले (हरामखोर) कानों! तुमने उसे थोड़ी मात्रा में भी ग्रहण नहीं किया।

भावार्थ– "हरामखोरी" का अर्थ है– बिना परिश्रम किये खाना। कानों का गुण है श्रवण करना। यदि ये लौकिक बातों का श्रवण करते हैं किन्तु ब्रह्मवाणी की चर्चा से दूर रहते हैं, तो ये मात्र शोभा के लिये ही दिखायी देते हैं। इनकी कोई उपयोगिता नहीं होती। इसे ही हरामखोरी करना कहते हैं।

इस चौपाई में यह बात मुख्य रूप से दर्शायी गयी है कि अध्यात्म के स्वर्णिम पथ पर पहला कदम होता है– आध्यात्मिक ज्ञान का श्रवण करना। "चर्चा सुणजो दिन ने रात, आपणने त्रूठा प्राणनाथ" रास २/१७ का कथन इसी ओर संकेत कर रहा है। जिस समाज में आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा ही नहीं होती, वह विनाश के रसातल में पहुँच जाता है।

अब अपना तूं संभार श्रवना, हो वचिखिन वीर।

बानी जो वल्लभ की, सो लीजो द्रढ़ कर धीर।।२०।।

मेरे कानों! अब तुम अपने उत्तरदायित्व का पालन करो। एक विलक्षण वीर की तरह तुम धीरतापूर्वक प्रियतम अक्षरातीत की अमृतमयी वाणी को ग्रहण करो।

श्रवना कहे सुने मैं नीके, विध विध के वचन।

पूरी पिउ ने आस हमारी, उपज्यो आनंद घन।।२१।।

प्रत्युत्तर में कान कहते हैं– हमने धाम धनी के मुख से अखण्ड व्रज, रास, एवं परमधाम की मनोरम चर्चा का श्रवण किया है। हमारे अन्दर तारतम ज्ञान को सुनने की जो इच्छा थी, उसे प्रियतम ने अच्छी तरह से पूर्ण किया है और अब हम बहुत ही अधिक आनन्द में हैं।

अब वचन लेऊं सब सार के, भी यों कहे श्रवन।

इन बिध बानी ग्रहूं मैं प्यारी, ज्यों सब कोई कहे धंन धंन।।२२।।

दोनों कान इस प्रकार भी कहते हैं– सम्पूर्ण ज्ञान के सार रूप प्रियतम के वचनों को हम अवश्य ग्रहण करते रहेंगे। इस प्रकार परमधाम की अति प्रिय लगने वाली ब्रह्मवाणी को हम ग्रहण करेंगे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति हमें

धन्य–धन्य कहे।

बेसुध नींद कहूं मैं तोको, तू निठुर नीच निरधार।
हुई तू सब गुन के आड़े, ना लेने दई निध आधार।।२३।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं– सबको बेसुध करने वाली निद्रा! मैं तुमसे एक कटु सत्य कह रही हूँ। निश्चय ही तू निष्ठुर और पापिनी है। तू ही मेरे जीव के उच्च गुणों को प्रकट नहीं होने देती और उनकी राह में रोड़ा (दीवार) बन कर खड़ी हो जाती है। ब्रह्मवाणी मेरे जीवन का आधार है, किन्तु तुमने मुझे अपने जाल में फँसाकर उसे ग्रहण ही नहीं करने दिया।

तू तो माया रूप पापनी, तें डबोई ले कर बाथ।
तें श्रवना को सुनने ना दिया, आलस जम्हाई तेरे साथ।।२४।।

रे पापिनी! तू तो प्रत्यक्ष रूप से माया का ही स्वरूप है। तूने मेरे जीव के तन से लिपटकर उसे भवसागर में ही डुबो दिया। तुम्हारे साथ आलस्य और जम्भाई का सर्वदा साथ रहता है। इसी के द्वारा तुमने मेरे कानों को परमधाम की अमृतमयी वाणी भी सुनने नहीं दी।

भावार्थ– गहन निद्रा के कारण, अत्यधिक आलस्य के प्रभाव में, मुख खोलने की प्रक्रिया को उवासी (जम्भाई) लेना कहते हैं। तमोगुण की अधिकता से आलस्य एवं निद्रा में वृद्धि होती है। तमोगुण से ग्रस्त व्यक्ति या समाज अध्यात्म के पथ पर नहीं चल सकता। वह अपना विवेक खोकर पुरुषार्थ से दूर हो जाता है, जिससे वह अपने विनाश को निमन्त्रण देता है।

अनेक अंधेर दई तें जीव को, ज्यों मीन बांधे मांहें जाल।
जिन नैनों निध निरखूं निरमल, तिन नैनों आड़ी भई पाल।।२५।।

जिस प्रकार मछली शिकारी के द्वारा डाले गये जाल में फँस जाती है, उसी प्रकार तुमने भी जीव को अनेक प्रकार की अज्ञानता के जाल में फँसा रखा है। अपनी जिस पवित्र अन्तर्दृष्टि से मैं अपने प्राणधन अक्षरातीत को देख सकती थी, उनके दर्शन से मेरे आत्मिक नेत्रों के समक्ष तू दीवार बन गयी।

द्रष्टव्य– व्यक्ति या समाज में तमोगुण की बढ़ती प्रवृत्ति उसमें प्रमाद, आलस्य, एवं निद्रा की वृद्धि कर देती है, जिसके परिणामस्वरूप ध्यान (चितवनि) और साक्षात्कार जैसे शब्द काल्पनिक तथा असम्भव से लगने लगते हैं। दुर्भाग्यवश हमारा समाज इसी रोग से ग्रसित दिखायी दे रहा है।

फिट फिट भूंडी दुष्ट पापनी, तोको दई अनेक धिकार।
पेहेले अवसर गमाईया, अब नीके निरखो भरतार।।२६।।

रे मूर्ख! दुष्ट! पापिनी निद्रा! तुझे अनेक प्रसंगों में मैंने बारम्बार फटकार लगाते हुए धिक्कारा है। जब धाम धनी श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला कर रहे थे, उस समय तूने अवसर खो दिया, अर्थात् मेरे जीव पर वर्चस्व बनाये रखा और प्रियतम की स्पष्ट पहचान नहीं होने दी। अब तो इस दूसरे (श्री मिहिरराज जी के) तन में लीला करने वाले प्रियतम अक्षरातीत का अच्छी तरह से दर्शन कर लेने दे।

तूं करत मृतक समान, ऐसी निपट निखर।
अब तूं आओ आड़ी माया के, ज्यों निरखूं धनी निज घर।।२७।।

तू ऐसी निष्ठुर है कि जीव के शरीर को मरे हुए के समान

कर देती है। अब तक तो तू धनी के आड़े आ जाती थी, पर अब माया के आड़े आ जा, जिससे मैं अपने प्राणेश्वर और अपने मूल घर को अच्छी तरह से देख लूँ।

भावार्थ– नींद की गहन अवस्था में किसी को भी यह पता नहीं होता कि मैं कौन हूँ तथा कहाँ सो रहा (रही) हूँ। जिस प्रकार नींद में हम स्वयं को तथा संसार को भी भूल जाते हैं, उसी प्रकार यदि हम धनी के प्रेम में स्वयं को और संसार को भूल जाये, तो धाम धनी का दर्शन अवश्य होगा। उपरोक्त चौपाई में यही विशेष शिक्षा ग्रहण करने योग्य है।

नींद कहे आतम जब जागी, तब क्यों रह्यो मैं जाए।

नींद कहे मैं जात हों, लागूं तुमारे पाए।।२८।।

निद्रा कहती है कि तारतम वाणी के प्रकाश में प्रेम की

राह अपनाकर जब आत्मा ही जाग्रत हो गयी, तो मैं जीव के शरीर में रहकर क्या करूँगी? अब तो मैं आपके चरणों में प्रणाम करके आपसे बहुत दूर जा रही हूँ।

भावार्थ– ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा के जाग्रत हो जाने पर नींद आती ही नहीं। वस्तुतः नींद तो आती है, किन्तु बहुत ही कम। सूक्ष्म अर्थों में, नींद का आशय अज्ञान रूपी नींद से भी है।

अब आई तूं अरूचड़ी, जब मिले मोहे श्री राज।

ऐसी अंधी अकरमन, तूं सरजी किस काज।।२९।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि विवेक दृष्टि से रहित एवं निष्क्रिय अरूचि! अब ऐसे समय में तू मेरे पास आयी है, जब मुझे प्राण प्रियतम श्री राज जी मिल गये हैं। यह तो बताओ कि तू पैदा ही किसलिये हुई?

भावार्थ– यह सर्वमान्य तथ्य है कि इस संसार में कोई भी व्यक्ति इच्छा से रहित नहीं हो सकता। वह इच्छा चाहे संसार की हो या परब्रह्म को पाने की। "अरूचि" का तात्पर्य है– किसी वस्तु की इच्छा न होना। नकारात्मक विचारों की प्रबलता एवं तमोगुण की अधिकता से प्रियतम के दर्शन के प्रति अरूचि बनी रहती है। किन्तु यदि यही अरुचि माया के प्रति बन जाये, अर्थात् मायावी सुखों की नाममात्र भी इच्छा न हो, केवल धाम धनी के दर्शन, प्रेम, एवं वार्तालाप की इच्छा हो जाये, तो जीवन में आनन्द का झरना बहने लगता है।

श्री इन्द्रावती जी उलाहने के रूप में अरूचि से कहती हैं कि जब मैंने हब्शे में धाम धनी को पा लिया, तो अब मेरे पास क्यों आयी है? पहले तूने मुझे राज जी से दूर किये रखा और माया (राज्य के मन्त्री के सचिव पद आदि

कार्यों) में लगाये रखा। यदि तू पहले ही संसार से मेरा ध्यान हटा देती, और धनी के प्रति लगा देती तो मैं सम्भवतः बहुत पहले अपने प्राणेश्वर को पा सकती थी।

फिट फिट भूंडी तें भुलाई, अब कर कछू बल।

आतम दृष्ट जुड़ी परआतम, हो माया मांहें नेहेचल।।३०।।

पापिनी अरूचि! तुझे बार-बार धिक्कार है। तूने प्रियतम के प्रति ही मेरे मन में अनिच्छा बनाये रखी। अब तो तू कुछ बल कर। अब प्रियतम की छत्रछाया में मेरी आत्मिक दृष्टि अपनी परात्म को देखने लगी है। अब मैं यही चाहती हूँ कि तू माया में हमेशा के लिये चली जा तथा कभी भी मेरे और धनी के बीच में न आना, अर्थात् धाम धनी के प्रति मेरे मन में कभी भी अरूचि नहीं होनी चाहिए।

अरूचड़ी कहे मैं बलवंती, मोको न जाने कोए।

छानी होएके बैठूं जीव में, भानूं सो साजा न होए।।३१।।

अरूचि कहती है कि मैं इतनी बलवान हूँ कि कोई भी मेरी शक्ति की माप नहीं कर सकता। मैं जीव के अन्तःकरण में गुप्त रूप से विद्यमान होकर उसे इस प्रकार विनाश के मार्ग पर डाल देती हूँ कि वह अपनी पूर्ववत् अवस्था में नहीं आ पाता।

भावार्थ– यदि किसी के हृदय में ब्रह्मज्ञान ग्रहण करने, परब्रह्म का ध्यान करने, एवं सत्य को उजागर करने की इच्छा ही न हो, तो वह अध्यात्म जगत में एक पग भी नहीं चल सकता। अनिच्छा के मूल में तमोगुण से उत्पन्न होने वाला आलस्य एवं प्रमाद ही हैं। उपरोक्त चौपाई में यह बात दर्शायी गयी है कि यदि किसी महान पुरुष में शुभ कर्मों के प्रति अरूचि हो जाती है, तो उसका पतन

होने में देर नहीं लगती।

धनी अपना जब आप संभारे, तब चोरी करे क्यों चोर।
अब उलटाए करूं मैं सीधा, बैठों माया में जोर।।३२।।

जब घर का स्वामी अपने घर की देखभाल करता है तो भला यह कैसे सम्भव है कि बाहर से कोई चोर आकर चोरी कर जाये। अब मैं जीव के हृदय में रहना छोड़कर हमेशा के लिये माया को अपना निवास स्थान बना लेती हूँ जिससे जीव, जो अब तक मायावी सुखों को भोगने की उल्टी राह पर चल रहा था, परब्रह्म के प्रेम मार्ग पर चलने लगेगा।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में उपमा अलंकार के माध्यम से जीव को शरीर रूपी घर का स्वामी कहा गया है। यदि वह ज्ञान के प्रकाश में श्रद्धा, समर्पण, एवं प्रेम–लक्षणा

भक्ति के मार्ग पर चलता है, तो षड् विकार (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, तथा मत्सर अर्थात् ईर्ष्या) रूपी चोर उसके आत्मिक आनन्द (धन) की चोरी नहीं कर सकते।

तलबे सेवा करूं सब अंगों, मोहे मिले धनी एकांत।
तिन समें आए बैठी अंग में, फिट फिट भूंडी स्वांत।।३३।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि जब धाम धनी श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में लीला कर रहे थे, उस समय वे एकान्त में थे अर्थात् अक्षरातीत के रूप में वे स्पष्ट रूप से उजागर नहीं हुए थे। ऐसे स्वर्णिम समय में मेरी प्रबल हार्दिक इच्छा थी कि मैं अपने सभी अंगों (अन्तःकरण तथा इन्द्रियों) से उनकी सेवा करूँ। किन्तु पापिनी शान्ति! तुझे बार-बार धिक्कार है, जो तू

दुर्भाग्यवश उसी समय आकर मेरे हृदय में बैठ गयी।

भावार्थ– इस चौपाई में "स्वांत" उस काल्पनिक शान्ति को कहा गया है, जिसमें यह मानसिकता बन जाती है कि मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया है और भविष्य में कुछ भी पुरुषार्थ (अध्ययन, चितवनि, तथा सेवा आदि) करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ शान्ति का तात्पर्य आत्म–साक्षात्कार या ब्रह्म–साक्षात्कार से मिलने वाली अखण्ड शान्ति नहीं है, बल्कि तमोगुण से उत्पन्न होने वाली यह शान्ति हवाई महल की तरह है, तथा आलस्य एवं प्रमाद में बीज रूप से कार्य करती है। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि लापरवाही का दोष इससे ही उत्पन्न होता है।

धनी मिले स्वांत न कीजे, क्यों बैठिए करार।

जाग दौड़ कीजे सब अंगों, स्वांत कीजे संसार।।३४।।

हे जीव! अब तुझे ज्ञान दृष्टि से धाम धनी के चरण–कमल प्राप्त हो चुके हैं। ऐसी अवस्था में तुझे आनन्द मनाते हुए चुपचाप शान्तिपूर्वक नहीं बैठे रहना चाहिए। तू आलस्य की नींद को छोड़कर प्रियतम को अपने धाम हृदय में बसाने के लिये सचेत हो जा और अपने सभी अंगों (मन, चित, बुद्धि, तथा अहंकार) में प्रेम भरकर निरन्तर उनकी ओर उन्मुख हो। इस प्रपञ्चमयी संसार से उदासीन हो जा।

भावार्थ– तारतम वाणी का बाह्य ज्ञान ग्रहण करने के पश्चात् सुन्दरसाथ में प्रायः यह भावना घर कर जाती है कि अब तो मैंने श्री राज जी को जान लिया है, चितवनि में इतना परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? किन्तु

यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक जीवन में उन्नति के रथ को रोक देती है। ज्ञान का उद्देश्य सत्य को दर्शाना होता है, प्राप्त कराना नहीं। धाम धनी को अपने हृदय में बसाने के लिये चितवनि का मार्ग अपनाना ही पड़ेगा। मात्र शब्द ज्ञान ही सब कुछ नहीं है।

स्वांत कहे मैं तबलो थी, जोलो नींद हुती आतम।

अब मैं बैठी तरफ माया के, विलसो अपना खसम।।३५।।

शान्ति कहती है कि मैं तभी तक थी, जब तक आत्मा के ऊपर नींद का आवरण पड़ा हुआ था। अब मैं आपको छोड़कर माया में अपना निवास बनाने जा रही हूँ। आप अपने प्रियतम अक्षरातीत के साथ आनन्द में मग्न रहिए।

भावार्थ– इस चौपाई में यह बात विशेष रूप से दर्शायी गयी है कि तमोगुण एवं रजोगुण के संस्कारों से ही इस

प्रकार की मानसिकता पैदा होती है कि शब्द ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् अन्य कुछ (चितवनि, सेवा, जागनी, आदि) करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की विचारधारा को संसार की ओर केन्द्रित कर देना चाहिए और धाम धनी को अपने हृदय मन्दिर में बसाने के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए।

अब कहूं तोको लोभ लालची, फिट फिट मूरख अजान।
लोभ न लाग्या चरन धनी के, जासों पाईए घर निरवान।।३६।।

श्री इन्द्रावती जी के शब्दों में– लोभ और लालच! मैं तुम दोनों से एक विशेष बात कह रही हूँ। तुम मूर्ख और अज्ञानी हो। तुम्हें बार–बार धिक्कार है। रे लोभ! तू धाम धनी के उन चरणों में क्यों नहीं लगा , जिनकी कृपा से अपने अखण्ड घर की प्राप्ति होती है?

अब जिन जाओ तरफ माया के, मेरे लोभ लालच दोऊ जोड़।

जोर पकड़ो दोऊ पाउं पिउके, करो रात दिन दौड़।।३७।।

मेरे जीव के हृदय में विद्यमान लोभ और लालच! तुम दोनों माया की चाहत में न फँसो, बल्कि धाम धनी के दोनों चरणों को जोर से पकड़ लो और रात-दिन उन्हीं की चाहना में लगे रहो।

कहे लोभ लालच क्या गुनाह हमारा, जोलो जीव ना करे खबर।

अब तुम पिउ देखाया हमको, तो देखो पिउ ग्रहें द्रढ़ कर।।३८।।

लोभ-लालच कहते हैं कि हमारा क्या दोष है? जब जीव ही हमें अक्षरातीत का ज्ञान न दे, तो भला हम क्या कर सकते थे? अब आपने हमें प्रियतम अक्षरातीत की पहचान करा दी है, तो आप भी देखते जाइये कि हम किस प्रकार दृढ़तापूर्वक धाम धनी के चरण कमलों को

ग्रहण कर लेते हैं।

भावार्थ– मायावी पदार्थों तथा पद–प्रतिष्ठा आदि का लोभ जहाँ मनुष्य को अवनति की ओर ले जाता है, वहीं परब्रह्म के ज्ञान, दर्शन, एवं सामीप्यता का लोभ हमें अध्यात्म के शिखर पर बैठा देता है।

भट परो तृष्णा कहूं तोको, तूं निपट निठुर निरधार।

और सबे गुन तृपत होवें, पर तो में कोई भूख भंडार।।३९।।

घृणा के स्वरों में तृष्णा को फटकारती हुई श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे तृष्णा! तुझे धिक्कार है। निश्चित रूप से तू बहुत ही निष्ठुर है। माया के अन्य सभी गुणों अर्थात् मानवीय अवगुणों (क्रोध, लोभ, मोह, आदि) की तो तृप्ति हो जाती है, किन्तु तुम्हारे अन्दर तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे भूख का अपार भण्डार ही भरा पड़ा है।

भावार्थ– सभी विकारों के मूल में माया के सत्व, रज, और तम ये तीन गुण हैं। इनके प्रभाव से त्रिगुणातीत चैतन्य (जीव) वैसे ही प्रभावित हो जाता है, जैसे स्फटिक मणि पर काली या लाल वस्तु रख देने पर सम्पूर्ण मणि ही काले या लाल रंग की दिखने लगती है।

इसी प्रकार माया के ये गुण जीव के साथ जुड़कर अवगुण कहलाने लगते हैं। इस प्रकरण का शीर्षक ही "गुणों को फिराना" है। इसका आशय यह है कि माया के गुणों, अर्थात् जीव के अवगुणों, को परिवर्तित कर दिव्य गुणों में रूपान्तरित कर देना। उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में कथित सभी गुणों (माया जन्य) के तृप्त होने का आशय है– मानवीय अवगुणों (काम, क्रोध, आदि) का तृप्त होना।

अब तोको क्यों काढ़ूं रे तृष्णा, तोसों बड़ा मोहे काम।

तृष्णा लाग तूं पूरन पिउसों, ज्यों बस करूं धनी श्रीधाम।।४०।।

रे तृष्णा! अब तुझे मैं अपने हृदय से क्यों निकालूँ? मुझे तो तुझसे बहुत बड़ा काम लेना है। हे तृष्णा! तू पूर्ण रूप से धाम धनी के प्रति केन्द्रित हो जा, जिससे मैं अपने प्राणेश्वर को वश में कर लूँ।

भावार्थ– भर्तृहरि का कथन है– "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः" अर्थात् हम बूढ़े हो जाते हैं, किन्तु विवेक के अभाव में तृष्णा कभी भी बूढ़ी नहीं होती, वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है।

यदि तृष्णा (चाहत) की यह प्रवृत्ति माया की ओर न होकर केवल श्री राज जी के लिये हो जाये, तो उन्हें पा लेना बहुत ही सरल हो जाता है। उपरोक्त चौपाई इसी सत्य को रेखांकित करती है।

तृष्णा कहे मैं क्योंए न छोडूं, जो आतमाऐ देखाया आधार।
तुम जाए गुन और फिराओ, मैं छोडूं नहीं निरधार।।४१।।

श्री इन्द्रावती जी को उत्तर देते हुए तृष्णा कहती है कि जब आपने जीवन के आधार अक्षरातीत की पहचान करा दी है, तो मैं उन्हें किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ सकती। आप माया के अन्य गुणों अर्थात् जीव के अवगुणों को भी धाम धनी के प्रति केन्द्रित कीजिए। आप विश्वास कीजिए, मैं निश्चित रूप से प्रियतम के चरण कमल नहीं छोडूँगी।

भावार्थ– जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है– सर्वश्रेष्ठ वस्तु की चाहत (तृष्णा) रखना। यदि विवेक दृष्टि खुल जाती है और यह बोध हो जाता है कि अक्षरातीत से अधिक श्रेयस्कर अन्य कोई भी नहीं है, तो सम्पूर्ण चाहत प्रियतम के प्रति केन्द्रित हो जाती है और

अध्यात्म के शिखर पर पहुँचा देती है।

मूरख मोह कहूं मैं तोको, जब आतम धनी घर आया।
इन अवसर तूं चूक्या चंडाल, जाए बैठा मांहें माया।।४२।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे मूर्ख मोह! जब प्रियतम अक्षरातीत श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे थे, उस समय तूने उनको रिझाने का स्वर्णिम अवसर खो दिया और कण्ठ तक माया में डूबा रहा। निश्चित रूप से तू चाण्डाल के समान नीच है।

भावार्थ– सगे–सम्बन्धियों तथा सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह मनुष्य को भवबन्धन में बाँधे रखता है। इतना ही आकर्षण यदि परब्रह्म के प्रति हो जाये , तो जीवन धन्य–धन्य हो जाये।

अब आओ तूं वालाजी में, मायासों कर बिछोह।

देखूं जोर करे तूं कैसा, सांचे सिपाही मेरे मोह।।४३।।

रे मोह! अब तू माया से अपना ध्यान हटा ले और एकमात्र प्रियतम अक्षरातीत के प्रति केन्द्रित हो जा। तू तो मेरा सच्चा सिपाही है। देखती हूँ, धनी को प्राप्त कराने में तू कितनी शक्ति लगाता है?

बात बड़ी कहे मोह मेरी, मोको जाने प्रेमी सोए।

मैं बैठत हों जित आए के, तितथें उठाए न सके कोए।।४४।।

मोह उत्तर देता है कि मुझसे प्रेम करने वाले, अर्थात् मेरे बन्धन में बँधे रहने वाले, ही मेरे विषय में यथार्थ रूप से जानते हैं। यह मेरी बहुत बड़ी विशेषता है कि मैं जिसके हृदय में अपना निवास बनाकर बैठ जाता हूँ, वहाँ से मुझे हटाने की शक्ति किसी में भी नहीं होती।

भावार्थ– संसार की यही वास्तविकता है कि बड़े–बड़े विद्वानों, तपस्वियों, एवं महापुरुषों से भी मोह का बन्धन पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पाता। यदि ऐसा ही लगाव श्री राज जी से हो जाये, तो वह प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप धनी के चरण कमल अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

जो तुम धनी देखाया मोको, होए लागूं मूरख मूढ़ अंध।
एकै विध है मेरी ऐसी, और न जानूं सनंध।।४५।।

आपने जब मुझे अक्षरातीत की पहचान करा दी है, तो मैं उनसे एक मूर्ख, मूढ़, और अन्धे व्यक्ति की तरह इस प्रकार लिपट जाऊँगा कि उन्हें किसी भी स्थिति में छोड़ूँगा ही नहीं। किसी को वश में करने का केवल यही मार्ग मैं जानता हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं

मालूम।

भावार्थ– मूर्खता का गहन रूप मूढ़ता है। यदि कोई अन्धा व्यक्ति जो अति मूर्ख हो, किसी को पकड़ ले, तो लाख बार समझाने पर भी उसे छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता। इसी दृष्टान्त से मोह की शक्ति को दर्शाया गया है। यही मोह यदि धाम धनी की ओर केन्द्रित हो जाये, तो साक्षात्कार की प्रक्रिया बहुत ही सरल हो जायेगी।

हरख सोक तुम भए माया के, धिक धिक तुमको अजान।
आए धनी हरख न आया, चले सोक न आया निदान।।४६।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं– हे हर्ष और शोक! तुम भी माया के अधीन हो गये? जब धाम धनी सद्गुरु के रूप में लीला कर रहे थे, उस समय उन्हें प्रत्यक्ष पाकर भी तुम्हें

हर्ष क्यों नहीं हुआ? इसी प्रकार जब उनका धामगमन हो गया, तब भी तुम्हें उसका शोक क्यों नहीं हुआ ? प्रेम और समर्पण के सम्बन्ध में तुम्हारी इस अज्ञानता भरी भूल के लिये तुझे बार–बार धिक्कार है।

हरख सोक कहे हम निठुर, भए सो अंध अभागी।
धनी बिगर करे कहा हम, जोलों जीव न कहे जागी।।४७।।

हर्ष और शोक कहते हैं कि निश्चित रूप से हम अन्धे, भाग्यहीन, और निष्ठुर हैं। किन्तु जब तक जीव स्वयं जाग्रत होकर धाम धनी की पहचान न दे, तब तक हम कर ही क्या सकते थे?

अब तुम आओ नेहेचल सुख में, जिन भूलो अवसर।
माया में लाहा लेऊं धनी का, हरख ले जागो घर।।४८।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे हर्ष और शोक! अब तुम धनी के अखण्ड सुख का रसपान करो। मैं इस नश्वर जगत में भी धनी को रिझाने का लाभ लेना चाहती हूँ तथा परमधाम में भी अपनी परात्म में हर्ष के साथ जाग्रत होना चाहती हूँ।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कदाचित् "जागो" के स्थान पर "जागों या जागूं" रहा हो।

हरख कहे मैं क्या करों, जो जीव को नहीं खबर।

सोक कहे न पेहेचान पिउ की, तो बिछुरे जाने क्योंकर।।४९।।

हर्ष कहता है कि मैं क्या करता। जब मेरे जीव को ही अक्षरातीत की पहचान नहीं थी, तो मैं कैसे जान सकता था कि अक्षरातीत इस समय श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला कर रहे हैं? शोक भी यही कहता है कि मैं भी क्या

कर सकता था? जब मेरे जीव को ही प्रियतम के स्वरूप की पहचान नहीं थी, तो उनके अन्तर्धान के विषय में मैं क्या जान सकता था?

हरख सोक कहे हम बलिऐ, दोऊ जोधा बड़े जोरावर।
अब पेहेचान करी तुम पिउ की, अब क्योंऐ न भूलों अवसर।।५०।।

हर्ष और शोक कहते हैं कि हम दोनों बहुत ही शक्तिशाली योद्धा हैं। जब आपने (श्री इन्द्रावती जी ने) प्राणेश्वर अक्षरातीत की पहचान कर ही ली है, तो अब भविष्य में हम किसी भी स्थिति में सुनहरे अवसर को नहीं गँवायेंगे।

भावार्थ– अपने सगे–सम्बन्धियों से मिलने पर हमें बहुत हर्ष (आनन्द) होता है तथा वियोग पर शोक (कष्ट) होता है। किन्तु, इसके विपरीत, धाम धनी से

मिलने के लिये हमारे हृदय में विरह की एक बूँद भी दिखायी नहीं देती। कर्मकाण्ड की औपचारिकताओं को पूर्ण करने में ही हम अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं।

यही तो विडम्बना है कि जो अनादि काल से हमारा अपना है, कभी हमें छोड़ नहीं सकता, तथा उसके जैसा हमारा कोई नहीं, फिर भी वह हमें पराया लगता है। परन्तु जो माया के नश्वर पुतले हैं, इस जन्म से पूर्व उनसे हमारा क्या सम्बन्ध था यह हमें नहीं मालूम, फिर भी हम अपना तन–मन–धन उन्हीं के लिये समर्पित किये रहते हैं। हमारे हर्ष और शोक का सम्बन्ध मात्र संसार के लिये होता है, धनी के लिये नहीं। यदि हम अपनी इस मानसिकता में परिवर्तन कर लें, तो निश्चित ही हमारी आत्मा जाग्रत हो जायेगी।

फिट फिट जोधा जोरावर तुमको, मद मत्सर अहंकार।

तुम अंतराय करी धनीसों, दौड़ करी संसार।।५१।।

श्री इन्द्रावती जी मद, मत्सर (ईर्ष्या), तथा अहंकार को फटकारते हुए कहती हैं कि तुम्हें धिक्कार है। तुम इतने महान योद्धा हो, फिर भी तुमने अपने और धाम धनी के बीच में दूरी बना ली तथा मिथ्या जगत के पीछे भागते रहे।

भावार्थ– मद तथा अहंकार में सूक्ष्म अन्तर होता है। इनका स्वभाव है स्वयं को अन्यों से श्रेष्ठ मानना। "अहंकार" के बीज में अस्मिता होती है, जिसका अर्थ होता है, स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखना। इसी प्रकार अहंकार का उग्र रूप ही "मद" होता है। अहंकार से ग्रसित व्यक्ति कभी अपनी भूल के विषय में सोच भी सकता है, किन्तु मद के वशीभूत हुआ प्राणी अपनी भूल

स्वीकार करने के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता। किसी को अपने समकक्ष या अपने से अधिक (आगे) देखकर मन में जो ईर्ष्या की भावना होती है, वही "मत्सर" है। ये तीनों दोष तमोगुण और रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। इनके बन्धनों में फँस जाने वाला व्यक्ति, अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर, इन्हीं का प्रत्यक्ष रूप दिखने लग जाता है।

तुम तीनो जोधा भए क्यों उलटे, भए माया के दास।
जब जीवनजीं मिले जीव को, तब क्यों न कियो उलास।।५२।।

यद्यपि तुम तीनों महान योद्धा हो , किन्तु माया के अधीन होकर उल्टी दिशा में अब तक क्यों चलते रहे? जब जीव को साक्षात् अक्षरातीत के चरण कमल मिल गये, तो तुम प्रसन्नता में क्यों नहीं डूब गये?

भावार्थ– अपने सौन्दर्य, धन, पद, प्रतिष्ठा, एवं कुल आदि का अहंकार मायाजन्य है। जब ज्ञान दृष्टि से धाम धनी की पहचान हो जाये, तो हमें इस बात का मद होना चाहए कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ जो मुझे धाम धनी मिले हैं। अहंकार भी यही करना चाहिए कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ जो मुझे धाम धनी मिले हैं तथा धनी का मिलना मेरा सौभाग्य है। इसी प्रकार ईर्ष्या इस बात की करनी चाहिए कि अपने प्राणेश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण, विरह, प्रेम, विनम्रता, एवं सेवा में कोई भी उसकी बराबरी न कर सके।

उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में यह संशय होता है कि जब जीव को धाम धनी मिल ही गये हैं, तो पुनः जाग्रत होने के लिये मायावी विकारों को छोड़कर चितवनि में डूबने के लिये क्यों कहा जाता है?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि परमधाम के मूल सम्बन्ध से श्री राज जी सूक्ष्म (गुह्य, बातिनी) रूप से सबको प्राप्त हैं, किन्तु माया का ऐसा पर्दा कर दिया है कि माया की नींद में सोयी हुई आत्मा यह नहीं जानती कि वह स्वयं कौन है तथा उसके हृदय में कौन है? वह जीव के हृदय, इन्द्रिय, शरीर, तथा सुख–दुःख को अपना माने बैठी है। यदि धाम धनी की कृपा (मेहर) से वह पर्दा हट जाता है, तो आत्मा अपने मूल तन, युगल स्वरूप, एवं परमधाम को देखने लगती है, तथा अपने हृदय में परात्म जैसी ही अनुभूति करने लगती है।

यदि यह कहा जाये कि "सत सुपने में क्यों कर आवे, सत सांई है न्यारा" (किरंतन ३२/२) तथा

बाहेर निकसो तो आप नहीं, माहें नरक के कुण्ड।

ब्रह्म तो यामें न पाइए, ए क्यों कहिए ब्रह्म घर पिण्ड।।

किरंतन ३४/१४

के आधार पर श्री राज जी केवल परमधाम में ही विराजमान हैं, इस नश्वर शरीर में विद्यमान आत्मा के हृदय में नहीं।

इसके बारे में यही कहा जायेगा कि किरंतन के उपरोक्त कथन संसार के उन प्रवाही विद्वानों को समझाने के लिये कहे गये हैं, जो इस नश्वर संसार के कण–कण में परब्रह्म को मानते हैं। ब्रह्माण्ड का ही लघु (व्यष्टि) रूप शरीर है तथा जीव आदिनारायण की चेतना का प्रतिभास (सांकल्पिक) रूप है, जिसे वेदान्त की भाषा में चिदाभास कहा जाता है। यही कारण है कि इनमें परब्रह्म के होने का निषेध किया गया है।

पर जिस जीव चेतन में परमधाम की आत्मा होगी, उसके धाम हृदय में अक्षरातीत क्यों नहीं विराजमान होंगे

और उनका अनुभव भी आत्मा के हृदय में क्यों नहीं होगा? जब ज्ञान दृष्टि से चितवनि होगी तो परमधाम मूल मिलावे में अक्षरातीत को मानकर ध्यान करेंगे, किन्तु प्रेम में डूब जाने पर आत्मा को अपने धाम हृदय में ही सम्पूर्ण परमधाम एवं युगल स्वरूप के दर्शन होने लगेंगे। इस तथ्य को सागर ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है–

अन्तस्करन आतम के, जब ए रह्यो समाए।
तब आतम परआतम के, रहे न कछु अन्तराए।।

सागर ११/४४

किन्तु शरीर, जीव, और संसार से अपनी दृष्टि के हटे बिना आत्मा को यह बोध नहीं हो सकता है कि मेरे धाम हृदय में ही राज जी विराजमान है। श्री देवचन्द्र जी एवं श्री मिहिरराज जी के साथ भी यही स्थिति रही। चालीस वर्ष की अवस्था से पूर्व इन दोनों तनों को जगह –जगह

भटकना पड़ा, किन्तु जब इनसे प्रत्यक्ष लीला होने लगी तो सुन्दरसाथ को भी पञ्चभौतिक नेत्रों से युगल स्वरूप के दर्शन होने लगे। इस समय सागर ग्रन्थ की ये चौपाई इसी सन्दर्भ में कही जाती है–

"अर्स तुमारा मेरा दिल है, तुम आए करो आराम।"

वस्तुतः प्रकाश ग्रन्थ के अवतरण के समय श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में श्री राज जी अपने आवेश स्वरूप से प्रत्यक्षतः अवश्य विराजमान हैं, किन्तु सुन्दरसाथ को सिखापन देने के लिये इस प्रकार का कथन किया गया है।

इसी प्रकार मूल सम्बन्ध से गुह्य रूप से धाम धनी सबकी आत्मा के धाम हृदय में अवश्य विराजमान हैं, किन्तु इसका बोध मात्र ज्ञान दृष्टि से ही है। प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा होने वाली बोध दृष्टि के न होने से यह बात कही

जाती है कि हमें अपने धनी को रिझाने के लिये जीव के विकारों को दूर कर प्रेममयी चितवनि करनी ही पड़ेगी।

अब तुम संगी हूजो मेरे, धनिऐं कियो मोसों मिलाप।
सिर ल्यो सोभा धनी धाम की, दूर हो मायाथें आप।।५३।।

अब प्रियतम अक्षरातीत मेरे धाम हृदय में विराजमान हो चुके हैं। इसलिये तुम तीनों ही माया के प्रति अपने आकर्षण को छोड़ दो और मेरे साथ जुड़कर अपनी सम्पूर्ण भावना अक्षरातीत के प्रति केन्द्रित कर दो। इस प्रकार धाम धनी को रिझाने की शोभा तुम्हें प्राप्त हो जायेगी।

भावार्थ– संसार की "मैं" को छोड़कर श्री राज जी की "मैं" को ग्रहण करना आध्यात्मिक जीवन की एक बहुत बड़ी सफलता है। इसी की नींव पर प्रियतम के मधुर

दर्शन का दिव्य महल खड़ा होता है।

तीनों जोधा बड़े जोरावर, हम तीनों की राह एक।

धनी आतम से क्यों ए न छूटे, जो पड़े विघन अनेक।।५४।।

मद्, मत्सर, एवं अहंकार एक स्वर में कहते हैं– हम तीनों बहुत ही शक्तिशाली योद्धा हैं। हम तीनों का मार्ग एक ही है, अर्थात् हम तीनों जीव को उसकी शक्ति का अनुभव कराते हैं। भले ही कितनी बाधायें क्यों न आ जायें, अब हम किसी भी अवस्था में प्रियतम से आत्मा के अलग होने की स्थिति (भाव) पैदा नहीं होने देंगे।

भावार्थ– श्री राज जी की "मैं" के आते ही संसार की "मैं" छूट जाती है और आत्मा अध्यात्म के शिखर पर पहुँच जाती है। इसे खिल्वत वाणी के शब्दों में इस प्रकार कहा गया है–

मारया कह्या काढया कहया, और कह्या हो जुदा।
एही मैं खुदी टले, तब बाकी रह्या खुदा।। खि. २/३०

सेहेज सुभाव फिट फिट तुमको, ऐसे सूर सुभट।
सांचे तुम हुए मायासों, मोसों मिले कपट।।५५।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे सहजता एवं स्वाभाविकता! तुम्हें धिक्कार है। यद्यपि तुम दोनों बहुत बड़े वीर हो, किन्तु माया के प्रति तुम पूर्ण रूप से लगे रहे और मेरे प्रति कपटपूर्वक।

भावार्थ– प्रेम, शक्ति, एवं आनन्द की प्राप्ति हृदय की मूलभूत चाहत है। इसे प्राप्त करने की जो आन्तरिक प्रवृत्ति होती है, वही स्वाभाविकता कहलाती है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम, शान्ति, और आनन्द की इच्छा हृदय का मूल स्वभाव है। जब चेतना,

लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, हृदय की स्वभाविक प्रवृत्ति के अनुसार बाह्य उपादानों को गौण करके क्रियान्वित होती है, तो उसे सहजता कहते हैं। इसी की ओर संकेत करते हुए कबीर जी ने कहा है कि साधो! सहज समाधि भली।

मूरख मूढ़ करी तुम दुष्टाई, हुए नहीं स्वाम धरमी।
मूरख मूढ़ करी तुम ऐसी, धिक धिक चंडाल अकरमी।।५६।।

रे मूर्खों! मूढ़ सहजता और स्वाभाविकता! तुमने बहुत अधिक दुष्टता का काम किया है। तुमने अपने स्वामी जीव के प्रति अपने कर्त्तव्य (धर्म) का पालन नहीं किया। तुम चाण्डाल के समान नीच और निष्क्रिय (कर्महीन) हो गए। तुमने ऐसी दुष्टता की है कि उसके लिये तुम्हें बार-बार धिक्कारना पड़ता है।

जोधा दोऊ जोरावर मेरे, तुम तरफ हो जिनकी।

अनेक उपाय करे जो कोई, पर जीत होए तिनकी।।५७।।

मेरी सहजता तथा स्वाभाविकता! तुम दोनों बहुत ही शक्तिशाली योद्धा हो। यह तो निश्चित है कि चाहे कोई कितने ही उपाय क्यों न कर ले, किन्तु विजय उसी की होगी जिसकी ओर तुम दोनों होगे।

भावार्थ– सहजता एवं स्वाभाविकता की प्रवृत्ति लक्ष्य में डुबाने वाली होती है, चाहे वह माया का क्षेत्र हो या परब्रह्म को पाने का। उपरोक्त चौपाई में यही बात विशेष रूप से दर्शायी गयी है।

अब तुमको कहूं खीज के, तुम हूजो सावधान।

प्रेमें पिउ रूदे लपटाओ, जिन करो किन की कान।।५८।।

मैं तुमसे क्रोधित होकर यह बात कह रही हूँ कि अब

तुम दोनों सावधान हो जाओ। तुम एकमात्र श्री राज जी से प्रेमपूर्वक आलिंगनबद्ध होने के लिये आगे बढ़ो। इसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर जरा भी ध्यान न दो।

सेहेजे सुभाव दोऊ हम बलिए, कोई करे जो कोट उपाए।
पकड़ें बात जो हम सांची, सो लोपी किनहूं न जाए।।५९।।

सहजता एवं स्वभाविकता कहते हैं कि हम दोनों बहुत ही बलवान हैं। भले ही कोई करोड़ों उपाय क्यों न कर ले, किन्तु यदि हम किसी सच्ची बात को हम पकड़ लेते हैं, तो हमसे वह किसी भी स्थिति में छुड़ायी नहीं जा सकती।

अब देखियो जीव जोर हमारा, पिउ पकड़ देवे एकांत।
पूरा पास देऊं रंग लाखी, सो क्योंए ना उचटे भांत।।६०।।

हे जीव! अब तुम हमारी शक्ति को देखो। हम तुमसे प्रियतम का एकान्त में अवश्य ही मिलन करवा देंगे और प्रेम के रंग में तुम्हें ऐसे रंग देंगे कि वह रंग कभी भी छूटेगा नहीं।

भावार्थ– इस चौपाई के दूसरे चरण में एकान्त में प्रियतम से मिलवाने का अर्थ यह है कि यदि हमारी मूढ़ता एवं सहज स्वाभाविकता एकमात्र श्री राज जी के प्रति केन्द्रित हो जाये, तो अन्य किसी गुण की आवश्यक्ता ही नहीं पड़ेगी क्योंकि इन दोनों के सम्मिलित प्रयास से हृदय में प्रेम प्रकट हो जाता है तथा प्रियतम का दर्शन (मिलन) हो जाता है। लाल रंग प्रेम का प्रतीक माना जाता है।

ममता तूं भई माया की, हलाक किए हैरान।

फिट फिट भूंडी चंडालन, तें बड़ी करी मोहे हान।।६१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे पापिनी! चाण्डालिनी ममता! तुझे धिक्कार है। तू तो एकमात्र माया की होकर रह गयी। मुझे इस संसार में तूने बहुत ही हैरान किया तथा अपने अस्त्रों से घायल भी कर दिया। इस प्रकार तूने मुझे बहुत अधिक हानि पहुँचायी है।

अब ममता आओ मेरे पिउ में, तोको पेहेले दई धिकार।

अब संघातन हूजो मेरी, मोहे मिले पिउ सिरदार।।६२।।

ममता! यद्यपि मैं पहले तुझे बहुत अधिक धिक्कार चुकी हूँ, किन्तु अब तू मेरी सहेली बन जा और एकमात्र धाम धनी के प्रति लग जा। मुझे ब्रह्मसृष्टियों के प्रियतम श्री राज जी मिल गये हैं।

अब मैं चेरी हुई तुमारी, ले देऊं सांची निध।

अब के ए निध क्योंए ना छूटे, करो कारज तुम सिध।।६३।।

ममता कहती है कि अब मैं आपकी दासी हो चुकी हूँ। मैं आपको आपकी सच्ची निधि (प्रियतम) अवश्य दूँगी। अब आप अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कीजिए। इस बार आपके प्रियतम आपके हाथ से नहीं जायेंगे, अर्थात् उन्हें रिझाने का अवसर आपको अवश्य प्राप्त होगा।

भावार्थ– इस चौपाई से पूर्व की चौपाई ६२ में कहा गया है कि मुझे धाम धनी मिल चुके हैं, किन्तु चौपाई ६३ के दूसरे चरण में कहा गया है कि मैं आपको धाम धनी से अवश्य मिलाऊँगी। बाह्य रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि दोनों कथनों में विरोधाभास है , जबकि वास्तविकता यह है कि इनमें विरोधाभासी कथन नहीं है, बल्कि प्रसंग अलग–अलग है। चौपाई ६२ में आत्मा के

द्वारा धाम धनी को पा लेने का प्रसंग है, जबकि चौपाई ६३ में ममता की सहायता से जीव द्वारा अक्षरातीत के चरण कमलों को प्राप्त करने का प्रसंग है।

आत्मा के धाम हृदय में धनी के विराजमान हो जाने या ज्ञान दृष्टि से धाम धनी की पहचान हो जाने के पश्चात् भी जीव से भूलें हो जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि जीव को बार-बार यह सीख दी जा रही है कि जो भूल तूने श्री देवचन्द्र जी के तन से होने वाली लीला में की, इस समय न कर, क्योंकि धाम धनी मेरे हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं तथा तेरी करनी को देखकर ही अन्य सुन्दरसाथ भी आचरण करेंगे।

अब फिटकार देऊं कल्पना, उलटी तूं अकरमन।

फिराए खाली करी फजीत, आतम को अति घन।।६४।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे कल्पना ! तुझे फटकारते हुए मुझे कहना पड़ रहा है कि तूने प्रियतम से उल्टी राह अपनायी और अकर्मण्यता का प्रसार करती रही। तू मेरे मन को मात्र कल्पना लोक में घुमाती रही तथा मेरी बहुत अधिक दुर्दशा करती रही।

अब करमन तूं हो कल्पना, कर सेवा मांहें विचार।
धाम धनी मोहे मिले माया में, लाभ लेऊं मांहें संसार।।६५।।

हे कल्पना! अब तू प्रियतम को रिझाने के लिये सक्रिय हो जा। तू केवल इस सम्बन्ध में ही विचार कर कि प्राणेश्वर अक्षरातीत को किस प्रकार रिझाना है। मुझे इस नश्वर जगत में धाम धनी मिले हैं। अपनी प्रेम भरी सेवा के द्वारा इस संसार में उन्हें रिझाने का मैं लाभ लेना चाहती हूँ।

भावार्थ– मायावी सुखों का हवाई महल बनाना निश्चित ही भवसागर में डुबोने वाला होता है। यदि हृदय के मधुर भावों से प्रियतम को रिझाने के लिये कल्पना लोक में उड़ान भरी जाये, तो इसका परिणाम यह होता है कि प्रेममयी भावलीनता की स्थिति हो जाती है। इस स्थिति में प्रेम का अँकुरित हुआ पौधा मनोहर वृक्ष का रूप ले लेता है, जो अन्ततः धाम धनी के मधुर दर्शन में परिणत हो जाता है। आगे की चौपाई में यही बात दर्शायी गयी है।

कहे कल्पना ए काम मेरा, करूं नए नए अंग उतपन।
बिध बिध की सेवा देखाऊं, धनी विलसो होए धंन धंन।।६६।।

कल्पना कहती है कि यह तो मेरा काम है कि प्रियतम को रिझाने के लिये आपके हृदय में नये–नये कोमल भावों को उत्पन्न करूँ और आपको प्रेममयी सेवा की

अनेक प्रकार की राहें सुझाऊँ। आप अपने प्राण प्रियतम के साथ आनन्द में मग्न रहिये और स्वयं को धन्य–धन्य कीजिए।

वैर राग तुम दोऊ जोधा, सूर साम सामे सिरदार।
वैर किया तुम वल्लभजीसों, राग किया संसार।।६७।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे वैर (द्वेष) और राग! तुम दोनों महान योद्धा हो और एक–दूसरे के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी हो। तुमने प्रियतम से तो विरोध किया और संसार से आसक्ति का बन्धन बाँधा।

बुरी करी तुम अति मोसों, अब मारूं जमधर घाव।
अब अवसर फेर आयो मेरे, जो भुलाए दियो तुम दाव।।६८।।

तुमने मेरे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। अब मैं तुम्हें

यमराज के दण्ड की चोट की तरह सजा दूँगी। पहले तन (श्री देवचन्द्र जी) के समय में होने वाली लीला में तो तुमने अवसर खो दिया था, किन्तु अब यह स्वर्णिम अवसर मुझे पुनः प्राप्त हो गया है कि मैं अपने प्रियतम से प्रेम कर सकूँ।

तुम पर मेरे है मुद्दार, ऐसी पीठ क्यों दीजे।
आतम संग मिलाए धनीजी, धंन धंन मोहे कीजे।।६९।।

मुझे तुम दोनों पर विश्वास है। इस समय तुम दोनों धाम धनी से क्यों मुख मोड़े हुए हो? मेरी आत्मा धनी से मिल चुकी है, साथ ही जीव को भी प्रियतम अक्षरातीत से मिल लेने दो। इस प्रकार तुम दोनों मुझे धन्य–धन्य कर दोगे।

भावार्थ– आत्मा का धनी के साथ निरन्तर सम्बन्ध

बना रहता है, किन्तु माया के पर्दे के कारण उसे इस सत्य का अनुभव नहीं हो पाता। हब्शे में वह पर्दा हट चुका है, इसलिये श्री इन्द्रावती जी की आत्मा प्रकाश वाणी के अन्दर यह बात कह रही है कि मुझे प्रियतम अक्षरातीत मिल चुके हैं।

यदि यह संशय किया जाये कि वि .सं. १७०० से १७०३ तक कठोर साधना करके तथा हब्शे में छः माह तक स्वयं को विरहाग्नि में जलाकर श्री इन्द्रावती जी ने अपने जीव के अवगुणों को ही तो दूर किया था, क्योंकि–

विकार सारे अंग के, काम क्रोध दिमाक।
सो बिना विरहा ना जले, होए नहीं दिल पाक।।

सनंध २७/१३

पुनः इस प्रकरण में बार–बार जीव के अवगुणों को दूर

करने के लिये उन्हें धाम धनी की ओर केन्द्रित (मोड़ने) करने के लिये क्यों कहा जाता है? यह भी प्रश्न उठता है कि जब हब्शे में श्री इन्द्रावती जी को श्री राजश्यामा जी का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, तो क्या जीव को उसका अंश मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ?

इसका समाधान इस प्रकार है– श्री मिहिरराज जी के तन में विद्यमान मरु राजा का जीव हिमालय के उस कलाप ग्राम का निवासी है, जिसमें मात्र योगिजन ही रहा करते हैं। जन्म से ही उनमें कोई मायावी विकार नहीं था। पच्चीस वर्ष की अवस्था वि.सं. १७०० से उन्होंने कठोर साधना प्रारम्भ कर दी थी, जिसके परिणाम स्वरूप सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी ने उन्हें सेवा कार्य में लगा दिया।

पुनः हब्शे में विरह की प्रचण्ड अग्नि में तपकर उन्होंने स्वयं को विकारों से पूर्णतया मुक्त कर लिया था। श्री इन्द्रावती जी की आत्मा ने जब अपने प्राणवल्लभ का प्रत्यक्ष साक्षात्कार पाया, तो उसका रस उनके जीव को भी अवश्य मिला। किन्तु इस प्रकरण में या तारतम वाणी में अन्यत्र जहाँ कहीं भी अपने जीव को निर्मल बनाने के सम्बन्ध में कहा है, वह मात्र दूसरे सुन्दरसाथ को सिखापन देने के लिये।

अक्षरातीत के अंगरूप परमधाम के सुन्दरसाथ की आलोचना या खण्डनी करने के बदले, उन्होंने परोक्ष रूप से अपने जीव को फटकारा जिससे सुन्दरसाथ अपनी भूलों को सुधार सके। "रोम-रोम कई कोट अवगुन, ऐसी मैं गुन्हेगार" कि. ४१/१० का यह कथन इसी सन्दर्भ में है।

जुध करो तुम दोऊ जोधा, राग आओ धनी धाम पाया।
बिध बिध वैर कर कठनाई, जाए बैठो मांहें माया।।७०।।

अब तुम दोनों योद्धा वैर और राग मिलकर माया से युद्ध करो। हे राग! मैंने जिस धाम धनी को पाया है, तू उनके प्रति लग जा। हे वैर! भले ही तुझे अनेकों प्रकार की कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न झेलनी पड़े, किन्तु तू माया में जाकर बैठ जा (अपना आसन जमा)।

वैर राग कहे क्या गुनाह हमारा, जो जीव न राखे घर।
जो न देखावे धनी विवेके, तो हम पकड़ें क्यों कर।।७१।।

वैर और राग कहते हैं कि जब जीव अपने घर (शरीर, इन्द्रिय, तथा अन्तःकरण) की देखभाल ही नहीं करता, तो इसमें हमारा दोष क्या है? जब जीव अपनी विवेक दृष्टि से हमें धाम धनी की पहचान ही न कराये, तो हम

अक्षरातीत के चरणों को क्यों पकड़ें?

भावार्थ– पञ्चभूतात्मक शरीर में १० इन्द्रियाँ + ५ तन्मात्रा + ४ अन्तःकरण विद्यमान रहते हैं। इनमें अपना निवास बनाकर जीव भी रहता है। इस प्रकार वह इन्द्रिय तथा अन्तःकरण सहित सम्पूर्ण शरीर रूपी घर का स्वामी कहा जाता है। सभी मनोविकार या अवगुण अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की देन हैं। ये अवगुण सत्व, रज, एवं तम के धरातल पर उजागर होते हैं।

राग कहे मैं भली भांते, पिउजीसों करों रस रीत।
जीव धनी बीच अंतर टालू, गुन देऊं सारे जीत।।७२।।

राग कहता है कि अब मैं प्रियतम अक्षरातीत के बहुत अच्छी तरह से प्रेममयी व्यवहार करूँगा। मैं माया के सारे गुणों, अर्थात् अन्तःकरण के अवगुणों, को जीतकर धाम

धनी और जीव के बीच में आये हुए माया के पर्दे को हटा दूँगा।

वैर कहे देखियो बिध मेरी, संग ना आवे संसार।

कोई गुन जीवसों करे लड़ाई, तो मोको दीजो धिकार।।७३।।

वैर कहता है कि अब आप मेरी कुशलता देखिये। आपके साथ अब संसार (प्रपञ्च) नहीं रहेगा। माया का कोई भी गुण यदि अब जीव से युद्ध करता है, अर्थात् उसे अपने माया जाल में फँसाने का प्रयास करता है, तो आप मुझे कठोर शब्दों में धिक्कारियेगा।

भावार्थ– ज्ञान दृष्टि से जब इस प्रपञ्चमयी संसार से वैर हो जाता है, तो माया का कोई भी विकार जीव को पीड़ित नहीं कर सकता।

धिक धिक स्वाद कहूं मैं तोको, मोहे मिल्या था मीठा जीवन।

सो ए स्वाद छोड़ा अभागी, जाए पड़या संसार विघन।।७४।।

धिक्कार है, धिक्कार है, स्वाद! तुम्हें मुझे माधुर्यता के सागर अक्षरातीत श्री राज जी मिले थे, किन्तु यह तुम्हारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि तुम उनके हृदय की अमृतधारा का रस न ले सके और आपत्तियों से भरे संसार में चले गये।

अब तूं स्वाद हो सोहागी, ले धनी की मिठास।

इन रंग रस आयो जब स्वाद, तब जेहेर होसी सब नास।।७५।।

हे स्वाद! अब तू सुहागिन बन जा और प्रियतम के हृदय से प्रवाहित होने वाली मधुर अमृतधारा का रसपान कर। प्रियतम के प्रेम और आनन्द रस की अनुभूति (स्वाद) जब तुझे हो जायेगी, तो माया का सम्पूर्ण विष नष्ट हो

जायेगा।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाइयों में स्वाद का तात्पर्य जिह्वा से लिये जाने वाले रस का स्वाद नहीं, अपितु अन्तःकरण के द्वारा सभी इन्द्रियों से लिया जाने वाला स्वाद है, जिससे मुग्ध होकर जीव उसी में उलझा रहता है।

स्वाद कहे जब ए सुख आया, तब अभख हुआ मोहजल।
झूठा रंग सब उड़ गया, रस रंग भया नेहेचल।।७६।।

स्वाद कहता है कि जब मुझे प्रियतम की माधुर्यता का सुख प्राप्त हो गया, तो इस प्रपञ्चमयी जगत की ओर देखना (ग्रहण करना) भी मेरे लिये सम्भव नहीं है। अब मेरे अन्दर संसार के मिथ्या आनन्द के प्रति जरा सी भी आसक्ति नहीं बची है। मैं तो अब मात्र अखण्ड धाम की

आनन्दमयी रस धारा का ही इच्छुक एवं भोक्ता हूँ।

फिट फिट भूंडे दुष्ट अभागी, मोहे करायो धनीसों ब्रोध।
मैं जान्या था सखा मेरा, पर तें कमल फिराया क्रोध।।७७।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं– रे पापी, दुष्ट, भाग्यहीन क्रोध! तूने तो धाम धनी से मेरा विरोध ही करा दिया। मैंने तुम्हें अपना मित्र समझा था, किन्तु तुमने परब्रह्म से अपनी दृष्टि फेर ली अर्थात् विरोध का मार्ग अपनाया।

आया नहीं माया के आड़े, तें किया न मेरा काम।
अवसर आए चूक्या चंडाल, रेहे गई हैड़े में हाम।।७८।।

रे क्रोध! यदि तू माया के आड़े आ जाता, तो मैं अपने धनी को उस समय (पहले तन की लीला में) रिझा सकती थी, किन्तु तूने मेरा कार्य ही नहीं किया। रे

चाण्डाल क्रोध! प्रियतम को रिझाने का स्वर्णिम अवसर मिला था, किन्तु तूने उसे खो दिया। मेरे हृदय में आज भी वही प्रबल चाहना है कि कैसे मैं अपने प्राणेश्वर को रिझाऊँ?

भावार्थ– क्रोध में मनुष्य इतना अन्धा हो जाता है कि वह परिणाम की चिन्ता किये बिना अपनी सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को उस वस्तु पर केन्द्रित कर देता है जिसके लिये वह क्रोधित हो रहा होता है।

माया (धन, पद, एवं प्रतिष्ठा आदि) के लिये किया गया क्रोध बन्धन का कारण होता है और परब्रह्म को पाने के लिये माया के प्रति किया गया क्रोध ज्ञान, वैराग्य, और साक्षात्कार की ओर ले जाता है।

श्री इन्द्रावती जी क्रोध को इसलिये फटकार रही हैं कि

यदि उसने अपनी सारी शक्तियाँ श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान प्रियतम को रिझाने के लिये केन्द्रित की होती, तो सम्भवतः वह धन्य–धन्य हो जातीं और आज उन्हें प्रायश्चित के आँसू नहीं बहाने पड़ते।

अब क्रोध तूं कमल फिराओ, उलटाए दे संसार।

जोधा जोरावर अब क्या देखे, कर दे जय जय कार।।७९।।

हे क्रोध! अब तू हृदय को संसार से उल्टी दिशा में घुमाओ, अर्थात् संसार के लिये क्रोध करना छोड़कर परब्रह्म को पाने के लिये क्रोध करो कि मुझे अब तक दर्शन क्यों नहीं हुआ। तू तो बहुत ही शक्तिशाली योद्धा है। अब निरर्थक क्या देख रहे हो? मेरे जीव को प्रियतम से मिला दो, जिससे चारों ओर मेरी जय–जयकार हो जाये।

भावार्थ– "कमल फिराना" एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ होता है– अपनी दृष्टि फेर लेना अर्थात् विरोधी मार्ग का अवलम्बन करना ("कमल" शब्द नेत्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है)। बोलचाल की भाषा में भी नजर फेरने या आँखे फेरने के कथन का प्रयोग होता रहता है।

क्रोध कहे मैं अति बलवंता, पर क्या करूं धनी बिन।
अब उलटाए देऊं कर सीधा, फेर कबहूं ना होवे दुस्मन।।८०।।

क्रोध कहता है कि यद्यपि मैं बहुत बलवान हूँ, किन्तु जब मेरा स्वामी ही जाग्रत नहीं है तो मैं क्या करूँ? अब मैं इस जीव की सम्पूर्ण क्रिया शक्ति को संसार से उलटकर सीधे परब्रह्म की ओर मोड़ देता हूँ, जिससे यह कभी भी आपके विरोधी मार्ग पर न चल सके।

भावार्थ– माया की नींद में सोने वाले जीव की सभी

शक्तियाँ सांसारिक तृष्णाओं के पीछे भाग रही होती हैं। तारतम वाणी के प्रकाश में जब जीव जाग्रत होता है, तो उसके हृदय में पश्चाताप रूपी क्रोध की ज्वाला भड़कती है। परिणामस्वरूप वह माया से पूर्णतया मुख मोड़कर एकमात्र धाम धनी को पाने का लक्ष्य बना लेता है। इसे ही विरोधी न होना कहा गया है।

अब तोको कहूं चाक चकरड़ा, तूं चढ़ बैठा जीव के सिर।
तें खाली ऐसा फिराया, रेहे ना सके क्योंऐ थिर।।८१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे मन! तू तो जीव के शिर पर बैठा हुआ है, अर्थात् तुम्हारा जीव के ऊपर भी वर्चस्व हो गया है। तू व्यर्थ में जीव को इस प्रकार संसार में भटकाता रहा है कि यह कहीं भी स्थिर नहीं रह सका है।

भावार्थ– ध्यान–समाधि एवं नींद को छोड़कर निरन्तर गतिशील रहने वाले मन की उपमा कुम्हार के उस घूमते हुए चाक से की गयी है, जिससे नयी–नयी कामना रूपी बर्तन बनते रहते हैं। यद्यपि जीव मन का स्वामी है, किन्तु मात्र द्रष्टा होने से वह मन के द्वारा किये गये कार्यों को मूक बनकर देखता रहता है। जब तक उसको अपने स्वरूप का बोध (ज्ञान या दर्शन द्वारा) नहीं होता, तब तक मन की प्रत्येक इच्छा से बँधे रहना उसकी विवशता होती है। इसे ही उपरोक्त चौपाई में मन का जीव के शिर पर बैठा होना कहा गया है।

अंध अभागी क्यों हुआ ऐसा, तें क्या सुने न धनी के वचन।
धनी मिले तूं थिर न हुआ, फिट फिट भूंडे मन।।८२।।

रे अन्धे भाग्यहीन मन! तू ऐसा क्यों हो गया है? क्या

तूने धाम धनी के अमृतमयी वचनों (परमधाम के ज्ञान) को नहीं सुना? रे पापी मन! तुझे बार–बार धिक्कार है कि तुझे धाम धनी मिले (ज्ञानदृष्टि से), फिर भी तू कहीं स्थिर नहीं हुआ।

समरथ मन तूं बड़ा जोरावर, क्या कहूं तेरो विस्तार।
तुझ में फैल बिध बिध के, अलेखे अपार।।८३।।

रे मन! तू बहुत अधिक सामर्थ्यवान और शक्तिशाली है। तुम्हारी शक्ति के विस्तार का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? तुम्हारे अन्दर तरह–तरह के कार्यों को करने की अपार शक्ति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तोसों तो काम बड़ा है मेरा, मद मस्त मेवार।
फिर तूं पख पचीस मांहें, बलवंता बेसुमार।।८४।।

मायावी सुखों में डूबे रहने वाले रे मन! तुमसे मेरा एक बहुत बड़ा काम होना है। तू गति की दृष्टि से अनन्त शक्ति वाला है। इसलिये तू परमधाम के पच्चीस पक्षों में (ज्ञानदृष्टि से) घूमता रह।

भावार्थ– जब धर्मग्रन्थों (तैत्तरीय उपनिषद) में "अप्राप्य मनसा सह", अर्थात् अक्षर ब्रह्म को मन से प्राप्त न होने वाला, कहा गया है तो यह कैसे सम्भव है कि वही मन अक्षर से भी परे अक्षरातीत के २५ पक्षों में भ्रमण कर सकेगा?

इसके प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि उपरोक्त चौपाई में मन की मनन प्रक्रिया द्वारा २५ पक्षों में घूमने का प्रसंग है। यह मात्र ज्ञान दृष्टि से ही सम्भव है, क्योंकि मन महत्तत्व से उत्पन्न हुआ एक प्राकृतिक द्रव्य है जिसका निराकार से पार होकर बेहद एवं परमधाम में

पहुँचना सम्भव नहीं है।

संकल्प विकल्प है तुझमें, सेवा कर धनी धाम।

उमंग अंग आन निसवासर, कर पूरन मन काम।।८५।।

रे मन! तुझमें संकल्प–विकल्प का विशेष गुण है। इसलिये तू धाम धनी की सेवा कर। तू जीव के हृदय में प्रियतम से मिलने की दिन–रात उमंग भरता रह और उसकी इस पिया–मिलन की चाहत को पूर्ण कर।

भावार्थ– किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिये जो दृढ़ विचार किया जाता है, उसे "संकल्प" (त्मेवसनजपवद) कहते हैं। संकल्प के विपरीत या उसके समानान्तर विचार को "विकल्प" (व्चजपवद) कहते हैं।

बात बड़ी कहे मन मेरी, मैं सकल विध जानों।

मूल बिना करूं सिरदारी, जीव को भी बस आनों।।८६

मन कहता है कि मैं यह सारी बातें जानता हूँ। मेरी सबसे बड़ी बात यह है कि भले ही मेरा मूल नहीं है, फिर भी मैं सभी इन्द्रियों का स्वामित्व करता हूँ। यहाँ तक कि जीव को भी अपने वश में किये रहता हूँ।

भावार्थ– मन एक अति सूक्ष्म पदार्थ है, जिसका चित्र लेना सम्भव नहीं है। केवल महान योगी ही समाधि अवस्था में इसका साक्षात्कार कर पाते हैं। सांख्य दर्शन के कथनानुसार– "महादाख्यं कार्य तत् मनः" अर्थात् महत्तत्व से मन की उत्पत्ति हुई है। स्पष्ट है कि महत्तत्व की सूक्ष्मता का मानवीय बुद्धि से आंकलन करना असंभव है। यही कारण है कि अतिशयोक्ति अलंकार की भाषा में यह बात कही जाती है कि मन का कोई मूल

(कारण) ही नहीं है।

जोलों जीव जागे नहीं, तोलों कहा करें हम।

जोर हमारा तबहीं चले, जब जाग बैठो तुम।।८७।।

जब तक जीव ही जाग्रत नहीं होगा तब तक मैं क्या कर सकता हूँ? परमधाम की ओर मेरी शक्ति तो तभी कार्य कर सकती है, जब आप (इन्द्रावती) स्वयं जाग्रत हों और जीव को भी जाग्रत करें।

अब तुम बिध मेरी देखियो, सब बिध करूं रोसन।

धाम धनी आन देऊं अंगमें, तो कहियो सिरदार सबन।।८८।।

अब आप मेरी वास्तविकता को देखिये। मैं जीव के हृदय में हर प्रकार से धाम धनी की पहचान दूँगा। इसके अतिरिक्त यदि मैं प्रियतम अक्षरातीत को आपके हृदय में

बसा दूँ, तो मुझे सभी इन्द्रियों का स्वामी कहना।

भावार्थ– मन की एकाग्रता के बिना न तो ज्ञान का ग्रहण हो सकता है और न चितवनि द्वारा प्रियतम का साक्षात्कार ही हो सकता है। किन्तु मन इस दिशा में कार्य तभी करेगा, जब जीव के द्वारा मन को ऐसा करने की प्रेरणा मिले। जीव भी ऐसा तभी कर सकेगा, जब उस पर अधिष्ठित आत्मा जीव को प्रेरित करे कि उसे आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करना है तथा चितवनि के द्वारा प्रियतम का साक्षात्कार करना है।

कोई जो कदर जाने मेरी, अंग अंदर आनूं वतन।

अनेक विध सेवा उपजाऊँ, धनी न्यारे न होवे खिन।।८९।।

यदि कोई मेरी गरिमा को समझे, तो मैं उसके हृदय में सम्पूर्ण परमधाम की शोभा को बसा सकता हूँ और

उसके हृदय में प्रियतम की सेवा के लिये अनेकों प्रकार के भाव उत्पन्न कर सकता हूँ। ऐसी स्थिति में धाम धनी एक क्षण के लिये भी उससे अलग नहीं हो सकेंगे।

भावार्थ– जीव के मन को प्रेरित किये जाने के बाद, उसे रजोगुण एवं तमोगुण के बन्धन से मुक्त करना होगा। सात्विक मन ही ज्ञान, ध्यान, एवं सेवा के मार्ग पर चल सकता है। ध्यान के नियमित अभ्यास एवं विषयों से वैराग्य होने पर मन अपनी वास्तविक शक्ति का उपयोग करता है। मन को सात्विकता के मार्ग पर ले चलने के लिये सात्विक आहार का होना अनिवार्य है, क्योंकि आहार की शुद्धता से ही बुद्धि की शुद्धता होती है और बुद्धि की शुद्धता से ही चित्त के शुद्ध एवं सात्विक संस्कार प्रगट होते हैं, जिनके अनुसार मन कार्य करता है। रजोगुणी (मिर्च, खटाई, बहुत गर्म, कटु, रूखे आदि)

तथा तमोगुणी (दुर्गन्धित, बासी, सड़े–गले, जूठे, माँस, शराब, अण्डा, तथा नशीले पदार्थ) आहार करके यदि कोई ज्ञान तथा ध्यान–समाधि के शिखर पर पहुँचना चाहे, तो यह दिवास्वप्न के समान असम्भव है।

बुरी करी तुम भरम भ्रांतड़ी, यों न करे दूजा कोए।
तारतम जोत उद्दोत के आगे, संसे कबूं ना होए।।९०।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे भ्रम (संशय) और भ्रान्ति! आप दोनों ने मेरा जितना बुरा किया है, उतना अन्य कोई भी नहीं कर सकता। यद्यपि तारतम ज्ञान का उजाला होने के पश्चात् किसी के भी मन में संशय रह ही नहीं सकता, किन्तु आप दोनों के कारण श्री देवचन्द्र जी के मुखारविन्द से चर्चा सुनकर भी मेरा जीव आंशिक रूप से इसका शिकार बन गया।

भावार्थ– जिस प्रकार अहंकार के बीज में अस्मिता तथा प्रकाश के बीज में ज्योति होती है, उसी प्रकार भ्रम के बीज रूप में भ्रान्ति कार्य करती है। श्री मिहिरराज जी ने कठोर साधना का मार्ग इसीलिये अपनाया था। यदि मेरे अन्दर परमधाम की आत्मा है, तो मैं उसे देख क्यों नहीं सकता तथा उसका वर्णन क्यों नहीं कर सकता ? सम्भवतः मेरे अन्दर अवगुण हैं, तभी मुझे साक्षात्कार नहीं हो रहा है।

उपरोक्त कथन में यदि और संभवतः शब्द का प्रयोग यही दर्शा रहा है कि आंशिक रूप से श्री मिहिरराज जी के जीव को भ्रम और भ्रान्ति ने ग्रस लिया था। छठें दिन की लीला में तो सुन्दरसाथ सम्पूर्ण वाणी के अवतरण के पश्चात् भी भ्रम और भ्रान्ति के महासागर में डूबे हुए हैं। उन्हें न तो अक्षरातीत के प्रेम पर विश्वास है और न श्री

प्राणनाथ जी के स्वरूप पर। "हक नजीक सेहेरग से, आड़ो पट न द्वार" पर पूर्ण विश्वास करने वाले तो सम्भवतः लाखों में एक–दो ही होंगे।

संसे भ्रांत के आकार, जो कदी होते तुमारे।

टूक टूक करूं मैं तिल तिल, फेर फेर तीखी तरवारे।।९१।।

श्री इन्द्रावती जी का जीव कहता है– हे संशय और भ्रांति! यदि तुम्हारे कोई आकार होते, तो तीखी धार वाली तलवार से उन्हें मैं तिल –तिल करके बहुत ही छोटे–छोटे टुकड़े कर देता।

अब जोर कर जाओ माया में, इनके संग होए तुम।

उजाले तारतम के पेहेचान, ज्यों मूल सरूप देखें हम।।९२।।

हे संशय और भ्रांति! अब तुम दोनों अपनी पूरी शक्ति से

भाग जाओ और माया में ही जाकर रहो। तारतम वाणी के उजाले में मुझे मूल स्वरूप अक्षरातीत की पहचान करनी है और उनका मधुर दर्शन करना है।

अंतर भ्रांत कहे तुम फेर फेर, मार मार देखाओ डर।
नींद कर बैठे इन जिमी में, सो आप न करो खबर।।९३।।

अन्तर्मन में बैठी हुई भ्रान्ति कहती है– हे जीव! आप हमें बार–बार मारने का डर क्यों दिखा रहे हैं? आप इस संसार में स्वयं ही अज्ञानता की नींद में सोते रहे हैं। जब आप स्वयं अपने को ही नहीं जानते, तो मुझे दोष क्यों दे रहे हैं?

घर का धनी अखंड फल पावे, सो इत क्यों सोवे करारे।
गफलत को न छोड़े आपे, फेर फेर हमको मारे।।९४।।

हे जीव! आप इस सम्पूर्ण शरीर के स्वामी हैं। यदि आप अखण्ड धाम (बेहद, परमधाम) के सुख का रसास्वादन करना चाहते हैं, तो माया की नींद में इतने आराम से क्यों सो रहे हैं? आप स्वयं तो माया की नींद को छोड़ते नहीं, उल्टा मुझे बार-बार मारने की धमकी देते हैं।

अब इन तारतम के उजाले, करूं तारतम रोसन।
नेहेचल सुख लेओ तुम सांचे, और भी देऊँ सबन।।९५।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे जीव! धाम धनी ने मेरी आत्मा के धाम हृदय में तारतम वाणी का जो उजाला किया है, उसे मैं तुम्हारे हृदय में प्रकाशित करती हूँ, जिससे तुम स्वयं को जान सको और अखण्ड धाम के सुख का रसपान कर सको। तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सभी सुन्दरसाथ को भी मैं यह सुख देना चाहती हूँ।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई का कथन अन्य प्रसंगों की तरह भ्रान्ति और संशय का नहीं है, बल्कि श्री इन्द्रावती जी का है, क्योंकि जीव के हृदय में तारतम ज्ञान का उजाला एकमात्र आत्मा ही कर सकती है और अखण्ड धाम का सुख दे सकती है।

यदि यह कहा जाये कि जीव के हृदय से भ्रान्ति और संशय निकल जाये तो तारतम ज्ञान का उजाला स्वतः ही फैल जायेगा तथा सबको अखण्ड सुख भी मिल जायेगा, तो यह उचित नहीं लगता। भ्रान्ति और संशय मायावी विकार हैं। इनमें सबको अखण्ड सुख देने का सामर्थ्य नहीं है , जो चौपाई के चौथे चरण का मुख्य विषय है। इस चरण में "देऊं" शब्द का प्रयोग मात्र श्री इन्द्रावती जी के लिये ही हो सकता है, भ्रान्ति और संशय के लिये कदापि नहीं। यह तथ्य श्रीमुखवाणी के

इन कथनों से स्पष्ट होता है–

पिउ जगाई मुझे एकली, मैं जगाऊं बांधे जुथ।

क. हि. २३/४४

प्रेम प्याला मैं भर भर पीऊं, त्रैलोकी छाक छकाऊं।

चौदे भवन में करूं उजाला, फोर ब्रह्माण्ड पिउ पास जाऊं।।

प्र. हि. २२/२

अब बानी अद्वैत में गाऊं, निज सरूप की नींद उड़ाऊं।

सब सैयों को भेली जगाऊं, पीछे अछर को भी उठाऊं।।

परिकरमा ३/२

फिट फिट लज्या तूं भई लौकिक, बांधे कबीले सों करम।

धनी मेरे मोहे आए बुलावन, तित तोहे न आई सरम।।९६।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं– हे लज्जा! तुझे बारम्बार

धिक्कार है। तू तो धनी को छोड़कर मात्र संसार की ही होकर रह गयी है। तुमने तो मेरे जीव के सांसारिक सम्बन्धियों से ही अपना मधुर सम्बन्ध बनाया है। धाम धनी मुझे बुलाने के लिये (श्री देवचन्द्र जी के तन में) आये थे, किन्तु तुम्हारे ऊपर इसका नाममात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा।

भावार्थ– लज्जा ही नारी का आभूषण है। वह प्रेम की सुगन्धि है, संवाहिका है, आह्वान करने वाली है। किन्तु यदि वह परब्रह्म के लिये न होकर सांसारिक सम्बन्धों को निभाने में लगी रहे, तो एक ब्रह्मसृष्टि के लिये ऐसी स्थिति बहुत ही पीड़ादायक होती है।

लज्जा शब्द हिन्दी का है और शर्म शब्द फारसी का। लज्जा को शर्म आने का आशय लज्जा का संवेदनाविहीन अर्थात् निष्क्रिय सा बने रहना है।

कहा कियो तें दुष्ट पापनी, ऐसी ना करे कोए।

घर धाम धनी के आगे, करी सरमिंदी मोहे।।९७।।

हे दुष्टा–पापिनी लज्जा! देख तूने यह कितना बड़ा अपराध कर दिया? ऐसा भयंकर अपराध तो कोई भी नहीं करता। जब मैं परमधाम में धाम धनी के सम्मुख जाग्रत होऊँगी, उस समय तुम्हारी इस भूल के कारण मुझे बहुत अधिक लज्जित होना पड़ेगा।

अब सरमिंदी कहूं मैं तोको, तूं देख परआतम सगाई।

बड़ा अवसर पेहेले तूं चूकी, अब फेर आई जोगबाई।।९८।।

हे लज्जा! मैं तुमसे एक बात कह रही हूँ। तू मेरी आत्मा से परात्म का और परात्म का धाम धनी से मूल सम्बन्ध तो देख। जब धाम धनी श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला कर रहे थे, उस समय तुमने उन्हें रिझाने का सुनहरा

अवसर खो दिया। अब तुम्हें पुनः अवसर प्राप्त हो गया है, क्योंकि प्रियतम अब मेरे धाम हृदय में विराजमान हो गये हैं।

भावार्थ– लज्जा मात्र नेत्रों के हाव–भाव से प्रकट होने वाली प्रेममयी भावना ही नहीं है, अपितु प्रेम की एकनिष्ठता भी लज्जा ही है। अपने मूल प्रिंयतम को छोड़कर अन्य ससारी लोगों को अपना प्रेम–पात्र बना लेना प्रेम की मर्यादा को कलंकित करना है। यह स्थिति प्रेम मार्ग में असह्य पीड़ा को उत्पन्न करती है।

आत्मा परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा है और परात्म साक्षात् धाम धनी का तन। ऐसी अवस्था में आत्मा जिस जीव पर विद्यमान होती है, उसका मुख्य धर्म है अपना पहला प्रेम एकमात्र अक्षरातीत के लिये रखना। उसे हमेशा इस बात का ध्यान रखना होगा कि वह प्रेम की

एकनिष्ठा (लज्जा) को खोकर कही "कुलटा" न कही जाये।

कहे लज्या मैं पेहेले भूली, अवसर धनी ना छोडूं।

सिर माया का भान के, पिउसों मुख ना मोडूं।।९९।।

लज्जा कहती है– यद्यपि मैं पहली बार (श्री देवचन्द्र जी के तन की लीला के समय) भयंकर भूल कर चुकी हूँ, किन्तु मुझे इस समय जो दूसरी बार अवसर मिला है, इसमें अपने प्राणवल्लभ को मैं किसी भी स्थिति में नहीं छोडूँगी। माया के इस आवरण को पूर्णतया नष्ट करके, मैं अपने प्रियतम से पल भर के लिये भी अपना मुख नहीं मोडूँगी अर्थात् एकनिष्ठ प्रेम करती रहूँगी।

भावार्थ– "शिर भानना" एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ होता है पूर्णतया नष्ट करना। माया को पूर्णतया नष्ट करने

का आशय है, अपने हृदय में धाम धनी के अतिरिक्त अन्य किसी भी लौकिक आसक्ति को पैदा न होने देना।

फिट फिट आसा तूं भई माया की, बैठी मोहजल में आए।
मैं माया में अखंड फल पाया, सो मोहे दियो हराए।।१००।।

रे आशा! तुझे धिक्कार है। तू तो एकमात्र माया की ही होकर रह गयी है और इस भवसागर को ही अपना घर मानकर बैठ गयी है। तारतम वाणी के प्रकाश में मुझे अखण्ड धाम के सुख का अनुभव हुआ, किन्तु आशा! तू संसार में ही लगी रही। परिणामस्वरूप, मुझे इस खेल में हारना पड़ा।

भावार्थ– सबकी आत्मा के गुण–कर्म समान होते हैं। भेद केवल जीवों के गुण और स्वभाव में होता है। यदि तारतम ज्ञान का प्रकाश मिलने पर भी जीव में धनी को

पाने की चाहत न होकर मायावी सुखों की चाहत होती है, तो इसमें आत्मा की हार मानी जाती है।

अखंड धनी फल छोड़ के, निरफल माया झूठ लई।

ए सिर गुनाह हुआ जीव के, तोको सिखापन ना दई।।१०१।।

रे आशा! यदि तू एकमात्र प्राणेश्वर अक्षरातीत के प्रेम की आशा रखती, तो तुझे अखण्ड के सुख का रसास्वादन करने का अवसर मिलता। तूने तो स्वयं को इस मिथ्या माया से जोड़ लिया है, जिसका कोई सार्थक फल नहीं मिलने वाला है। धनी से प्रेम करने की शिक्षा तुझे जीव ने दी ही नहीं है, इसलिये उसके शिर पर भयंकर अपराध का दोष लगा है।

कहे आसा मोहे दई जगाए, निकट न जाऊं मोहजल।

इन बल मांहें कमी न राखूं, लागी आतम आसा सुफल।।१०२।।

आशा कहती है कि अब तारतम वाणी ने मुझे जाग्रत कर दिया है, इसलिये भविष्य में किसी भी स्थिति में माया में नहीं जाऊँगी। ऐसा करने में मैं किसी भी प्रकार से कमी नहीं रखूँगी। आत्मा धाम धनी के चरणों में लग गयी है, इसलिये मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं अवश्य सफल हो जाऊँगी।

गुन गरीबन आई अकरमन, ना भई सनमुख सावधान।

लाहा लीजे दौड़ धनी का, सो दिया गरीबी भान।।१०३।।

दीनता! तू तो सर्वदा निष्क्रिय ही बनी रही। माया से सावधान होकर तू प्रियतम के सम्मुख आयी ही नहीं। हे जीव! अब तू प्रियतम के प्रेम में दौड़ने का लाभ ले। श्री

देवचन्द्र जी के तन से होने वाली लीला में तुम्हारे लिये यह सुअवसर था, किन्तु तुम्हारे अन्दर विद्यमान दीनता माया के प्रति लगी रही, धनी के प्रति नहीं। यही कारण है कि तूने यह सुनहरा अवसर खो दिया।

भावार्थ– सुक्र, गरीबी, सब्र में गरीबी का अर्थ विनम्रता लिया जाता है, किन्तु यहाँ दीनता का प्रसंग है, जिसका अर्थ होता है अति विनम्रता। माया (धन, पद आदि) के लिये अधिकारियों एवं सगे–सम्बन्धियों के प्रति अपना अहम् भाव खोकर समर्पण भावना दर्शाना "दीनता" है। यदि यही भावना श्री राज जी के लिये हो जाए, तो माया कोसों दूर चली जाती है।

श्री मिहिरराज जी यदि सद्गुरु जी के द्वारा प्रणाम स्वीकार न किये जाने पर भी दीनता का भाव ले लेते, तो सम्भवतः उनकी जीत मानी जाती। उसी प्रसंग की

ओर संकेत करते हुए चौथे चरण में कहा गया है– हे दीनता! तू माया के लिये थी, धनी के लिये नहीं।

कला जी के यहाँ मन्त्री पद पर रहते हुए उन्हें किसी न किसी रूप में झुकना तो पड़ता ही होगा। यही पीड़ा उन्हें अहमदाबाद में मुगलों के सामने शिर झुकाते समय हुई। वस्तुतः यह शिक्षा छठें दिन की लीला में हम सुन्दरसाथ के लिये है।

किन बिध कहूँ या सुख की, फिट फिट भूंडे अचेत।
तुझ बैठे न आई तीव्रता, ना तो ए सुख लेत।।१०४।।

रे मूर्खा असावधानी (बेसुधि)! तुझे बार–बार धिक्कार है। मेरे जीव के हृदय में तुम्हारे विद्यमान होने के कारण उसमें प्रियतम को रिझाने के लिये तीव्रता का गुण नहीं आ सका, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मैं उस समय

(श्री देवचन्द्र जी के समय) धनी का वह आत्मिक सुख नहीं ले सकी, जिसका वर्णन कर पाना मेरे लिये सम्भव ही नहीं है।

भावार्थ– किसी कार्य को करने में नाममात्र के लिये भी आलस्य, प्रमाद, लापरवाही आदि न दिखाते हुए शीघ्र प्रतिशीघ्र उसे प्रारम्भ कर देना तीव्रता है। तारतम वाणी के अध्ययन, चितवनि, तथा सेवा आदि कार्यों में तीव्रता दिखाना आध्यात्मिक सफलता के लिये अति आवश्यक है।

कहे गरीबी मैं माया की, मैं बैठों माया मांहें।

लीजो लाहा सुख नेहेचल का, श्री धाम धनी हैं जांहें।।१०५।।

"दीनता" कहती है कि माया के जाल में उलझी हुई दीनता तो माया में ही विद्यमान रहे, किन्तु धनी के प्रति

जो "दीनता" का गुण है वह उनमें लग जाये। अब आप उस परमधाम के अखण्ड सुख का लाभ लीजिए, जहाँ प्रियतम अपनी अनन्त शोभा के साथ विराजमान हैं।

फिट फिट भूंडी न आई तीव्रता, मोहे मिले थे धाम धनी।
ऐसा विलास खोया तें मेरा, बोहोत बुरी करी घनी।।१०६।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि रे पापिनी तीव्रता ! धिक्कार है तुझे। जब मुझे धाम धनी सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी के रूप में मिले थे उस समय तुमने मुझे जरा भी सहयोग नहीं दिया, जिसके परिणाम स्वरूप तुमने मेरा अखण्ड आनन्द खो दिया (लेने न दिया)। यह तुमने बहुत ही बुरा काम किया।

फेर अवसर आयो है मेरे, चित चेतन कीजे बल।

रात दिन जगाए जीव को, जिन दे मिलने पल।।१०७।।

अब मेरे लिये यह अवसर पुनः आया है। मेरे जीव के चित्त अर्थात् हृदय में जाग्रत होने के लिये आत्मविश्वास का बल भर दो। जीव को जाग्रत करने के लिये उसे दिन–रात चर्चा, चिन्तन, चितवनि, तथा सेवा आदि में लगाये रख। एक पल के लिये भी समय को व्यर्थ में न गवाँ।

तुझमें बल है सावचेती, चित चेतन अति रोसन।

परआतम बस कर दे आतमा, ना होए अंतराए एक खिन।।१०८।।

हे सतर्कता (सजगता)! तुम्हारे अन्दर आत्म–जाग्रति करने के लिये विशेष बल है। तू मेरे जीव के हृदय को निरन्तर सजग रख, जिससे उसमें जागनी का बहुत

अधिक प्रकाश भर जाये। मेरी आत्मा को परात्म के वश में कर दे, जिससे प्रियतम से एक क्षण के लिये भी अलगाव का अनुभव न हो।

भावार्थ– परात्म साक्षात् धाम धनी का तन है, इसलिये उसके हृदय में वही कुछ होता है जो श्री राज जी के हृदय में होता है। आत्मा जीव के ऊपर अधिष्ठित होकर इस संसार की दुखमयी लीला को देख रही है। इस प्रकार परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा होते हुए भी आत्मा के हृदय में जीव के मनोविकारों एवं सांसारिक सुख – दुःख की लीला भी भर जाती है। यदि जीव में आत्म – जाग्रति के प्रति सजगता का गहन भाव पैदा हो जाता है तथा वह तारतम वाणी के चिन्तन एवं युगल स्वरूप की चितवनि में लग जाता है, तो विरह की अग्नि में जलने लगता है। फलतः आत्मा प्रेम रस का पान करने लगती

है तथा युगल स्वरूप को अपने धाम हृदय में बसाने लगती है। इसी अवस्था को आत्मा का परात्म के वश में अर्थात् समरूप हो जाना कहते हैं। सागर ११/४४ में इसी तथ्य को इस प्रकार दर्शाया गया है–

अन्तस्करण आतम के, जब ए रहयो समाए।

तब आतम परआतम के, रहे न कछु अन्तराए।।

इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर एक क्षण के लिये भी धनी से वियोग का अनुभव नहीं होता।

सील संतोख आओ ढिग मेरे, बांधो सागर आड़ी पाल।

गुन सारे हुए अग्या में, पीछे रह्या न कछू जंजाल।।१०९।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे शील और संतोष! तुम दोनों मेरे पास आओ और इस भवसागर के चारों ओर से बाँध (मेड़) बना दो, जिससे जीव का आध्यात्मिक सुख

सुरक्षित रहे। अब तो माया के सभी गुण मेरे अधीन होकर चलने लगे हैं, अर्थात् वे माया में न लगकर धाम धनी को प्राप्त कराने में सहायक हो रहे हैं। अब कोई ऐसा प्रपञ्च नहीं है जो हमारे और धाम धनी के प्रेम में बाधा खड़ी कर सके।

भावार्थ– माधुर्य भाव में धर्माचरण का पालन ही शील कहलाता है।

सील कहे संतोख सुनो, आपन हुए माया के पाल।
कई बहावे पहाड़ पूर सागर के, मांहें लेहेरें बेहेवट निताल।।११०।।

शील कहता है कि हे संतोष! मेरी बात सुनो। हम दोनों को इस माया रूपी भवसागर के किनारे बाँध बाँधना है, जिससे जीव के ऊपर माया का दुष्प्रभाव न पड़ सके। इस भवसागर में तो अत्यधिक तीव्र बहाव वाली भयंकर

लहरों के पूर के पूर बहा करते हैं, जिनमें ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, सेवा आदि के बड़े–बड़े पहाड़ बह जाया करते हैं।

भावार्थ– खिलवत के ये कथन "ज्यों जानों त्यों रखो, धनी तुमारी मैं" तथा "केहेत केहेलावत तुमहीं, करत करावत तुम" आदि का कथन संतोष भाव को उजागर करता है। इसके साथ शील अर्थात् परमधाम की करनी (प्रेममयी चितवनि, धनी पर अटूट विश्वास आदि) जुड़ जाए, तो माया के दुष्प्रभाव से बचना सरल हो जाता है। इसे ही माया के भवसागर के किनारे बाँध बाँधना कहा गया है। विषयों तथा आसक्तियों की भयंकर लहरें उन महापुरुषों को भी विचलित या पथभ्रष्ट कर देती हैं, जो ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग आदि के क्षेत्र में प्रतिष्ठित होते हैं।

भमरियां मांहें बेसुमार, लेहेरां मेर समान।

मछ लड़े बड़े मोहजल के, करनी पाल इस ठाम।।१११।।

हे संतोष! हमें उस मायामयी भवसागर के किनारे बन्ध बाँधना है, जिसमें तृष्णाओं की अनन्त भमरियाँ हैं। इसमें उठने वाली भ्रान्तियों की लहरें सुमेरू पर्वत से भी अधिक ऊँची हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, तथा मत्सर आदि बड़े–बड़े मगरमच्छ हैं, जो जीव को निगल लिया करते हैं।

भावार्थ– नदी का पानी जब किसी स्थान विशेष पर गोलाई में घूमता रहता है, उसे भमरी कहते हैं। इसमें फँस जाने वाली नौकायें प्रायः डूब जाया करती हैं। जीव भी तृष्णा (लोकेषणा, वित्तेषणा, एवं दारेषणा) रूपी भमरियों के बन्धन में फँस कर अपना सर्वस्व खो देता है। भ्रान्ति के जाल में फँस जाने वाला जीव कभी भी

परब्रह्म पर अटूट आस्था एवं विश्वास (ईमान) रख नहीं पाता, जिसके परिणाम स्वरूप प्रियतम से मिलन नहीं हो पाता।

अब बांधनी पाल खरी करनी, ज्यों ना खसे लगार।

पीछे जल जोर बढ़ा ऊपर अपने, तब सामी सोभा होसी अपार।।११२।।

अब हमें अपनी स्पष्ट करनी (शील तथा संतोष के संयोग) के द्वारा भवसागर के चारों ओर शक्तिशाली बाँध का निर्माण करना है, जो माया रूपी जल के प्रवाह के बहुत अधिक बढ़ने पर भी हमारे ऊपर थोड़ा भी टूटे (दरके) नहीं। यदि हम ऐसा करने में सफल हो जाते हैं, तो संसार के सामने हमारी अपार शोभा होगी।

एह पाल हम बांधी जीवजी, पर तुम जाग करो सावचेत।

फेर नहीं आवे ऐसा समया, सोभा ल्यो साथ में इत।।११३।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे जीव! मैंने माया से तुम्हारी सुरक्षा के लिये भवसागर के चारों ओर दृढ़ बाँध बना दिया है। किन्तु अब तुम्हें जाग्रत होकर सावधान रहना है। जागनी का सुख प्राप्त करने का यह जो स्वर्णिम अवसर मिला है, वह पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है। ऐसा करके तुम सुन्दरसाथ में अनुपम शोभा को धारण करो।

जाग जीव तूं जोरावर, क्या देऊं तोको गारी।

तें होए चंडाल अवसर खोया, जीती बाजी हारी।।११४।।

हे जीव! तू महान शक्ति वाला है। अब तू जाग जा। माया की नींद में सोये रहने के कारण यदि मैं तुझे गाली भी दूँ, तो उससे क्या लाभ होगा? तू तो चाण्डाल के समान

नीच है, जो श्री देवचन्द्र जी के समय में होने वाली लीला में प्रियतम अक्षरातीत को रिझा नहीं सका और सुनहरा अवसर खो दिया। यदि उस समय तू अपनी प्रेममयी सेवा से उन्हें रिझा लेता तो तू जीत जाता, किन्तु अब तो तू बाजी हार चुका है।

कठनाई मैं देखी तेरी, तूं निठुर निपट अपार।

थके धनी तोहे धम धमके, पर तें गल्या नहीं निरधार।।११५।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे जीव! यद्यपि तुम्हारी जागनी में माया के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली कठिनाइयों को जानती हूँ, किन्तु निश्चित रूप से तेरी निष्ठुरता भी अपार है। धाम धनी ने तुझे जाग्रत करने के लिये तारतम ज्ञान की अपार वर्षा की, फिर भी तू कठोर हृदय वाला ऐसा पत्थर है जो नाममात्र भी पिघलना नहीं

जानता।

भावार्थ– धमकने का तात्पर्य है– ज्ञान की वर्षा करना। गलने का भाव पिघलने से अर्थात् आत्मसात् करने से है।

प्रकरण ।।२०।। चौपाई ।।५०७।।

जीव को प्रबोध

इस प्रकरण में श्रीमद्भागवत् में वर्णित शुक –परीक्षित सम्वाद के माध्यम से जीव को शिक्षा दी गयी है कि उसे किस प्रकार अक्षरातीत से प्रेम करना है।

सुन मेरे जीव कहूँ वृतांत, तोको एक देऊँ द्रष्टांत।
सो तूं सुनियो एकै चित, तोसों कहत हों करके हित।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे मेरे जीव! श्रीमद्भागवत् में शुकदेव –परीक्षित के सम्वाद के रूप में जो वृत्तान्त (घटनाक्रम) है, उसे मैं तुम्हें सुना रही हूँ। इस वृत्तान्त रूपी दृष्टान्त के माध्यम से मैं तुम्हें एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य (बात) कहने जा रही हूँ। तुम इसे एकाग्र मन से सुनो, क्योंकि इसे मैं बहुत ही स्नेह के कारण तुम्हें बता रही हूँ।

परीछितें यों पूछ्यो प्रस्न, सुकजी मोको कहो वचन।
चौदे भवन में बड़ा जोए, मोको उत्तर दीजे सोए।।२।।

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से इस प्रकार प्रश्न पूछा कि आप मुझे यह बात बताइये कि चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कौन है? मेरे मन की शान्ति के लिये आप इसका यथोचित उत्तर दीजिए।

तब सुकजी यों बोले प्रमान, लीजो वचन उत्तम कर जान।
चौदे भवन में बड़ा सोए, बड़ी मत का धनी जोए।।३।।

राजा के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शुकदेव जी ने कहा कि हे राजन! मैं तुमसे जो कुछ भी कहने जा रहा हूँ, उसे तुम अति उत्तम मानकर ग्रहण करो। वस्तुतः चौदह लोकों के इस संसार में वही व्यक्ति श्रेष्ठ है, जिसकी बुद्धि श्रेष्ठ है।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में जाग्रत बुद्धि का कोई भी प्रसंग नहीं है, क्योंकि जिस समय दोनों में वार्ता हुई, उस समय तारतम ज्ञान का अवतरण ही नहीं हुआ था। ऐसी अवस्था में सबके पास स्वप्न की बुद्धि का ही ज्ञान था। "एते दिन त्रैलोक में, हुती बुध सुपन" (परि. २/११) के कथन से भी यही प्रमाणित होता है।

यदि यह कहा जाये कि शुकदेव जी अक्षर ब्रह्म की वासना थे तथा उन्होंने परब्रह्म के जोश (जिबरील) के द्वारा महारास का वर्णन किया, तो उनके ज्ञान को जाग्रत बुद्धि का ज्ञान क्यों नहीं कहा जा सकता?

इसका समाधान यह है कि उस समय जाग्रत बुद्धि नहीं आयी थी, इसलिये तारतम वाणी के अवतरण से पूर्व परब्रह्म के जोश से जो भी ज्ञान धारा अवतरित हुई, उसे सत्य तो माना गया किन्तु उसका प्रस्तुतिकरण स्वप्न

की बुद्धि से हुआ। परिणाम स्वरूप, उन्हें जाग्रत बुद्धि का ज्ञान कहलाने की शोभा नहीं मिल सकी। इसके अन्तर्गत योगेश्वर श्री कृष्ण जी के द्वारा कही हुई गीता, शुकदेव जी के द्वारा महारास का वर्णन, भगवान शिव द्वारा वर्णित पुराण संहिता, एवं माहेश्वर तन्त्र, तथा कबीर जी द्वारा वर्णित बीजक का ज्ञान है। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि कुरआन का अवतरण भी परब्रह्म के जोश से ही हुआ था। यदि जाग्रत बुद्धि (इस्राफील) के द्वारा इन ग्रन्थों का ज्ञान प्रस्तुत किया जाता, तो किसी के मन में कोई संशय रहता ही नहीं। यदि तारतम वाणी के अतिरिक्त बीजक, भागवत, गीता, माहेश्वर तन्त्र आदि को भी जाग्रत बुद्धि का ही ज्ञान मानें, तो "एते दिन त्रेलोक में हुती बुध सुपन" का कथन ही मिथ्या हो जाएगा।

"हुकमें वेद कतेब में लाखों लिखे निसान " का आशय

यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वेद –कतेब में श्री प्राणनाथ जी से सम्बन्धित जो भी साक्षियाँ लिखी हैं, वे सभी श्री राज जी ने स्वयं ही लिखी हैं।

वास्तविकता तो यह है कि किसी महान व्यक्तित्व के हृदय से यदि अखण्ड धाम या भविष्य से सम्बन्धित कोई गुह्य ज्ञान प्रकट होता है, तो वह किसी अलौकिक शक्ति या अन्तःप्रेरणा के माध्यम से उत्पन्न होता है अथवा ध्यान–समाधि से ही प्राप्त होता है। अक्षर ब्रह्म की सुरताओं (कबीर, शुकदेव, योगेश्वर श्री कृष्ण, तथा भगवान शिव आदि) के द्वारा जो अखण्ड ज्ञान अवतरित हुआ, वह अक्षर ब्रह्म के आवेश (परब्रह्म के जोश) से है। किन्तु तारतम वाणी का अवतरण अक्षरातीत के आवेश के बिना नहीं हो सकता।

मानवीय बुद्धि से परे की जो बात कही जाती है, उसके

लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसे स्वयं परब्रह्म कहें। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, षट् दर्शन आदि मुनियों की देन हैं, जो उन्होंने समाधि की गहन अवस्था में अक्षर ब्रह्म की कृपा दृष्टि से प्राप्त की।

किन्तु वेदों का प्रकटन चार ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य, तथा अंगीरा) की व्यक्तिगत इच्छा न होते हुए भी अक्षर ब्रह्म (अव्याकृत) की इच्छा से हुआ, इसलिये वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। जबकि ऋषियों या सन्तों के ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहा जाता है।

अक्षर ब्रह्म की पञ्चवासनाओं से अवतरित ज्ञान अक्षर ब्रह्म के आवेश (जिबरील) द्वारा दिया जाता है, जबकि "श्री मुखवाणी धनिए कही" से स्पष्ट होता है कि इसे कहने वाले स्वयं अक्षरातीत हैं। यद्यपि श्री मिहिरराज जी का जीव भी स्वप्न की बुद्धि से ही युक्त था, किन्तु उस

तन में जाग्रत बुद्धि (अस्राफील), अक्षर ब्रह्म, एवं अक्षरातीत के आवेश के विद्यमान होने से उसे जाग्रत बुद्धि का ज्ञान कहा गया। यह स्थिति अन्य ग्रन्थों (वेद, कुरआन, बाइबिल, गुरु ग्रन्थ साहिब, बीजक) के सन्दर्भ में नहीं है। बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेन्ट की रचना ईसा मसीह के देह त्याग के लगभग ४०० वर्षों के पश्चात् लूका–युहन्ना–रत्ती आदि के द्वारा की गयी है।

भी राजाऐं पूछा यों, बड़ी मत सो जानिए क्यों।

बड़ी मतको कहूँ विचार, लीजो राजा सबको सार।।४।।

श्री शुकदेव जी के इस कथन पर राजा परीक्षित ने इस प्रकार पूछा कि यह कैसे जाना जाये कि श्रेष्ठ (महान) बुद्धि क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजा! महान बुद्धि क्या है, इसके सम्बन्ध में मैं

तुमसे अपना विचार कहता हूँ। इसे तुम सावधान होकर सुनो, क्योंकि यह सम्पूर्ण ज्ञान का सार रूप कथन है।

बड़ी मत सो कहिए ताए, श्री कृष्णजी सों प्रेम उपजाए।
मत की मत तो ए है सार, और मत को कहूँ विचार।।५।।

महान बुद्धि उसको कहते हैं, जो श्री कृष्ण जी के प्रति प्रेम पैदा करे। सर्वश्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त करने का सार तत्त्व (फल) यही है कि हमारा हृदय श्री कृष्ण जी के प्रेम में लग जाये। इसके अतिरिक्त अन्य बुद्धियों के सम्बन्ध में मैं अपने विचार व्यक्त करती हूँ।

भावार्थ– श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध में शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा है कि श्री कृष्ण जी से प्रेम करना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये। बुद्धि ही ज्ञान को धारण करती है। जिस ज्ञान में परमात्मा के लिये कोई

स्थान न हो, वह निरर्थक है। इसी दृष्टि से शुकदेव जी ने यह बात कही है कि सबसे महान बुद्धि वही है, जो परमात्मा से प्रेम उत्पन्न करे।

बिना श्री कृष्णजी जेती मत, सो तूं जानियो सबे कुमत।
कुमत सो कहिए किनको, सबथें बुरी जानिए तिनको।।६।।

जिन बुद्धियों में श्री कृष्ण जी (परमात्मा) के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है, उन्हें तुम कुबुद्धि ही समझना। कुबुद्धि किसको कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि जो सबसे बुरी बुद्धि हो।

भावार्थ– इस चौपाई से यह भ्रान्तिवश धारणा बन गयी है कि जो श्री कृष्ण जी को अक्षरातीत नहीं मानता, वह कुबुद्धि (कुमति) है।

सत्य तो यह है कि शुकदेव–परीक्षित का यह सम्वाद

बेहद–मण्डल में विद्यमान व्रज विहारी एवं रास विहारी श्री कृष्ण जी के सन्दर्भ में है, अक्षरातीत के सम्बन्ध में नहीं। बिना तारतम ज्ञान के शुकदेव जी अक्षरातीत के सम्बन्ध में कैसे जान सकते हैं? इतना अवश्य है कि व्रज एवं रास में अक्षरातीत ने ही लीला की थी और उसी भाव से भावित होकर शुकदेव जी ऐसा कह रहे हैं, किन्तु बेहद–मण्डल और अक्षर से परे अक्षरातीत श्री राज जी के विषय में उन्हें बोध नहीं है। उनकी दृष्टि में सबलिक ही अक्षर है तथा केवल ब्रह्म अक्षरातीत है।

ऐसो तिन को कहा वृतांत, सो भी राजा तोको कहूँ द्रष्टांत।
सुन राजा कहूँ सो जुगत, जासों पेहेचान होवे दोऊ मत।।७।।

शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजा! यद्यपि मैंने तुमसे महान बुद्धि एवं कुबुद्धि के विषय में अच्छी प्रकार से

वर्णन कर दिया है, फिर भी मैं दृष्टान्त के माध्यम से और अधिक स्पष्ट रूप से बता रहा है। उसे तुम सावधान होकर सुनो। मैं तुम्हे इस प्रकार युक्तिपूर्वक समझाऊँगा कि तुम्हे दोनों प्रकार की बुद्धियों की स्पष्ट पहचान हो जायेगी।

श्रीकृष्णजीसों प्रेम करे बड़ी मत, सो पोहोंचावे अखंड घर जित।
ताए आड़ो न आवे भवसागर, सो अखंड सुख पावे निज घर।।८।।

श्रेष्ठ बुद्धि वाला व्यक्ति श्री कृष्ण जी से प्रेम करता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसे अखण्ड घर (बेहद मण्डल) की प्राप्ति होती है। उसकी राह में यह संसार सागर बाधक नहीं बन पाता, बल्कि वह अपने धाम (बेहद मण्डल) के अखण्ड सुख को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ– उपरोक्त प्रसंग शुकदेव–परीक्षित सम्वाद का

है, जो श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित है। उस समय ब्रह्मसृष्टियों का अवतरण नहीं हुआ था, इसलिये उपरोक्त चौपाई को सुन्दरसाथ एवं परमधाम के लिये प्रयुक्त करना उचित नहीं है।

इस चौपाई में अखण्ड घर या निज घर का आशय उस बेहद मण्डल (योगमाया के ब्रह्माण्ड) से है, जिसमें व्रज एवं रास की अखण्ड लीलाएँ विद्यमान हैं। व्रज बिहारी एवं रास बिहारी राधा–कृष्ण से प्रेम करने वाले जीव अखण्ड व्रज और रास मण्डल को प्राप्त होकर अखण्ड सुख का रसपान करते हैं।

ए सुख या मुख कह्यो न जाए, याको अनुभवी जाने ताए।
ए कुमत कहिए तिनसे कहा होए, अंधकूप में पड़िया सोए।।९।।

बेहद मण्डल का सुख इतना अधिक होता है कि उसका

वर्णन इस मुख से नहीं हो सकता। इसका वास्तविक ज्ञान तो मात्र रसपान करने वाले को ही होता है। अब प्रश्न यह है कि यह जो कुबुद्धि कही जाती है, उससे क्या दुष्परिणाम निकलता है? तो इसका उत्तर यह है कि इसके बन्धन में रहने वाला व्यक्ति भवसागर के अज्ञानता के अन्धकारमयी कुएँ में पड़ा रहता है और उससे बाहर नहीं निकल पाता।

सब दुखों में बुरा ए दुख, कुमत करे धनीसों बेमुख।
केतो कहूं या दुख को विस्तार, जाके उलटे अंग इंद्री विकार।।१०।।

कुबुद्धि प्रियतम अक्षरातीत के चरणों से विमुख कर देती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसकी इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण धाम धनी को भूलकर विषय सुखों में लिप्त हो जाते हैं। वासनाओं के जाल में फँसने का दुःख सभी

दुःखों से अधिक होता है। इसका विस्तार (प्रभाव) इतना बुरा होता है कि मैं कितना वर्णन करूँ, अर्थात् असीम है।

भावार्थ– मनीषियों का कथन है कि "दोषेण तीव्रो विषयः कृष्ण सर्प विषादपि" अर्थात् विषयों का विष काले सर्प के विष से भी अधिक भयंकर होता है, क्योंकि काले सर्प का काटा हुआ व्यक्ति तो एक ही बार मरता है, किन्तु विषय के विष से ग्रस्त व्यक्ति जन्म–जन्मान्तरों के अनन्त कष्ट में पड़ा रहता है।

दोऊ मत को कह्यो प्रकार, ए ब्रह्मसृष्टि करें विचार।

जाको जाग्रत है बड़ी बुध, चेते अवसर जाके हिरदे सुध।।११।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि इस प्रकार मैंने दोनों बुद्धियों की विवेचना (विशेष वर्णन) कर दी है। मेरे इन

कथनों पर वे ब्रह्मसृष्टियाँ विचार करेंगी, जिनमें अति श्रेष्ठ जाग्रत बुद्धि का प्रकाश है। जिनके हृदय में इस सत्य का विवेक हो जायेगा, वह ही जागनी ब्रह्माण्ड के इस सुनहरे अवसर का लाभ उठाने के लिये सावधान हो सकेगा।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई का आशय यह है कि इस जागनी ब्रह्माण्ड में विषय सुखों की तृष्णा में भटकना बहुत बड़ी भूल है। तारतम वाणी के प्रकाश में एकमात्र धाम धनी से प्रेम करने वाला ही सच्चा विवेकवान कहलाने का अधिकारी है।

ए सुकजी के कहे वचन, नीके फिकर कर देखो मन।
बोहोत फिकर की नहीं ए बात, ए समया हाथ ताली दिए जात।।१२।।

हे जीव! ये उपरोक्त वचन (चौ. २–१० में कथित) शुकदेव जी के द्वारा परीक्षित से कहे गये हैं। तू अपने मन

में इनका अच्छी तरह से विचार कर। इस जागनी ब्रह्माण्ड में तुझे मिला हुआ यह अनमोल समय निरर्थक ही पल–पल बीता जा रहा है। आचरण से रहित होकर मात्र बहुत अधिक चिन्तन से भी लक्ष्य पूर्ण होने वाला नहीं है।

भावार्थ– जिस प्रकार हाथ से ताली बजाने में अति अल्प (क्षण भर का) समय लगता है, उसी प्रकार आलंकारिक भाषा में ताली बजाने के दृष्टान्त से समय की महत्ता दर्शायी गयी है। दूसरे शब्दों में, हाथ से ताली बजाने का आशय परब्रह्म से विमुख होकर सांसारिक आमोद–प्रमोद में मग्न रहना भी है।

तेरी गिनती बांधी स्वांसों स्वांस, तिनको भी नाहीं विस्वास।
केते रहे बाकी तेरे स्वांस, एक स्वांस की भी नाहीं आस।।१३।।

तेरे जीवन की डोर श्वासों की एक निश्चित संख्या से

बँधी हुई है, अर्थात् तुम्हारी उम्र की एक निश्चित अवधि है, किन्तु उसका भी पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में तू इस बात का विचार कर कि तेरे जीवन की अभी कितनी श्वासें बाकी है? तेरी उम्र में जो भी साँसे बाकी है, उन पर तू इतरा नहीं। पता नहीं, उनमें से एक साँस भी तुझे प्राप्त होगी या नहीं।

भावार्थ– इस चौपाई में मानव जीवन की क्षणभंगुरता को अच्छी प्रकार से दर्शाया गया है। यद्यपि अपने संचित प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों के आधार पर मनुष्य की उम्र निर्धारित होती है, किन्तु उस पर अति विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि अशुभ कर्मों एवं प्रकृति के नियमों की अवहेलना करने से आयु क्षीण होती है। परब्रह्म के ध्यान, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, और नियमित जीवन आदि से अपनी उम्र में वृद्धि की जा सकती है। शरीर की

नश्वरता के सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद का यह कथन सर्वदा याद रखना चाहिये कि यह शरीर वैसे ही है, जैसे सिंह के मुख में बकरी का मुख।

स्वांस तो खिन में कई आवें जाएं, गए अवसर पीछे कछू न बसाए।
तिन कारन सुन रे जीव सही, बड़ी मत मैं तोको कही।।१४।।

विशेष तथ्य यह है कि एक क्षण में अनेक साँसें आती हैं और जाती हैं। रे जीव! यदि अपने प्राणेश्वर को रिझाने का यह सुनहरा अवसर तूने खो दिया तो याद रख, बाद में कुछ भी कर पाना तेरे वश में नहीं रह पाएगा। इसलिये मेरी इस बात को सावधान होकर सुन। मैंने तुम्हें श्रेष्ठ बुद्धि के सम्बन्ध में बता ही रखा है।

भावार्थ– एक मिनट में १२–१४ बार साँस आती–जाती है, जबकि इतने ही समय (१ मिनट) में लगभग

७२ बार हृदय धड़कता है। यद्यपि एक मिनट में कई क्षण हो जाते हैं, फिर भी एक क्षण में कई साँसों के आने–जाने का कथन उपयुक्त है। सूक्ष्म दृष्टि से एक क्षण का तात्पर्य अति अल्प समय से भी है।

जो जोगबाई है तेरे हाथ, सो या मुखथें कही न जात।
एते दिन तें ना करी पेहेचान, तैसी करी ज्यों करे अजान।।१५।।

तुझे यह जो मानव तन तथा तारतम ज्ञान का प्रकाश रूपी अनमोल साधन प्राप्त हुआ है, उसकी महिमा का वर्णन इस मुख से नहीं कहा जा सकता। दुःख के साथ यह कहना पड़ रहा है कि आज दिन तक तूने अपने प्राण–प्रियतम की पहचान ही नहीं की। तूने अपने आराध्य के प्रति वैसी ही नादानी (नासमझी) का व्यवहार किया है, जैसे कोई अज्ञानी व्यक्ति करता है।

अब ए वचन विचारो मन, साख दई सुकजी के वचन।

भी वचन कहूं सुन मेरे जिउ, जिन छोड़े चरन खिन पिउ।।१६।।

मेरे जीव! तू मेरे द्वारा कहे हुए इस वचन का अपने मन में विचार कर। तुम्हें समझाने के लिये ही मैंने श्रीमद्भागवत् में वर्णित शुकदेव जी के वचनों की साक्षी दी है। इसके साथ ही मैं तुमसे एक अनमोल वचन भी कह रही हूँ कि तू अब एक पल के लिये भी अपने प्राणवल्लभ के चरण कमलों को न छोड़। उनसे लिपट जा और अपने धाम हृदय में बसा ले।

निज घर पिउ को लीजे प्रकास, ज्यों वृथा न जाय एक स्वांस।

ग्रह गुन इंद्री भर तूं पांओ, ऐसा फेर न पाईए दाओ।।१७।।

रे जीव! तू परमधाम एवं प्रियतम अक्षरातीत के ज्ञान को आत्मसात् कर ले, जिससे तेरे इस जीवन की एक भी

साँस व्यर्थ में न जाने पाए। तू अपने अन्तःकरण एवं इन्द्रियों में धाम धनी का प्रेम भरने की राह पर चल। तुझे पुनः कभी भी ऐसा सुनहरा अवसर प्राप्त होने वाला नहीं है।

द्रष्टव्य– इस चौपाई में निज घर का तात्पर्य बेहद मण्डल से नहीं अपितु परमधाम से लिया जायेगा क्योंकि जीव भी अब आत्म–भाव में विभोर होकर धाम धनी को रिझा रहा है। भले ही उसे बेहद मण्डल (सत्स्वरूप) से आगे परमधाम में जाने का अवसर न मिले, किन्तु उसे अपना प्रेम एवं समर्पण तो परमधाम और अक्षरातीत के लिये ही करना पड़ेगा।

भरम भान के कहे वचन, बड़ी मत ले ज्यों होए धंन धंन।
ए भरम की नींद उड़ाए के दे, पेहेचान पिउ की नीके कर ले।।१८।।

प्रियतम अक्षरातीत के द्वारा दिए गए ज्ञान के प्रकाश में मैंने अपनी सभी भ्रमों का निराकरण (उच्छेद, विनाश) करके ही तुझसे ये बातें कही हैं। तू प्रियतम से प्रेम कराने की प्रेरणा देने वाली श्रेष्ठ बुद्धि को ग्रहण कर, जिससे तू धन्य–धन्य हो जा। तू प्राणेश्वर अक्षरातीत को न पहचानने की जिस भ्रम रूपी निद्रा का शिकार हो रहा है, उसे पूर्णतया छोड़ दे और अपने सर्वस्व श्री राज जी की अच्छी तरह से पहचान कर ले।

भावार्थ– यद्यपि आत्मा में भ्रम की स्थिति नहीं होती , किन्तु जीव की लीला को देखते–देखते वह भी जीव भाव में ग्रसित हो जाती है। परिणाम स्वरूप, उसे भी परमधाम और धाम धनी की विस्मृति सी हो जाती है। तारतम वाणी के प्रकाश में जीव जब परमधाम और अक्षरातीत का चिन्तन करने लगता है, तो आत्मा अपने

प्रियतम के प्रति एकनिष्ठ तो हो जाती है, किन्तु वह प्रेम में तब तक नहीं डूब सकती जब तक जीव भी विरह में न डूब जाये। आत्मा का संसार को छोड़कर प्राणेश्वर अक्षरातीत के प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित हो जाना ही सभी भ्रमों का उन्मूलन (नाश) करना है। जीव ज्ञान द्वारा सब कुछ जानने के बाद भी विकारों के बोझ से दबा होने के कारण धनी की वास्तविक पहचान नहीं कर पाता। फलतः वह धाम धनी के प्रति अटूट विश्वास, समर्पण, एवं विरह से दूर रहता है। इसे ही जीव का नींद में सोते रहना कहा जाता है।

मुखथें वचन कहे तो कहा, जो छेदके अजूं ना निकस्या।
अगलों ने किव करी अनेक, तें भी कछुक करी विसेक।।१९।।

रे जीव! केवल मुख से श्रेष्ठ वचनों को कहते रहने से

क्या लाभ है, यदि तू उनको स्वयं आचरण में लाकर माया के बन्धनों को पार (नष्ट) करते हुए इससे परे नहीं हो गया? इसके पहले भी बहुत से ज्ञानी जनों ने काव्यमय धर्मग्रन्थों की रचना की है, अन्तर केवल इतना ही है कि तूने अक्षरातीत का वरद्हस्त पाकर कुछ विशिष्ट काव्य रचना कर दी है।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण का ऐसा आशय कदापि नहीं लेना चाहिए कि श्री मिहिरराज जी ने तारतम वाणी को कहा है। इस वाणी का प्रत्येक शब्द अक्षरातीत के आवेश से ही कहा गया है। श्री इन्द्रावती जी ने मिहिरराज जी के जिस तन को धारण किया है, उसको अपार शोभा मिल रही है। किन्तु यदि वही जीव धाम धनी के प्रेम एवं पहचान से स्वयं को दूर रखे, तो फटकारने की भाषा में इस प्रकार की शब्दावली का

प्रयोग किया गया है। आगे की चौपाइयों से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट भी हो जाती है।

पर सांचा तो जो होए गलतान, तो भले मुख निकसी ए बान।
ए बानी मेरी नाहीं यों, और किव करत हैं ज्यों।।२०।।

रे जीव! इस बात को तू हृदयंगम कर ले (मन में बैठा ले) कि तू सच्चा तभी कहला सकेगा, जब प्रियतम के प्रेम में गलितगात हो (डूब) जायेगा। तभी धाम धनी के द्वारा इस वाणी का तेरे मुख से उच्चारित होना भी सार्थक हो सकेगा। मेरी आत्मा के धाम हृदय में विराजमान होकर धाम धनी ने जो तारतम वाणी कही है, वह ज्ञानीजनों के द्वारा रचे गये काव्यमय ग्रन्थों की तरह नहीं है।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई का सार रूप कथन यह है कि अन्य सभी ग्रन्थ (उपनिषद्, दर्शन, तथा महाकाव्य

अर्थात् रामायण, महाभारत, सन्त साहित्य आदि) ज्ञानी जनों के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा या अपने अनुभव एवं साहित्यिक ज्ञान के आधार पर रचे गये हैं, किन्तु इस तारतम वाणी का एक शब्द भी श्री इन्द्रावती जी ने नहीं कहा है।

"मेरी बुधे लुगा न निकसें, धनी जाहेर करे अखंड घर सुख।" इसका यही अभिप्राय है। स्वयं कहकर भी श्री राज जी ने अपनी प्रियतमा श्री इन्द्रावती जी को सारी शोभा दी है, जिसके फलस्वरूप श्री मिहिरराज जी के जीव को भी लौकिक जगत् में बाह्य रूप से तारतम वाणी को उच्चारित करने की शोभा प्राप्त हो सकी है।

ए गुसा किया मेरे जीव के सिर, ना तो और किवकी भांत कहूं क्योंकर।
आतम मेरी है अति सुजान, अछरातीत निध करी पेहेचान।।२१।।

रे जीव! अपने मुख से उच्चारित ज्ञान को आचरण में न ला पाने के कारण ही क्रोधपूर्वक मैंने तुझसे इस प्रकार के कठोर वचनों को कहा है, अन्यथा ब्रह्मवाणी की तो अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ से तुलना हो ही नहीं सकती। अपने प्राणवल्लभ की पहचान करने में मेरी आत्मा बहुत ही प्रवीण है, तभी तो मैंने अपनी सर्वोपरि निधि (प्राणधन, अक्षरातीत) की सरलता से पहचान कर ली है।

अब सांचा तो जो करे रोसन, जोत पोहोंची जाए चौदे भवन।
ए समया तो ऐसा मिल्या आए, चौदे भवन में जोत न समाए।।२२।।

हे जीव! इस समय सच्चा वही कहला सकता है, जो इस तारतम वाणी को इस प्रकार सर्वत्र फैलाये कि उसकी ज्योति चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र फैल जाये। यह ऐसा स्वर्णिम अवसर मिला है कि तुम्हें तो यह दृढ़

संकल्प करना चाहिये कि मैं तारतम वाणी को इस प्रकार फैलाऊँ कि चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में उसका उजाला समा सके, अर्थात् सर्वत्र तारतम ज्ञान का ही अनन्त प्रकाश दृष्टिगोचर हो।

भावार्थ– चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड का तात्पर्य सम्पूर्ण पृथ्वी लोक, तथा अन्तरिक्ष में स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करने वाले उन पुरुषों के लोकों (अवस्थाओं) से है जो सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हो चुके हैं। यद्यपि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लोग तो तारतम ज्ञान को योगमाया के ब्रह्माण्ड में ही ग्रहण करेंगे, किन्तु इस चौपाई में अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा में इस प्रकार का कथन अपने मनोबल एवं उद्देश्य को सर्वोपरि बनाए रखने के लिये किया गया है।

यों हम ना करे तो और कौन करे, धनी हमारे कारन दूजा देह धरे।
आतम मेरी निज धाम की सत, सो क्यों ना करे उजाला अत।।२३।।

इस प्रकार यदि हम ब्रह्मात्मायें भी अपने प्राणेश्वर तथा परमधाम के ज्ञान को उजागर न करें, तो भला और कौन करेगा? हमें जगाने के लिये ही तो धाम धनी ने यह दूसरा (मिहिरराज जी का) तन धारण किया है। मैं परमधाम की अखण्ड आत्मा हूँ। ऐसी स्थिति में मैं तारतम ज्ञान का प्रकाश चारों ओर क्यों न फैलाऊँ।

श्रीसुंदरबाई के चरन प्रताप, प्रगट कियो मैं अपनों आप।
मोंसों गुनवंती बाईऐं किए गुन, साथें भी किए अति घन।।२४।।

श्री श्यामा जी के चरणों की कृपा से, मैंने अपने निज स्वरूप को सबके समक्ष प्रस्तुत किया है कि मैं परमधाम की आत्मा इन्द्रावती (महामति) हूँ। प्रियतम के प्रेम पथ

पर चलने में भ्राता गोवर्धन जी (गुणवन्ती बाई की आत्मा) ने अति सहयोग किया। इस प्रकार अन्य सुन्दरसाथ ने भी मेरे प्रति बहुत अधिक आत्मिक प्रेम (गुण) दर्शाया है।

जोत करूं धनी की दया, ए अंदर आए के कह्या।

उड़ाए दियो सबको अंधेर, काढ़्यो सबको उलटो फेर।।२५।।

अब मुझे प्रियतम अक्षरातीत की कृपा से तारतम ज्ञान की ज्योति को सर्वत्र फैलाना है। इस अमृतमयी ब्रह्मवाणी को धाम धनी ने मेरे हृदय में विराजमान होकर कहा है। तारतम ज्ञान के प्रकाश ने सबके अन्दर विद्यमान अज्ञानता के अन्धकार को नष्ट कर दिया है तथा उन्हें जन्म–मरण के उल्टे चक्र से भी मुक्त कर दिया है।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कथित "उल्टो

फेर" का तात्पर्य है– भवसागर अर्थात् जन्म–मरण का चक्र। परब्रह्म से विमुख होकर संसार को ही प्रिय मानने लगना उल्टे चक्र में फँस जाना है।

इंद्रावती प्रगट भई पिउ पास, एक भई करे प्रकास।
अखंड धाम धनी उजास, जाग जागनी खेलें रास।।२६।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मैं अपने प्राणवल्लभ की सान्निध्यता को प्राप्त कर (धाम हृदय में बसा कर) सब सुन्दरसाथ के मध्य महामति के रूप में उजागर हो गयी हूँ और उनसे एकाकार होकर उनके तारतम ज्ञान का उजाला भी कर रही हूँ। मेरी आत्मा अब जाग्रत हो चुकी है, तथा तारतम वाणी के द्वारा अखण्ड परमधाम एवं धाम धनी की शोभा, लीला, और गरिमा का प्रकाश फैलाती हुई जागनी रास खेल रही है।

भावार्थ– इस चौपाई के प्रथम चरण में "प्रियतम के पास होने" का भाव है– माया के अन्धकार से पृथक होकर अपने धाम हृदय में अपने प्राणेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना। इसी प्रकार "एक भई" का कथन यही दर्शा रहा है कि अब श्री इन्द्रावती जी (महामति जी) एवं अक्षरातीत में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह गया है क्योंकि दोनों ही एक–दूसरे के हृदय में ओत–प्रोत हो गये हैं। "हम अरस–परस हैं हक के" का कथन इसी सन्दर्भ में है।

प्रकरण ।।२१।। चौपाई ।।५३३।।

इस प्रकरण में आत्मा एवं जीव को अक्षरातीत प्रियतम के प्रेम में डूबने की शिक्षा (सीख) दी गयी है।

आंखां खोल तूं आप अपनी, निरख धनी श्री धाम।

ले खुसवास याद कर, बांध गोली प्रेम काम।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे मेरी आत्मा! अब तू तारतम ज्ञान के प्रकाश में अज्ञानता की निद्रा को छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि को खोल और अपने प्राणजीवन आराध्य को देख। दिव्य प्रेम के स्वर्णिम पथ पर चलते हुए प्रेम की सुगन्धि ले और प्रियतम को अपने हृदय सिंहासन पर विराजमान कर।

भावार्थ– प्रेम काम की गोली बाँधने का अर्थ है– ऐसे मार्ग का अनुसरण करना जिसमें प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा ही न हो। इसी प्रकार "याद

कर" का आशय वाणी द्वारा शुष्क भाव से नाम जपना नहीं बल्कि, अपने हृदय की पुकार द्वारा, अपने हृदय में सर्वदा के लिये बसा लेना है।

प्रेम प्याला भर भर पीऊँ, त्रैलोकी छाक छकाऊँ।

चौदे भवन में करूं उजाला, फोड़ ब्रह्मांड पिउ पास जाऊं।।२।।

मेरी एकमात्र यही कामना है कि अपने हृदय रूपी प्याले में प्रियतम के प्रेम का अमृत रस भर लूँ तथा आनन्दमग्न होकर उसका पान करूँ। केवल इतना ही नहीं, तीनों लोकों (पृथ्वी, स्वर्ग, एवं बैकुण्ठ) को भी इसी प्रेम रस से मैं पूर्णतया तृप्त कर देना चाहती हूँ। मैं चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही तारतम ज्ञान का प्रकाश फैला देना चाहती हूँ। इसके अतिरिक्त अपनी अन्तर्दृष्टि से इस ब्रह्माण्ड को पार करके, निराकार तथा बेहद मण्डल को

भी उल्लंघकर, परमधाम में अपने अनन्त सौन्दर्य से विराजमान अपने सर्वस्व अक्षरातीत का मैं प्रेम भरा दर्शन करना चाहती हूँ।

भावार्थ– वैदिक दृष्टि से तीन लोक (त्रैलोकी) इस प्रकार हैं–

१. पृथ्वी– जिसमें सभी स्थूल लोक आ जाते हैं।

२. अन्तरिक्ष– अनन्त आकाश, जिसमें सभी स्थूल लोक विद्यमान हैं।

३. द्युलोक– जहाँ से आकाशगंगाएँ प्रकट होती हैं।

किन्तु उपरोक्त चौपाई में पौराणिक मान्यता का ही भाव झलकता है। पृथ्वी पर ही सातों पाताल लोक (सातों समुद्र के निकटवर्ती भूभागों) को जोड़ लेने पर चौदह लोकों की मान्यता सिद्ध हो जाती है।

वाचा मुख बोले तूं वानी, कीजो हांस विलास।

श्रवना तूं संभार आपनी, सुन धनी को प्रकास।।३।।

रे मूर्ख! तू अपनी जिह्वा से मात्र प्रियतम की तारतम वाणी का ही उच्चारण कर और उनसे ज्ञान द्वारा हास–परिहास का मनोरम आनन्द ले। रे कानों! तुम अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रियतम की असीम महिमा का ही श्रवण किया करो।

कहे विचार जीव के अंग, तुम धनी देखाया जेह।

जो कदी ब्रह्मांड प्रले होवे, तो भी ना छोडूं पिउ नेह।।४।।

जीव के अंग अन्तःकरण आपस में विचार करके जीव की ओर से यह कहते हैं कि हे आत्मा! आपने हमें जिस अक्षरातीत की पहचान दी है, हमारा जीव यह निश्चय करता है कि यदि इस ब्रह्माण्ड का प्रलय भी हो जाये, तो

भी मैं कभी धाम धनी का प्रेम नहीं छोड़ूँगा।

भावार्थ– जीव के अंग दो प्रकार के होते हैं–

१. स्थूल अंग, अर्थात् दृष्टिगोचर होने वाली बाह्य कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की समूह।

२. सूक्ष्म अंग, अर्थात् अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, और अहंकार)।

यहाँ "अंग" शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, इसलिये इस चौपाई के चौथे चरण में "छोडूं" के कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि यह जीव के द्वारा ही कहा गया है। यदि अंगों के द्वारा कहा गया होता, तो "छोडूं" के स्थान पर "छोड़े" लिखा होता।

खोल आंखां तूं हो सावचेत, पेहेचान पिउ चित ल्याए।

ले गुन तूं हो सनमुख, देख परदा उड़ाए।।५।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे जीव! अब तो तू सावधान हो जा और अपनी अन्तर्दृष्टि को खोल। प्रियतम की पहचान करके उन्हें अपने हृदय मन्दिर (चित्त) में बसा। प्रियतम के प्रेम (गुण) को आत्मसात् करके, माया का पर्दा हटा दो और अपने सम्मुख उनका प्रत्यक्ष दर्शन करो।

द्रष्टव्य– उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण में "गुण" शब्द का अभिप्राय तीनों गुणों से नहीं, बल्कि प्रेम (गुण) से है। इसी के द्वारा प्रियतम का साक्षात्कार होता है।

एते दिन वृथा गमाए, किया अधम का काम।
करम चंडालन हुई मैं ऐसी, ना पेहेचाने धनी श्रीधाम।।६।।

तूने इतने दिनों तक माया के झूठे बन्धनों में ही अपना अनमोल समय व्यर्थ कर दिया। तुम्हारा यह कार्य

अत्यधिक नीच (अधम) है। तुम्हारे इस बुरे कर्म के कारण ही मुझे एक चण्डालिनी स्त्री की तरह रो–रोकर ऐसा कहना पड़ा रहा है कि मैंने माया में अपने प्राणवल्लभ को ही नहीं पहचाना।

भट परो मेरे जीव अभागी, भट परो चतुराई।

भट परो मेरे गुन प्रकृती, जिन बूझी ना मूल सगाई।।७।।

मेरे भाग्यहीन जीव! तुझे धिक्कार है। तेरी बौद्धिक चातुर्यता को भी धिक्कार है। इतना ही नहीं, मेरे जीव के गुणों तथा उसके स्वभाव को भी धिक्कार है कि इनकी उपस्थिति में भी मैं अपने प्राणेश्वर से अपने मूल सम्बन्ध को नहीं जान सकी।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में गुण का सम्बन्ध तीनों गुणों, तथा श्रद्धा, समर्पण, सेवा, शील आदि गुणों से भी

है। सत्व गुण के प्रभाव से हृदय में जो शान्ति, प्रेम, और विनम्रता आदि का भाव प्रकट होता है, उसके द्वारा बौद्धिक चातुर्यता के सहयोग से किसी के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है। किन्तु यहाँ असफल रहने पर फटकार लगायी गयी है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण कथन हम सब सुन्दरसाथ को सीख (शिक्षा) देने के लिये है।

आग पड़ो तिन तेज बल को, आग पड़ो रूप रंग।

धिक धिक पड़ो तिन ग्यान को, जिन पाया नही प्रसंग।।८।।

रे जीव! तुम्हारे आत्मिक (अपने चैतन्य के) तेज को धिक्कार है, और तुम्हारे बौद्धिक एवं मानसिक बल को धिक्कार है। सबको आकर्षित करने वाले तेरे शरीर के बाह्य रूप के सौन्दर्य तथा तुम्हारे हृदय में स्थित उस ज्ञान को भी धिक्कार है, क्योंकि इन्होंने इस स्वर्णिम

अवसर को समझा ही नहीं कि स्वयं परब्रह्म श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में लीला कर रहे हैं।

भावार्थ– अपनी चेतना के निज स्वरूप में किसी महान लक्ष्य को प्राप्त करने एवं धर्माचरण (सत्य, ध्यान, शील आदि का आचरण) के प्रति जो दृढ़ संकल्प होता है, वह तेज कहलाता है। इसकी बाह्य झलक कभी–कभी मुख और विशेष रूप से आँखों में देखी जा सकती है। यही तेज जब अन्तःकरण, इन्द्रियों, एवं शारीरिक स्तर पर क्रियाशील हो, तो वह बल कहलाता है।

सौन्दर्य, प्रेम, और आनन्द प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है और सच्चिदानन्द परब्रह्म इनकी पराकाष्ठा हैं। भले ही कोई योगीराज शरीर के सौन्दर्य से घृणा कर सकता है, किन्तु आत्मा एवं परब्रह्म के असीम सौन्दर्य पर वह भी मुग्ध होता है। श्री

मिहिरराज जी के जीव ने सौन्दर्य (बाह्य तथा आन्तरिक) रस की अब तक जो भी अनुभूति की है, उसे ही इस चौपाई के दूसरे चरण में "रूप रंग" कहा गया है। वस्तुतः आत्मिक सौन्दर्य की उपेक्षा करने वाला शुष्क हृदय व्यक्ति, अध्यात्म के चरम लक्ष्य को प्राप्त ही नहीं कर सकता है।

धिक धिक पड़ो मेरे पांचों इंद्री, धिक धिक पड़ो मेरी देह।
श्री स्याम सुंदरवर छोड़ के, संसार सों कियो सनेह।।९।।

मेरे इस शरीर तथा इसमें स्थित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नासिका, कान, जिह्वा, तथा त्वचा) को धिक्कार है, धिक्कार है। इन्होंने तो मेरे प्राणजीवन अक्षरातीत को ही छोड़ दिया और सांसारिक सम्बन्धों के मिथ्या स्नेह–जाल में स्वयं को फँसा लिया।

धिक धिक पड़ो मेरे सब अंगों, जो न आए धनी के काम।

बिना पेहेचाने डारे उलटे, ना पाए धनी श्री धाम।।१०।।

मेरे शरीर के उन सभी अंगों को धिक्कार है, जो धाम धनी की पहचान करने एवं सेवा करके रिझाने के काम नहीं आ सके। प्रियतम की पहचान न होने से इन्होंने मुझे उल्टी (माया की) राह पर डाल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मैं अपने प्राणेश्वर का साक्षात्कार नहीं कर पायी।

द्रष्टव्य– वस्तुतः यह कथन सांकेतिक रूप से हम सुन्दरसाथ के लिये है, जो मायावी सुखों के पीछे भागकर प्रियतम के मधुर दर्शन (शर्बत–ए–दीदार) से वंचित हो रहे हैं।

तुम तुमारे गुन ना छोड़े, मैं बोहोत करी दुष्टाई।

मैं तो करम किए अति नीचे, पर तुम राखी मूल सगाई।।११।।

हमसे पल–पल प्रेम करना ही आपका गुण है। भले ही मैं मायावी बन्धनों में फँसकर भयंकर अपराध करती रही, किन्तु आपने मुझसे प्रेम करने का अपना गुण (स्वभाव) नहीं छोड़ा। यद्यपि मेरा जीव अत्यधिक निकृष्ट (घृणित, नीच) कर्म करता रहा, किन्तु आपने उसकी ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं दिया तथा परमधाम के मूल सम्बन्ध से मुझसे अगाध प्रेम करते रहे।

प्रकरण ।।२२।। चौपाई ।।५४४।।

कोतवाल के पास चर्चा–सत्संग के विरुद्ध चुगली किये जाने की घटना के पश्चात् श्री देवचन्द्र जी ने नगर के बाहर एक बाग में अपना निवास बना लिया था। वे दिन के समय वहीं पर रहकर चर्चा–सत्संग करते थे तथा रात्रि के समय अपने उस पूर्व निवास में आ जाते थे जो गांगजी भाई के गृह का ही एक भाग था। यह स्थान चाकला मन्दिर कहलाता है। श्री बिहारी जी चाकला स्थान की गादी पर बैठे थे।

सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान के पश्चात् बाग में स्थित उनका निवास स्थान जनशून्य होकर उजाड़ सा बना रहा। कालान्तर में बिहारी जी के देहावसान के पश्चात् चाकला मन्दिर की गादी भी बन्द हो गयी। तत्पश्चात् महाराजा छत्रशाल जी ने तारतम वाणी का प्रचार करने के लिये सर्वप्रथम केशरबाई एवं तेजस्वी

बाबा को वहाँ भेजा।

केशर बाई जी ने बाग में स्थित सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा निर्मित पर्णशाला के स्थान पर अपना निवास बनाकर जागनी कार्य प्रारम्भ किया। उनके द्वारा विकसित यह स्थान वर्तमान समय में खीजड़ा मन्दिर कहलाता है। ऐसी मान्यता है कि सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी की कृपा की छाँव तले यह वृक्ष विकसित हुआ था।

वस्तुतः इस प्रकरण में दोनों स्थानों – चाकला मन्दिर एवं खीजड़ा मन्दिर– की शोभा का वर्णन है। वहाँ की मधुर स्मृतियों में डूबे हुए श्री मिहिरराज जी के तन में विराजमान श्री इन्द्रावती जी की आत्मा अपने प्रियतम के लीला विहार के स्थानों में इस प्रकार खो जाती हैं कि वह दृश्य अनायास ही सबके सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। इसका संक्षिप्त सा मनोरम वर्णन इस प्रकार है।

वारने जाऊं बनराए वल्लभ की, जाकी सुख सीतल छाया।

देखो ए बन गुन भव औखदी, देखे दूर जाए माया।।१।।

मैं अपने प्राणेश्वर की पर्णकुटी के चारों ओर स्थित वृक्षों की सुख देने वाली शीतल छाया पर बलिहारी जाती हूँ। हे साथ जी! जरा इसकी विशेषता तो देखिए। वृक्षों की यह मनोहारी शोभा इस भवसागर के कष्टों को दूर करने वाली महान औषधि है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरे प्राणप्रियतम की लीला–विहार रूपी इस पावन शोभा के दर्शन मात्र से ही माया दूर हो जाती है।

भावार्थ– इस चौपाई के तीसरे चरण में "वन" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका आशय वृक्षों के उस विशाल समूह से है, न कि मात्र एक खीजड़ा वृक्ष से। यही भाव "वनराय" शब्द में भी है। वनराय एवं वृक्षराज के आशय में भेद है।

जब मन प्रियतम की लीला–विहार की मनोहारी शोभा में खो जायेगा, तो माया (लौकिक विचारों) से दूर हो जाना स्वाभाविक ही है।

अखण्ड मुक्ति देने का सामर्थ्य मात्र परब्रह्म के प्रेम में है, किसी स्थावर वृक्ष, पर्वत, या नदी में नहीं। इतना अवश्य है कि यदि वहाँ की शोभा प्रियतम के प्रति प्रेम को बढ़ा देती है, तो मुक्ति अवश्य प्राप्त हो जायेगी।

सच्चिदानन्द परब्रह्म के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही अनन्य परा प्रेम लक्षणा भक्ति है। इस आधार पर धाम धनी को छोड़कर अन्य किसी भी वृक्ष, खड़ाऊँ, या चित्र आदि की आरती, पूजा, एवं भोग उचित नहीं है।

जाऊं वारने आंगने बेलूं, जित ले बैठो संझा समें साथ।
बातें होत चलने धाम की, घर पैंड़ा देखाया प्राणनाथ।।२।।

मैं उस पर्णकुटीर के आँगन में स्थित रेत की शोभा पर न्योछावर होती हूँ, जहाँ मेरे प्राणनाथ (श्री देवचन्द्र जी) सन्ध्या के समय सब सुन्दरसाथ को लेकर बैठा करते थे और उस समय सबको जाग्रत करके परमधाम चलने की बातें हुआ करती थी। इस प्रकार वे प्रतिदिन परमधाम की राह दिखाया करते थे।

भी बल जाऊं आंगने, आगे पीछे सब साज।

जहां बैठो उठो पाँउ धरो, धनी मेरे श्री राज।।३।।

मेरे प्राणवल्लभ श्री राज! जिस आँगन में आप अपने चरण कमल रखते थे तथा विहार करते (उठते–बैठते, या चलते–फिरते) थे, मैं उस पर बार–बार स्वयं को समर्पित करती हूँ। आपके विराजमान होने से वहाँ पर सर्वत्र (आगे–पीछे) शोभा ही शोभा दृष्टिगोचर होती थी।

बलिहारी जाऊं बोहोत बेर, देहरी मंदिर द्वार।

वारने जाऊं इन जिमी के, जहां बसत मेरे आधार।।४।।

मैं अनेक बार उस कुटीर के द्वार तथा चौखट पर स्वयं को न्योछावर करती हूँ। मेरे जीवन के आधार, मेरे सर्वस्व, जिस धरती पर निवास करते थे, मैं उस पर बलिहारी जाती हूँ।

भावार्थ– इस चौपाई में "मंदिर" शब्द का प्रयोग निवास स्थान के लिये हुआ है। परिक्रमा ग्रन्थ में भी ऐसा ही भाव दर्शाया गया है। इसे वर्तमान समय में प्रचलित स्वर्ण कलशों, मूर्तियों, एवं घण्टे–घड़ियाल से सुसज्जित मन्दिरों के सन्दर्भ में नहीं देखा जाना चाहिए। इसी प्रकार गांगजी भाई के गृह के उस भाग को भी चाकला मन्दिर कहा जाता है, जहाँ सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी निवास किया करते थे।

बलि जाऊं पाटी पलंग सिराने, चादर सिरख तलाई।

पौढ़त पिउजी ओढ़त पिछौरी, ऊपर चंद्रवा चटकाई।।५।।

उस कुटीर में मेरे धाम धनी जिस पलंग पर शयन करते थे, जिस तकिये पर अपना शिर रखा करते थे, जिस चादर, रजाई, और गद्दे का उपयोग करते थे, चन्द्रवा से सुशोभित पलंग पर सोते समय जिस अंगोछी (पिछौरी) को ओढ़ा करते थे, उस पर मैं बलिहारी जाती हूँ।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाइयों में बलिहारी होने का अर्थ है– अपने हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा को समर्पण की भाषा में व्यक्त कर देना।

बल बल जाऊं मैं दुलीचा चाकला, बल जाऊं मंदिर के थंभ।

जिन थंभों कर धनी अपने, जुगतें दिए बंध।।६।।

मैं उस पर्ण कुटीर के अन्दर विद्यमान गलीचे

(कालीन), आसन, तथा थम्भों पर न्योछावर होती हूँ। यह स्मरणीय है कि स्वयं धाम धनी ने अपने हाथों से इन थम्भों में स्थान–स्थान पर बँध बाँधे थे।

भावार्थ– पर्णकुटीर की छत को सहारा देकर ऊपर ही रोके रखने के लिये उसे थम्भों के साथ रस्सी से बाँधा जाता है। उपरोक्त चौपाई में यही प्रसंग है। आज के परिप्रेक्ष्य में यदि हम समीक्षात्मक दृष्टि से देखें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जागनी का भवन त्याग, तप, प्रेम, और ज्ञान की नींव पर ही खड़ा होता है। ज्ञान, प्रेम, और त्याग से रहित वातानुकूलित कक्षों वाले भवनों से जागनी का प्रकाश फैलाने की इच्छा करना उस दिवास्वप्न के समान है, जिसे देखकर हमारा समाज खिलखिला रहा है।

बैठत हो जित महाबलिया, बल बल जाऊं ठौर तिन।

साथ सबेरा आए के बैठत, करो धाम धनी बरनन।।७।।

मेरे सर्वशक्तिमान सद्गुरु रूप धाम धनी! चाकला मन्दिर में जिस स्थान पर आप बैठा करते थे, मैं उस स्थान पर बार–बार समर्पित होती हूँ। वहाँ पर आपके चरणों में प्रातःकाल ही सुन्दरसाथ आकर बैठ जाया करते थे और आप परमधाम की शोभा तथा लीला का वर्णन किया करते थे।

भावार्थ– इस चौपाई से पूर्व की चौपाइयों में उस स्थान की गरिमा का वर्णन किया गया है, जहाँ पर वर्तमान समय में खीजड़ा मन्दिर है। इस सातवीं चौपाई से उस चाकला मन्दिर का प्रसंग शुरू होता है, जिसमें सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी, लील बाई, यमुना, तथा बिहारी जी रहा करते थे।

देखत मंदिर में कई बिध, वस्त सकल पूरन।

टूक टूक कर वार डारों, मेरे जीव के और तन।।८।।

मुझे अब भी चाकला मन्दिर में वे सभी वस्तुएँ अपनी सम्पूर्ण शोभा के साथ दिखायी दे रही हैं, जिनका प्रयोग सद्गुरु महाराज किया करते थे। अब तो मेरे मन में एकमात्र यही चाहना है कि मैं अपने जीव और इस तन को टुकड़े–टुकड़े करके धनी के प्रेम में समर्पित कर दूँ।

भावार्थ– धनी के प्रेम में शरीर के टुकड़े–टुकड़े करने का अभिप्राय तलवार से टुकड़े–टुकड़े करना नहीं है, बल्कि माया को छोड़कर प्रियतम को अपने हृदय मन्दिर में बसाने के लिये प्रेममयी चितवनि में आने वाले प्रत्येक शारीरिक कष्ट को सहर्ष सहन करना है। "देह भरोसा ना करे, पिया मिलन की आस" (क. हि.) का कथन इसी सन्दर्भ में है।

भले तुम देह धरी मुझ कारन, कर रोसन टाल्यो भरम।

जीव मेरा बोहोत सखत था, मेहेर नजरों भया नरम।।९।।

मेरे प्राणेश्वर! यह कितना अच्छा हुआ कि आपने मुझे जाग्रत करने के लिये श्री देवचन्द्र जी के रूप में एक मानव तन को धारण किया। आपने मेरे हृदय में तारतम ज्ञान का उजाला करके मेरे सभी संशयों को समाप्त कर दिया। यद्यपि मेरा जीव बहुत ही कठोर हृदय वाला था, किन्तु आपकी कृपा भरी प्रेममयी दृष्टि से अति कोमल हृदय वाला बन गया।

बल जाऊं मैं चरन कमल की, बल जाऊं मीठे मुख।

बलिहारी सोभा सुंदरता, जिन दरसन उपजत सुख।।१०।।

मैं आपके चरण –कमलों तथा माधुर्यता से भरपूर मुखारविन्द को अपने धाम हृदय में बसाकर उन पर

बलिहारी जाती हूँ। अलौकिक शोभा एवं सुन्दरता को अपने में समेटे हुए उस मुखारविंद पर मैं समर्पित होती हूँ, जिसके दर्शन से अपार सुख मिलता है।

भावार्थ– जिस प्रकार द्रव्य से गुण को पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सौन्दर्य से सुन्दरता को पृथक नहीं किया जा सकता। सुन्दरता का जो अंश हमारे अनुभव में आता है, वही शोभा है।

भी बल जाऊं हस्त कमल की, बल जाऊं वस्तर।

लेऊं बलैयां भूखन की, बल जाऊं सीतल नजर।।११।।

सद्गुरु रूप में विराजमान अपने धाम धनी के अति कोमल हस्त कमलों, वस्त्रों, आभूषणों, तथा प्रेम रस की शीतल वर्षा करने वाले नेत्रों पर मैं बारम्बार न्योछावर होती हूँ।

भावार्थ– वलैया लेना और बलिहारी होने का भाव एक ही है। प्रेमी (आसिक) के लिये प्रेमास्पद (माशूक) का नख से शिख तक का स्वरूप अति प्रिय होता है। जिस समय श्री मिहिरराज जी श्री देवचन्द्र जी के चरणों में पहुँचे, उस समय श्री देवचन्द्र जी की उम्र लगभग ४९ वर्ष की थी। आध्यात्मिक वेश–भूषा में होने के कारण स्वाभाविक है कि श्री देवचन्द्र जी सामान्य वस्त्र ही धारण करते होंगे।

आभूषण के नाम पर मात्र अँगूठी आदि धारण करते होंगे, किन्तु उनके धाम हृदय में अक्षरातीत के विराजमान होने से श्री इन्द्रावती जी ने उनके तन को उन्ही भावों में देखा है और उनके अंग–अंग पर स्वयं को न्योछावर किया है।

वार डारूं मैं नासिका पर, और वार डारूं श्रवन।

वार डारूं मैं नख सिख पर, जो सनकूल हैं अति घन।।१२।।

मैं अपने प्रियतम अक्षरातीत की मनोहर नासिका और कानों की शोभा के प्रति स्वयं को पूर्णतया समर्पित करती हूँ। श्री राज जी (सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी) का नख से शिख तक का सम्पूर्ण स्वरूप अत्यधिक प्रसन्नता के आह्लाद से भरा हुआ है। ऐसे स्वरूप को अपने हृदय मन्दिर में बसाकर, मैं स्वयं को उनके प्रति न्योछावर करती हूँ।

सेवा करत बाई हीरबाई, उछव रसोई जित।

अंतरगत तुम नित आरोगो, मैं बल बल जाऊं तित।।१३।।

मेरे प्राण प्रियतम! जिस चाकला मन्दिर में हीरबाई जी अति प्रेमपूर्वक भोजन बनाने की सेवा किया करती थी

और आप नित्य प्रति भोजन किया करते थे, मैं उस पावन भूमि पर बार–बार बलिहारी जाती हूँ।

वार डारूं मैं वानी पर, जो वचन केहेत रसाल।

साथ को चरने राख के, सागर आड़ी बांधत हो पाल।।१४।।

चाकला मन्दिर में चर्चा के समय आपके मुखारविन्द से अति मधुर शब्दों का प्रवाह बहता था। आपकी उस अमृतमयी वाणी पर मैं स्वयं को समर्पित करती हूँ। इस प्रकार आपने सब सुन्दरसाथ को अपने चरणों की छत्रछाया में रखा है और उन्हें इस संसार रूपी सागर से बचाने के लिये तारतम ज्ञान का बाँध बनाया है।

करत हो कृपा कई विध की, मीठी अति मेहेरबानी।

सांचे लाड़ लड़ाए सुंदर, ल्याए वतन की बानी।।१५।।

मेरे प्राण प्रियतम! आप सुन्दरसाथ के ऊपर प्रेम, ज्ञान, एवं एकत्व आदि से अनेक प्रकार की कृपा करते हैं। आपकी यह कृपा माधुर्यता के अपार रस से ओत–प्रोत है। आप सुन्दरसाथ से परमधाम का सच्चा प्रेम करते हैं और उन्हें जगाने के लिये ही परमधाम से तारतम वाणी का अद्वितीय ज्ञान लेकर आये हैं।

मैं सेवा करूं सर्वा अंगों, देऊं प्रदखिना रात दिन।

पल न वालूं निरखूं नेत्रे, आतम लगाए लगन।।१६।।

मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि मैं अपने सभी अँगों से आपकी सेवा करूँ तथा दिन–रात (निरन्तर) आपकी परिक्रमा ही करती रहूँ। मैं अपनी आत्मा में आपके प्रति प्रेम जाग्रत करके अपने नेत्रों से इस प्रकार देखना चाहती हूँ कि पल भर के लिये भी मेरी दृष्टि आपसे न हटे।

भावार्थ– अंग दो प्रकार के होते हैं–

१. इन्द्रियाँ आदि स्थूल अंग – इनके द्वारा अपने आराध्य (सदगुरू आदि) की स्नान, भोजन, भ्रमण कराने, या किसी अन्य कार्य की सेवा की जाती है।

२. सूक्ष्म अंग– इसके अन्तर्गत कारण शरीर के अन्तःकरण रूप मन, चित्त, बुद्धि आदि सूक्ष्म अंग आते हैं, जो भौतिक आंखों से दिखायी नहीं देते। इनके द्वारा सेवा यही है कि हृदय में श्रद्धा, समर्पण, विश्वास, विरह आदि के पुनीत भावों को भरकर सद्गुरु के आध्यात्मिक निर्देशों को मानें।

मुझसे अजान अबूझ दुष्ट अप्रीछक, अधम नीच मत हीन।
सो इन चरनों आए होए दाना स्याना, सुघड़ सुबुध प्रवीन।।१७।।

श्री इन्द्रावती जी का जीव कहता है कि मेरे प्रियतम

अक्षरातीत की कितनी अपार महिमा है कि उनके चरणों में आने से पूर्व मैं एक अज्ञानी , नासमझ, दुष्ट स्वभाव वाला, गँवार, अधम, नीच, तथा बुद्धिहीन था, किन्तु अब मैं अत्यधिक बुद्धिमान, चतुर, पवित्र मन एवं श्रेष्ठ बुद्धि वाला, तथा ज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक प्रवीण व्यक्ति बन गया हूँ।

भावार्थ– जब श्री मिहिरराज जी सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के चरणों में आये , उस समय उनकी बाल्यावस्था थी। ऐसी स्थिति में उनमें वे दोष कदापि नहीं माने जा सकते, जो इस चौपाई में दर्शाये गये हैं। वस्तुतः इस प्रकार के कथन से परोक्ष रूप में सब सुन्दरसाथ को यह विशेष शिक्षा दी गयी है कि यदि वे अपने मनोविकारों को दूर करना चाहते हैं, तो धाम धनी पर पूर्णतया समर्पित होकर प्रेममयी चितवनि का मार्ग अपनायें।

जीव जगाए देत निध निरमल, करत आतम रोसन।

सो जीव बुध ले करे उजाला, सबमें चौदे भवन।।१८।।

श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कह रही है– मेरे धाम धनी! आप हमारे जीव को परमधाम की परम पवित्र निधि के रूप में तारतम वाणी देकर उसे जाग्रत कर देते हैं, जिससे आत्मा में आपका प्रेम आ जाता है। जाग्रत हुआ जीव अपनी बुद्धि में तारतम ज्ञान का प्रकाश भर लेता है और चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में उसे सर्वत्र ही फैलाता है।

भावार्थ– यद्यपि आत्मा के सम्बन्ध से ही जीव को तारतम ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता है, किन्तु जब तक जीव जाग्रत नहीं होता तब तक द्रष्टा होने से आत्मा को भी उसका कोई लाभ नहीं मिलता। जब जीव तारतम वाणी के प्रकाश में प्रियतम अक्षरातीत के प्रति

पूर्णतया समर्पित होता है और उनके विरह में स्वयं को खोने लगता है, तो आत्मा भी धनी के प्रेम में डूबने लगती है। इसे ही आत्मा के हृदय का प्रकाशित होना कहा गया है। इसके पूर्व आत्मा के हृदय में धनी की विस्मृति होने से उसकी दृष्टि जीव की मायामयी लीला (अन्धकार) के ऊपर केन्द्रित रहती है।

इन जुबां क्यों कहूं बड़ाई, तुमें सब्द ना पोहोंचे कोए।
जो कछू कहूं सो उरे रहे, ताथे दुख लागत है मोहे।।१९।।

मेरे प्राणवल्लभ! इस जिह्वा से आपकी अनन्त महिमा का मैं कैसे वर्णन करूँ? इस नश्वर जगत् के शब्द आप तक पहुँच ही नहीं सकते क्योंकि आप मन, वाणी से सर्वथा परे हैं। मैं जो कुछ भी कहना चाहती हूँ, वह इस स्वप्नमयी जगत् में ही रह जाता है। अपनी इस

असफलता पर मुझे दुःखी होना पड़ता है कि मैं कितनी भाग्यहीना हूँ, जो अपने सर्वस्व की महिमा में एक शब्द भी यथार्थ रूप से नहीं कह पा रही हूँ।

विशेष– धाम धनी की अनुपम महिमा में व्यक्त किये जाने वाले शब्दों के इस नश्वर संसार में रह जाने का आशय है– उनका यथार्थ वर्णन न हो पाना।

दाझ बुझत है एक सब्द में, जब कहूं धनी श्रीधाम।
इन वचनें आतम सुख पायो, भागी हैड़े की हाम।।२०।।

जब मैं भाव–विह्वल होकर अन्तरात्मा से इस शब्द "मेरे धनी श्री धाम" का उच्चारण करती हूँ, तो आपको पाने की मेरी प्यास बुझ जाती है। इन वचनों से मेरी आत्मा को अत्यधिक सुख होता है और मेरे हृदय में आपको रिझाने की जो प्रबल चाहना होती है, वह भी पूर्ण हो

जाती है।

भावार्थ– "मेरे धनी श्री धाम" की भावना में भावित हो जाने पर प्रियतम से एकरूपता का अनुभव होता है, जो माया से पार कराने वाला ब्रह्मास्त्र ही कहा जा सकता है।

कहे इंद्रावती अति उछरंगे, फोड़ ब्रह्मांड करूं रोसन।

सीधी राह देखाऊं जाहेर, ज्यों साथ सुखे आवे वतन।।२१।।

अत्यधिक उत्साह में भरकर श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मैं इस ब्रह्माण्ड से परे जाकर बेहद मण्डल को भी उलँघ लूँ तथा अपने हृदय में परमधाम की अनन्त शोभा को आत्मसात् (प्रकाशित) कर लूँ। सब सुन्दरसाथ को मैं जागनी का सहज सीधा मार्ग बताना चाहती हूँ। इस मार्ग का अनुसरण करके सब सुन्दरसाथ आनन्दपूर्वक परमधाम आ सकता है।

भावार्थ– ब्रह्माण्ड को फोड़ने का तात्पर्य है– आत्मिक दृष्टि से इससे परे हो जाना। वस्तुतः यह सारा कथन सुन्दरसाथ को सिखापन देने के लिये कहा गया है। इसी प्रकार परमधाम आने का भाव यह है कि जब चितवनि के द्वारा आत्मिक दृष्टि से परमधाम का साक्षात्कार हो जायेगा, तो आत्मा जाग्रत हो जायेगी। महाप्रलय के पश्चात् तो सबकी आत्मा अपनी परात्म में एक साथ जाग्रत हो ही जायेगी।

प्रकरण ।।२३।। चौपाई ।।५६५।।

इस प्रकरण में आत्मा के द्वारा धाम धनी से प्रार्थना की गयी है।

अब अस्तुत ऊपर एक विनती कहूं, चरन तुमारे जीव में ग्रहूं।
इन चरनों मोहे सुध भई, पेहेली निध सुंदरबाईऐं दई।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि इससे पूर्व के प्रकरण में मैंने जो आपकी स्तुति गायी है, उसके पश्चात् मैं आपसे एक प्रेम भरी प्रार्थना (विनती) कर रही हूँ। मैं आपके चरणों को अपने जीव के हृदय में बसा लेना चाहती हूँ। आपके इन चरण–कमलों की कृपा से ही तो मुझे सारी वास्तविकता की सुध हुई है। श्यामा जी ने मुझे परमधाम की सर्वश्रेष्ठ (सर्वप्रथम) निधि के रूप में तारतम ज्ञान प्रदान किया।

भावार्थ– स्तुति का तात्पर्य है– आराध्य की महिमा का

गायन। किन्तु विनती का आशय उस प्रार्थना से है, जिसमें आराध्य से अपनी इच्छा को व्यक्त किया जाता है।

दोऊ सरूप में जोत जो एक, सो मैं देख्या करके विवेक।
ए चरन फलें कहे इंद्रावती, तारतम जोत करूँ विनती।।२।।

तारतम ज्ञान के प्रकाश में मैंने इस विशेष तथ्य का विवेकपूर्वक अनुभव किया कि इन दोनों स्वरूपों, अर्थात् श्री राज जी और श्यामा जी, में एक ही ज्योति है अर्थात् आन्तरिक रूप से दोनों स्वरूप एक ही हैं। मात्र लीला के लिये ही दो स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस प्रकार का विचित्र कथन मैं आपके चरणों की कृपा से ही कह रही हूँ और तारतम ज्ञान की आभा में ही मैं आपसे इस प्रकार की विनती भी कर रही हूँ।

मेरा बुत्ता कछू न था मेरे धनी, मोपे दोऊ सरूपों दया करी अति घनी।
सेवा में न थी हाजर, न जानूं दया करी क्यों कर।।३।।

मेरे प्राणजीवन! ऐसा कुछ भी कर पाना मेरे सामर्थ्य से परे की बात थी, किन्तु मेरे ऊपर आप दोनों (युगल स्वरूप) ने बहुत अधिक कृपा की, जिसके परिणाम स्वरूप मुझसे इस प्रकार की जागनी लीला हो सकी है। मैं तो आपकी सेवा भी नहीं कर पायी। पता नहीं, आपने मेरे ऊपर इतनी कृपा क्यों की?

भावार्थ– इस चौपाई से उस मान्यता का खण्डन होता है, जिसके अनुसार श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में मात्र जिबरील को ही श्री राज जी का स्वरूप माना जाता है और श्यामा जी के अस्तित्व को नकार दिया जाता है।

करतब चितवनी और सेवा करे, माया गुन उलटे परहरे।

मनसा वाचा कर करमना, करे दौड़ प्यार अति घना।।४।।

प्रियतम को रिझाना ही अपना कर्त्तव्य मानकर जो चितवनि और सेवा करता है, तथा मन, वाणी, एवं कर्म से उनके प्रति बहुत अधिक प्रेम की भावना रखता है, वह अनायास ही माया के उल्टे गुणों अर्थात् विकारों को दूर कर लेता है।

पर जब लग दया तुमारी न होए, तब लग काम न आवे कोए।

ए परीछा में करी निरधार, देखे सबके सब्द विचार।।५।।

किन्तु जब तक आपकी प्रेम भरी दया (कृपा) न हो, तब तक चितवनि, सेवा, और पुरुषार्थ आदि से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। मैंने इस बात का अच्छी प्रकार से परीक्षण किया है तथा सभी मनीषी जनों के कथनों पर

विचार करके मैंने यह निर्णय किया है कि आपकी कृपा ही सर्वोपरि है।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के कथन का आशय यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि चितवनि और सेवा का कोई महत्व ही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि आत्म – जाग्रति के लिये ज्ञान, प्रेममयी चितवनि, और सेवा का कोई विकल्प ही नहीं है। श्रीमुखवाणी किरंतन ७९/१४ के कथन "कृपा करनी माफक" और "कृपा माफक करनी" को ध्यान में रखते हुए, हमें निष्काम भावना के साथ प्रेम, चितवनि, और सेवा के कार्य में इस आशा के साथ लगे रहना चाहिए कि "जब तुम आप दिखाओगे, तब देखूंगी नैन नजर जी।"

जीव खरा होए जुदा मन करे, कपट रत्ती न हिरदे धरे।
यों करके तुमको सेवे, वचन विचार अंदर जीव लेवे।।६।।

यदि जीव स्वयं को मन के प्रपञ्चों से अलग करके निर्मल हो जाये, अपने हृदय में रञ्चमात्र भी किसी प्रकार का कपट न रखे, तारतम वाणी के वचनों का विचार करके उन्हें आचरण में लाये , तथा समर्पण भाव से आपकी सेवा करे।

सनकूल करे तुमारा चित, संसे भान करे जीव के हित।
पिउ चित पर चलेगा जोए, साथ में घरों सोभा लेसी सोए।।७।।

अपने आत्म–कल्याण के लिये तारतम वाणी के प्रकाश में सभी संशयों को दूर करे, आपके हृदय (चित्त) की इच्छानुसार ही सारा कार्य करे, तथा आपके हृदय को सर्वदा आनन्दित रखे, तो निश्चय ही वह सुन्दरसाथ

परमधाम में अपने मूल तन में जाग्रत होने पर सबके बीच में शोभा लेगा।

ए नींद उड़ाए के कहे वचन, श्री धाम धनी जीव जानी मन।
जब देख्या धनी नीके फिकर कर, तो अजूं न गई नींद है अंदर।।८।।

मुझे ऐसा लगता है कि मैंने ये बातें माया की नींद को छोड़कर ही कही हैं और मेरे जीव ने भी अपने मन में धाम धनी को अच्छी प्रकार से जान लिया है। किन्तु जब मैंने इस सम्बन्ध में अच्छी तरह से चिन्तन करके देखा, तो यही स्पष्ट हुआ कि धाम धनी की जाग्रत अवस्था के समक्ष तो मेरी जाग्रत अवस्था कहीं भी नहीं ठहरती है। मेरे हृदय में अभी भी मायावी नींद का अस्तित्व है और वह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है।

भावार्थ– तारतम ज्ञान के प्रकाश में प्रेममयी चितवनि

के द्वारा जब प्रियतम के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो (तारतम वाणी की भाषा में) उसे जाग्रत होना कहा जाता है। "हक सूरत दिल में चुभे, तब रूह जागी देखो सोए" (श्रृंगार ४/२) का कथन यही संकेत करता है, किन्तु इस जाग्रत अवस्था की भी एक सीमा है। एक जाग्रत आत्मा इस संसार में न तो अक्षरातीत की तरह सर्वज्ञ और सर्वशक्ति बन सकती है, और न ही प्रलय करने का अधिकार रख सकती है। इसी सत्य को दर्शाते हुए यहाँ यह बात कही गयी है कि अभी भी मेरे अन्दर माया की नींद का कुछ प्रभाव बना हुआ है।

ए वचन कहे मैं नींदज मांहें, जब नीके देखूं धनी धाम के तांहें।
न तो क्यों कहूँ धनी को एह वचन, पर कछुक तासीर है भोम इन।।९।।

हे मेरे धाम धनी! जब मैं आपकी असीम महिमा के

समक्ष अच्छी तरह से विचार करके देखती हूँ, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकरण की चौपाई ४–७ तक की कही हुई सभी बातें मैंने निद्रावस्था में ही कही हैं, अन्यथा अपने ही प्राणेश्वर से मैं इस प्रकार के रूखे वचन कहती ही क्यों? किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इस मायावी जगत् की भूमिका ही ऐसी है, जिसके प्रभाव में आकर मेरे मुख से ऐसे शब्द निकल गये।

भावार्थ– यद्यपि इस प्रकरण की चौपाई ४–७ में कहे हुए वचन पूर्णतया सच हैं, किन्तु ज्ञान की शुष्क भाषा में कहे गये हैं। प्रेम की दृष्टि से देखा जाये तो ये कथन उस अक्षरातीत के लिये उपयुक्त नहीं है, जो प्रेम का अनन्त सागर है और जो स्वयं अपने मुख से कहता है–

मैं लिख्या है तुमको, जो एक करो मोहे साद।
तो दस बेर जी जी करुं, कर कर तुमें याद।।

श्रृंगार २९/२३

जिन जुबां मैं दुख कहूं, सोए जुबां करूं सत टूक।।

क. हि. ११/३२

अक्षरातीत तो प्रेम न करने पर भी प्रेम करते हैं और न रिझाने पर भी कृपा करते हैं। उनके लिये चौपाई ४–७ के कथन कहीं न कहीं शुष्कता की वे भाषा बोल रहे हैं जो इस कालमाया के ब्रह्माण्ड में आदिनारायण के प्रति सांसारिक जीव कहा करते हैं। यही कारण है कि इस चौपाई में इन शब्दों को "एह वचन" कहकर सम्बोधित किया गया है। अगली चौपाई १० में भी यही भाव है।

जब घर की तरफ देखों तुमको, तब फेर यों होए मेरे मन को।
ए धाम धनी को कहा कहे वचन, तब जीव विचार दुख पावे मन।।१०।।

जब मैं परमधाम की दृष्टि से आपको देखती हूँ, तो मेरे

मन में पुनः ऐसा विचार आता है कि मैंने अपने प्राणवल्लभ के प्रति ऐसी बातें कैसे कह दीं? तब मेरा जीव इस विषय में सोचकर मन ही मन बहुत दुःखी होता है।

क्या कहूं सब्द तुमें पोहोंचे नांहें, मेरी जुबां भई माया अंग मांहें।
तुम सब्दातीत भए मेरे पिउ, मेरी देह खड़ी माया ले जिउ।।११।।

मेरे प्राणेश्वर! आप शब्दातीत जो ठहरे। मेरे जीव का यह शरीर माया का बना हुआ है और मेरी यह जिह्वा भी माया के तन की ही है। ऐसी अवस्था में मैं जो कुछ भी कहती हूँ, वे शब्द आप तक पहुँच ही नहीं पाते। अब आप ही बताइये मैं क्या करूँ, कैसे अपने भावों को व्यक्त करूँ?

धनी लगते वचन कहूँगी आए धाम, तब भानूंगी मेरे जीव की हाम।
ए तो बानी कही मैं साथ कारन, साथ छोड़सी माया ए देख वचन।।१२।।

जब मैं परमधाम आऊँगी, तभी मैं आपके लिये वास्तविक शब्दावलि का प्रयोग करते हुए कह पाऊँगी और तभी मेरे जीव की यह वास्तविक इच्छा भी पूरी हो सकेगी कि धाम धनी के लिये अति मधुर भावों से अपने हृदय के प्रेम को प्रकट करना है। तारतम वाणी के इन वचनों को तो मैंने इसलिये कहा है कि सुन्दरसाथ इन्हें देखकर (विचारकर) माया को छोड़ देंगे।

साथ वेगे बुलाओ कहे इंद्रावती, ए कठन माया दुख होए लागती।
ए दुख देख्या मांहें दुस्तर, कोई न पेहेचाने आप न सूझे घर।।१३।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे धाम धनी! आप सब सुन्दरसाथ को अति शीघ्र जाग्रत करके परमधाम बुला लीजिए (ले चलिए)। यह दुष्कर माया हमें बहुत ही दुःखदायी लग रही है। इस संसार में सबने बहुत ही

असह्य दुःख देखा है। यहाँ पर किसी को भी न तो अपनी पहचान है और न अपने घर की पहचान है।

ए मैं लुगा कह्या माया सनमंध, मैं देखीतां न देखूं अंध।
ए ताए कहिए जो होए बेसुध, तुम खिन खिन खबर लई कई विध।।१४।।

इस दुःखदायिनी माया के विषय में तो मैंने अभी बहुत थोड़ी सी ही (शब्दमात्र) बात कही है। इस माया में तो मैं ऐसी अंधी हो गयी हूँ कि आपको देखते हुए भी नहीं देख पा रही हूँ। माया की यह वास्तविकता उनसे ही कहनी चाहिए, जो तारतम ज्ञान न पाने से धनी की ओर से पूर्णतया बेसुधि में हैं। आप तो क्षण–क्षण में अनेक प्रकार से हमेशा ही मेरी सुधि लेते रहे हैं।

भावार्थ– ज्ञान दृष्टि से अक्षरातीत को जानते हुए भी उनका साक्षात्कार न कर पाना, देखते हुए भी नहीं

देखना है। यह कथन परोक्ष रूप में सुन्दरसाथ के लिये ही है, श्री इन्द्रावती जी के लिये नहीं, क्योंकि उनके ही धाम हृदय में विराजमान होकर श्री राज जी यह बात कह रहे हैं।

एह कहूँ मैं साथ कारन, अधखिन साथ विसारो जिन।
जिन करो तुमारी पाओखिन, तो कई कल्पांत जाए मिने तिन।।१५।।

यह बात मैं सुन्दरसाथ की जाग्रति के लिये ही कह रही हूँ। मेरे प्राण प्रियतम! आप आधे क्षण के लिये भी हमें न भुलाइए क्योंकि आपके चौथाई क्षण में ही इस संसार के कई कल्पान्त बीत जाते हैं।

द्रष्टव्य– एक कल्प में ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं। इस अवधि में १००० चतुर्युग व्यतीत हो जाते हैं। एक चतुर्युग चारों युगों के योग के बराबर होता है, अर्थात्

४३,२०,००० वर्ष।

मैं तो कहूँ जो तुम न्यारे हो, पाओ पल साथ की जुदागी ना सहो।
मैं तो कहूँ जो मेरी ओछी मत, तुम हम को कई सुख चाहत।।१६।।

किन्तु मेरा इस तरह से कहना भी तभी उचित होता, यदि आप हमसे अलग होते। आप तो हम सुन्दरसाथ से चौथाई पल का भी वियोग सहन नहीं कर सकते हैं। पूर्व में मैंने आपसे अलग न होने की बात भावुकतावश कही है, वह अपनी अल्पबुद्धि के कारण ही कही है। वास्तविकता तो यह है कि आप हमें अनेकों प्रकार के सुख ही सुख देना चाहते हैं।

हम कारन तुम आए देह धर, तुम कई विध दया करी हम पर।
तुम धनी आए कारन हम, देखाई बाट ल्याए तारतम।।१७।।

मेरे प्राणेश्वर! यह तो निश्चित है कि आप हमें जगाने के लिये ही माया का तन (श्री देवचन्द्र जी का) धारण कर इस नश्वर जगत् में आये। आपने हमारे ऊपर अनेक प्रकार से कृपा की है और तारतम ज्ञान का प्रकाश देकर हमें परमधाम की राह दिखायी है।

साथें माया मांगी सो भई अति जोर, तुम सब्द कहे कई कर कर सोर।
पर तिन समें नींद क्योंए न जाए, तब धनी सरूप भए अंतराए।।१८।।

सुन्दरसाथ ने परमधाम में आपसे माया का खेल देखने की इच्छा की थी। वह माया यहाँ इतनी शक्तिशाली है कि सुन्दरसाथ पर हावी हो रही है। आपने हमें जगाने के लिये तारतम ज्ञान के अनेक वचनों से बार–बार पुकारा, किन्तु सुन्दरसाथ ने जब किसी भी प्रकार से माया की नींद को नहीं छोड़ा तो आप अन्तर्धान हो गये अर्थात् श्री

देवचन्द्र जी के तन को छोड़ दिया।

तो भी ना भई हमको खबर, तब फेर आए दूजा देह धर।
ततखिन मिले हमको आए, सागर वतनी नूर बरसाए।।१९।।

इसके पश्चात् भी हमें अपने निज स्वरूप तथा धाम धनी की वास्तविक पहचान नहीं हो सकी। फलतः आप उसी क्षण दूसरा तन (श्री मिहिरराज जी का) धारण कर हमारे मध्य आ गये और परमधाम के सागर समान तारतम ज्ञान की वर्षा कर रहे हैं।

भावार्थ– सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के द्वारा होने वाली लीला में सुन्दरसाथ आड़िका लीला से सम्मोहित तो हुआ, किन्तु उसके सम्मोहन में आत्मा एवं धनी की पहचान पीछे रह गयी। तारतम वाणी के अवतरित न होने से भी सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्धान के पश्चात्

सुन्दरसाथ ज्ञान चर्चा भूल गये। परिणाम स्वरूप, पुनः अन्धकार छा गया।

जिस प्रकार सागर का जल ही वाष्पित होकर बादल बनता है और वर्षा करता है, उसी प्रकार मूल स्वरूप अक्षरातीत के हृदय में ज्ञान का जो अनन्त सागर लहरा रहा है, उसकी कुछ बूँदे श्री देवचन्द्र जी एवं श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में बादल के रूप में आयी और सुन्दरसाथ की आत्म–जाग्रति के लिये अमृतमयी मोहक वर्षा की। इसे तारतम वाणी में इस प्रकार दर्शाया गया है–

बादल बरस्या रूहअल्ला, ए बूंदे लई जो तिन।
और कोई न ले सक्या, बिना अर्स रूहन।। खि. ६/२९

एक बूंद आया हक दिल से, तिन कायम किए थिर चर।
इन एक बूंद की सिफत देखिए, ऐसे हक दिल में कई सागर।।

श्रृंगार ११/४५

मैं साथ को कह्या सो कहिए क्योंकर, यों तो कहिए जो दूर किए होवें घर।
एता तो मैं जानूं जीव मांहें, जो ए अरज धनीसों करिए नाहें।।२०।।

मैंने सुन्दरसाथ से जाग्रत होकर परमधाम चलने की जो बात कही है, उसकी आवश्यकता ही क्या है? ऐसा तो तब कहना चाहिए जब धाम धनी ने हमें परमधाम से पूर्णतया अलग कर दिया हो। वस्तुतः हम तो मात्र सुरता से ही यहाँ आये हुए हैं। हमारे मूल तन धाम धनी के समक्ष मूल मिलावे में ही विद्यमान हैं। यह तो मैं भी अपने जीव में जानती हूँ कि मुझे धनी से यह प्रार्थना नहीं करनी चाहिए थी कि आप सब सुन्दरसाथ को जाग्रत करके परमधाम ले चलिए।

पर साथ वास्ते दाह उपजी मन, यों जानें न कह्या हम कारन।
यों न कहूं तो समझे क्यों कोए, कई विध दया धनी की होए।।२१।।

किन्तु सुन्दरसाथ के आत्मिक लाभ के लिये ही मेरे मन में अग्नि की ज्वाला के समान अति तीव्र इच्छा हुई कि मैं धाम धनी से विनती करूँ, जिससे कोई यह न समझे (कहे) कि मैंने सुन्दरसाथ के लिये प्रियतम से कोई प्रार्थना ही नहीं की है। यद्यपि प्रियतम अक्षरातीत की कृपा तो पल-पल बरस ही रही है, किन्तु यदि मैं इस प्रकार न कहूँ तो धाम धनी की होने वाली निरन्तर कृपा को कोई भी समझ नहीं सकता है।

भावार्थ- अक्षरातीत गुह्य (बातिनी) रूप से प्रत्येक आत्मा के धाम हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु माया की नींद के कारण आत्माओं को इसका बोध ही नहीं रहता। उन्हें यह भी पता नहीं होता कि उनकी कृपा पल-पल बरस

रही है, किन्तु अनुभव करने का सामर्थ्य विकसित न कर पाने के कारण वे इस बोध से वंचित रह जाती हैं। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये इस प्रकरण तथा चौपाई में श्री इन्द्रावती जी के द्वारा धाम धनी से यह प्रार्थना की गयी है कि वे सुन्दरसाथ पर कृपा करें तथा उन्हें जाग्रत करके परमधाम ले चलें।

ए साथ की चिन्हार को कहे वचन, ना तो धनी दया जीव जाने मन।
साथ चरने हैं सो तो वचिखिन वीर, ए भी वचन विचारे द्रढ़ धीर।।२२।।

सुन्दरसाथ को धनी की प्रेममयी कृपा (दया) की पहचान कराने के लिये ही तो मैंने ये बातें कही हैं, अन्यथा उनकी अपार कृपा को मेरा जीव तो अपने मन में अच्छी तरह से जानता ही है। मेरे साथ धाम धनी के चरणों में जो भी सुन्दरसाथ हैं, वे निश्चित रूप से

अध्यात्म जगत के विलक्षण वीर हैं, अर्थात् वे ज्ञान, श्रद्धा, समर्पण, आस्था, विश्वास, एवं प्रेम के क्षेत्र में अग्रगण्य हैं। वे भी मेरे इन वचनों को अत्यधिक दृढ़ता के साथ धैर्यपूर्वक विचारेंगे।

पर करूं साथ पीछले की बड़ी जतन, देख वानी आवसी इन बाट वतन।
देखियो साथ दया धनी, ए कृपा की बातें हैं अति घनी।।२३।।

किन्तु मैं इस वाणी द्वारा छठें दिन की लीला में भाग लेने वाले सुन्दरसाथ की जागनी के लिये बहुत अधिक प्रयास कर रही हूँ। वे तारतम वाणी का चिन्तन करके ही परमधाम की राह अपनायेंगे। हे साथ जी! आप श्री राज जी की अपार प्रेम भरी कृपा के विषय में विचार कीजिए। उनकी कृपा की बातें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

भावार्थ– वि.सं. १७५१ में होने वाली अन्तर्धान लीला

के पश्चात् छठें दिन की लीला प्रारम्भ होती है। इस लीला में बाह्य रूप से श्री जी के ओझल होने से एकमात्र तारतम वाणी ही सबका आधार है। उसमें निहित दिव्य ज्ञान का आचरण ही हमारी आत्मा को जागनी की राह पर ले जाता है। उससे अलग होकर समाधि, चित्र, वृक्ष, या खड़ाऊँ आदि की पूजा कभी भी हमें परमधाम की ओर नहीं ले जा सकती।

ए दया धनी मैं जानूं सही, पर इन जुबां ना जाए कही।
जो जीव वचन विचारे प्रकास, तो अंग उपजे धाम धनी उलास।।२४।।

यद्यपि मैं अपने प्राणनाथ की अपार प्रेममयी दया के विषय में जानती तो हूँ, किन्तु मैं उसे यथार्थ रूप में इस जिह्वा से प्रकट नहीं कर सकती। यदि जीव प्रकाश वाणी के इन अनमोल वचनों का चिन्तन करेगा, तो उसके

हृदय में प्रियतम से मिलने के लिये अत्यधिक उमंग उत्पन्न होगी।

कहे इंद्रावती सुंदरबाई चरनें, सेवा पिउ की प्यार अति घने।
और कछू ना इन सेवा समान, जो दिल सनकूल करे पेहेचान।।२५।।

श्यामा जी के चरणों में प्रणाम करती हुई श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि प्रियतम अक्षरातीत की सेवा बहुत अधिक प्रेम से करनी चाहिए। ऐसी प्रेममयी सेवा के समान कुछ भी नहीं है क्योंकि यही प्रेम भरी सेवा हमारे हृदय में आनन्द भरती है तथा धाम धनी की स्पष्ट पहचान देती है।

भावार्थ– ज्ञान का उद्देश्य सत्य को दर्शाना होता है। प्रेम भरी सेवा लौकिक अहंकार को नष्ट कर देती है, जिसके परिणाम स्वरूप प्रेम लक्षणा भक्ति का मार्ग प्रशस्त हो

जाता है और धाम धनी के चरण कमलों की प्राप्ति हो जाती है। शुष्क और कठोर हृदय से, किसी स्वार्थ के लिये, की गयी सेवा वास्तविक सेवा नहीं है और इससे कोई भी आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता।

प्रकरण ।।२४।। चौपाई ।।५९०।।

जाटी प्रबोध

सूत कातने का द्रष्टान्त

इस प्रकरण के अतिरिक्त आगे के प्रकरणों २६,२७ एवं २८ में सूत कातने के रूपक अलंकार के माध्यम से जागनी लीला की एक झलक दिखायी गयी है। इसमें ज्ञान का चरखा है और श्रद्धा की रूई है, जिससे समर्पण की पूनी तैयार होती है। इस पूनी से प्रियतम के प्रेम का सूत काता जाता है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि श्रद्धा का ही परिपक्व रूप विश्वास (ईमान) है, जिसकी नींव पर समर्पण का भवन खड़ा होता है। आँगन संसार है और कातने वाली ब्रह्मसृष्टियाँ है।

परम्परागत रूप से रूपक अलंकार के इस कथन में शरीर को चरखा, मन को तकला, अदवान को ईमान, तथा माल को सुरता रूपी डोरी कहा गया है। किन्तु यदि

हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो चरखे के अन्य अंग भी स्थूल हैं, जिनकी उपमा स्थूल पदार्थों से ही देनी उचित है। ईमान तो एक गुण है, उसको दर्शाने के लिये अदवान से उपमा देना उचित प्रतीत नहीं होता।

भट परो तिन नींद को, जिन सोहागनियां दैयां भुलाए।
तो भी नींद निगोड़ी ना उड़ी, जो धनी थके बुलाए बुलाए।।१।।

इस माया रूपी नींद को धिक्कार है, जिसने ब्रह्मसृष्टियों को अपने तथा प्रियतम के धाम स्वरूप एवं लीला के विषय में विस्मृत कर रखा है। प्रियतम अक्षरातीत ने श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर तारतम ज्ञान के प्रकाश में जगाते–जगाते (बुलाते–बुलाते) थक गये, फिर भी इस निर्लज्ज नींद ने ब्रह्मात्माओं को नहीं छोड़ा।

भावार्थ– इस चौपाई में अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा में श्री राज जी को थका हुआ कहा गया है। वस्तुतः किसी भी अवस्था में धाम धनी थक नहीं सकते। यहाँ थकने का आशय है– जगाने का बहुत अधिक प्रयास करना। अक्षरातीत के लिये प्रयास शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं, क्योंकि इसमें असफलता की भी सम्भावना रहती है। लोक रीति के अनुसार लीला रूप में इस प्रकार का कथन किया गया है।

ए नींद अमल कासों कहिए, क्योंए ना छोड़े आतम।
तो भी बेसुधी ना टली, जो जल बल हुई भसम।।२।।

यह माया का नशा क्या है और यह परमधाम की आत्माओं को क्यों नहीं छोड़ रहा है? कितने आश्चर्य की बात है कि ज्ञान की अग्नि में जल कर राख हो जाने के

पश्चात् भी आत्माओं से माया की यह बेसुधि नहीं हटती है।

भावार्थ– बेसुधि का अर्थ है – अपनी सुध–बुध खो देना, अर्थात् पूर्ण रूप से विस्मृति के आगोश में बन्ध जाना।

वतन से आइयां सैयां, सबे बांध के होड़।

सो याद न रह्या कछुए, इन नींदे दैयां सब तोड़।।३।।

परमधाम से सभी सखियाँ इस बात की होड़ बाँधकर (बाजी लगाकर) आयी थीं कि "देखते हैं, माया हमारा क्या कर लेती है?" किन्तु अब उन्हें परमधाम की इस शर्त के सम्बन्ध में कुछ भी याद नहीं है। माया की नींद ने इस खेल में माया से विजयी होने की भावना को तोड़ दिया है।

तुमको नींद उड़ावने, मैं देऊं एक द्रष्टांत।

तुम विध अगली देखके, जो कदी समझो इन भांत।।४।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! आपकी मायावी नींद को समाप्त करने के लिये सूत कातने का एक दृष्टान्त देती हूँ। आप इस दृष्टान्त को समझकर आत्म–चिन्तन करना कि हम इस कसौटी पर कितने खरे सिद्ध होते हैं? सम्भवतः आप इससे वास्तविकता को जान पायेंगे।

भावार्थ– इस चौपाई के तीसरे चरण में "अगली" शब्द है। जबकि प्रकाश गुजराती में "अगई" है। इसका आशय अगले या पहले से है।

चौपाई के इस चरण का भाव यह है कि इस दृष्टान्त में प्रेम का सूत कातने में सखियों की जो स्थिति रही है, उसमें हम कहाँ ठहरते हैं? अर्थात् पहले दृष्टान्त को

समझना है, तत्पश्चात् हमें अपनी स्थिति पर चिन्तन करना है। तभी हम इस मायावी नींद के विषय में अच्छी तरह से जान सकते हैं।

आइयां आस कातन की, करके उमेद दूनी।

किनहूं कात्या बारीक, किन रूईथें न करी पूनी।।५।।

प्रियतम के प्रेम का सूत कातने की भावना से सखियाँ परमधाम से इस नश्वर जगत् में आयी हैं। किसी ने बारीक सूत काता और किसी ने रूई से पूनी भी नहीं बनाई, अर्थात् किसी सुन्दरसाथ ने धनी के एकनिष्ठ प्रेम में स्वयं को लगा दिया और किसी ने तारतम ज्ञान से धाम धनी पर समर्पित होना ही नहीं सीखा।

आइयां कातन वालियां, मिनो मिने रब्द कर।

किन किन मिहीं कातिया, सांचा सनेह धर।।६।।

परमधाम में आपस में धनी को न भूलने की बाजी लगाकर, प्रेम रूपी सूत कातने वाली सखियाँ इस नश्वर संसार में आयी। उनमें से किसी–किसी ने ही प्रियतम के प्रति अपने हृदय में सच्चा प्रेम रखकर प्रेम का महीन सूत काता।

कोई बड़ाई ले बैठियां, सो गैयां आपको भूल।

उठियां अंग पछताए के, होए सूरत बेसूल।।७।।

कोई सखी इस खेल में प्रतिष्ठा के पीछे इतनी भागने लगी कि वह अपने निज स्वरूप को ही भूल गयी। ऐसी सखी जब अपने मूल तन परात्म में उठेगी, तो वह पश्चाताप के भावों में भरी होगी तथा उसके मुख पर

अपराध की झलक दिखाई देगी।

किनहूं कात्या सोहाग का, सूत भर भर सेर।

कोई बैठियां पाँउ पसार के, ले बैठी हिरदे अंधेर।।८।।

किसी–किसी ने अपने प्राणेश्वर को रिझाने के लिये प्रेम का एक किलो तक सूत कात डाला। इसके विपरीत, कोई सखी अपने हृदय में अज्ञानता का अन्धकार लेकर निठल्ले होकर बैठी रही।

भावार्थ– पाँव पसारकर बैठना एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ होता है– पूर्णतया निष्क्रिय (कर्महीन) होकर बैठे रहना, अर्थात् ज्ञान, भक्ति, सेवा आदि से पूर्णतया अलग रहना।

कोई तलबें तांत चढ़ावहीं, भले पाई ए बेर।

कोई नीचा सिर कर रही, कोई चढ़ियां सिर मेर।।९।।

कोई सखी सोचती है कि मुझे सूत कातने (प्रियतम से प्रेम करने) का यह बहुत ही स्वर्णिम अवसर मिला है। ऐसा करके वह अत्यधिक तीव्र इच्छा से तकले पर सूत चढ़ाती है, अर्थात् विरह–प्रेम की राह पर चलती है। कोई सूत न कातने से नीचा सिर किये बैठी है, तो कोई सुमेरू पर्वत की तरह अपने सिर को ऊँचा किये बैठी है, अर्थात् संसार में धनी से प्रेम न करने वाली ब्रह्मसृष्टि को परमधाम में लज्जा से शिर झुकाए रखना होगा, जबकि प्रेम की राह में चलने वाली ब्रह्मात्मा गौरव के साथ अपना शिर ऊँचा किये रहेगी।

एक सूत देखे और के, उमर सब गई।

फेरा देवें रूपवंतियां, कबूं पूनी हाथ न लई।।१०।।

एक सखी ऐसी है, जो दूसरे का सूत देखने में ही अपनी सारी उम्र खो देती है। कुछ ऐसी भी हैं, जो व्यर्थ में इधर–उधर घूमती रहती हैं और अपने हाथ से उन्होंने पूनी को छुआ भी नहीं।

भावार्थ– इस खेल में कुछ ब्रह्मसृष्टियाँ ऐसी हैं, जो अपनी सारी उम्र इस सोच में बिता देती हैं कि कौन क्या कर रहा है? उन्हें इस बात का नाममात्र भी एहसास नहीं होता कि वे अपने अनमोल समय को यूं ही पल–पल गँवा रही हैं। कुछ का जीवन इतना निष्क्रिय होता है कि न तो वे ज्ञान ग्रहण करती हैं और न प्रेममयी चितवनि की राह पर एक भी पग आगे बढ़ती हैं।

कोई सोए रहियां आतन में, उठियां तब उदमाद।

दुख पाया तब दिल में, जब सूत आया याद।।११।।

कोई तो सूत कातने के आँगन में मात्र सोती रहती हैं और जब उठती हैं तो उनमें नींद का आलस्य (खुमारी, नशा) बना रहता है। जब उन्हें सूत कातने की याद आती है, तो वे अपने मन में बहुत दुःखी होती हैं कि मैंने अपना सारा समय सोने में ही खो दिया।

भावार्थ– कुछ सुन्दरसाथ ऐसे हैं जो न तो तारतम वाणी का ज्ञान ग्रहण करते हैं, न सेवा, और न चितवनि। ऐसी अवस्था में वे मात्र नाम के ही सुन्दरसाथ कहलाते हैं। ज्ञान, श्रद्धा, समर्पण, एवं प्रेम से रहित होने के कारण वे आत्म–जाग्रति के पथ पर एक कदम भी नहीं चले होते। परिणाम स्वरूप, उनका अन्तिम समय प्रायश्चित के आँसुओं में ही बीतता है।

जिन दिल दे मिहीं कातियां, ढ़ील न करी एक पल।

सो ए उठी सैयन में, हंसते मुख उजल।।१२।।

जिन्होंने एक पल भी व्यर्थ किये बिना सच्चे हृदय से (मन लगाकर) प्रेम का महीन सूत काता, वे जब अपनी परात्म में उठेंगी तो सभी सखियों के बीच उनका मुख अत्यधिक उज्ज्वल और हँसता हुआ दिखायी देगा।

किनहूं ऊंचा कातिया, दे फारी फुकार।

सो ए घरों सैयन में, हुई धंन धंन कातनहार।।१३।।

किसी–किसी ने रुई पर मुख से पानी फुफकारते हुए बहुत अच्छा सूत काता। ऐसी सखियाँ परमधाम में अन्य सखियों के बीच में धन्य–धन्य हुईं।

भावार्थ– जिन्होंने प्रियतम के प्रति अपनी एकनिष्ठ श्रद्धा के साथ, विनम्रता और सहनशीलता की चादर ओढ़ते

हुए, धाम धनी के साथ सच्चा प्रेम किया, वे मूल तन में जाग्रत होने पर सबके मध्य धन्य–धन्य कहलायेंगी।

जब सूत सैयां देखिया, तब जाहेर हुईयां सब कोए।

पर जिन कछूए न कातिया, छिपाए रही मुख सोए।।१४।।

जिन सखियों ने प्रियतम के प्रेम का सूत काता, उनमें सबको एक–दूसरे के प्रेम रूपी सूत का बोध हुआ और वे सबमें विख्यात हो गयीं। किन्तु जिन्होंने कुछ भी सूत नहीं काता, वे लज्जा से अपना मुख छिपाये रहीं।

द्रष्टव्य– इस चौपाई से यह विशेष शिक्षा मिलती है कि जो धाम धनी से विशुद्ध प्रेम करेगा, यश उसका अनुचर होगा। उसे प्रतिष्ठा के लिये धन, संख्या, एवं पद के पीछे नहीं भागना पड़ेगा।

सूतवाली सोहागनी, तिन सोभा पाई घनी।

सैयां भी कहे धंन धंन, और दियो मान धनी।।१५।।

अपने प्राणवल्लभ के प्रेम का सूत कातने वाली सखियों को सर्वत्र ही (संसार तथा परमधाम में) बहुत शोभा मिली। अन्य सभी सखियों ने तो उन्हें धन्य–धन्य कहा ही, स्वयं अक्षरातीत ने भी उन्हें प्रेम भरा विशेष सम्मान दिया।

एक फेरे चरखा उतावला, दिल बांध तांत के साथ।

रातों भी करे उजागरा, सूत होवे तिनके हाथ।।१६।।

एक सखी चरखे को तेजी से घूमाती है, फिर भी उसका ध्यान सूत की गुणवत्ता तथा सुरक्षा के प्रति बना रहता है। इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये वह रात्रि के समय भी जागरण करती है और सूत कातती है। उस समय भी

उसके हाथ में सूत ही होता है।

भावार्थ– तारतम वाणी के अलौकिक ज्ञान को शीघ्रतापूर्वक ग्रहण करने के साथ–साथ, यदि रात्रि के समय चितवनि भी की जाये तो स्वर्ण में सुगन्धि की अवस्था हो जाती है। प्रेम पाने का एकमात्र मार्ग युगल स्वरूप एवं परमधाम की चितवनि ही है। ज्ञान और प्रेम का अद्भुत संगम हमारे जीवन को धन्य–धन्य कर देता है।

करे जो बातां बीच में, सो तांत ना निकसे तिन।

पूनी रही तिन हाथ में, बैठी फिरावे मन।।१७।।

सूत कातते समय जो सखियाँ बीच में बातें करती हैं, उसके हाथ से सूत कातने की प्रक्रिया नहीं हो पाती। वे अपने हाथों में मात्र पूनी ही पकड़े रहती हैं तथा बैठे–बैठे

अपने मन को संसार में चारों ओर घुमाती रहती हैं।

भावार्थ– जो सुन्दरसाथ तारतम ग्रहण करने के बाद, केवल कर्मकाण्डों के जाल में फँसे रहते हैं तथा अपने मन को युगल स्वरूप की शोभा में लगाने के स्थान पर सांसारिक सुखों में लगाये रखते हैं, वे प्रेम का रसपान नहीं कर पाते।

फजर हुई बीच सैयन में, मिल बातां करसी सब।

जिन कछुए न कातिया, तिन कहा हाल होसी तब।।१८।।

जब परमधाम में सखियों की मूल तनों में जाग्रति होगी, तो वे सभी आपस में बातें करेंगी। जिन्होंने धनी के प्रेम का कुछ भी सूत नहीं काता, उस समय लज्जा से उनकी मानसिक अवस्था क्या होगी?

भावार्थ– "फजर" का अर्थ प्रातःकाल होने से है,

अर्थात् आत्म–जाग्रति का वह प्रातःकाल जो रात्रि के अज्ञानमयी अन्धकार के समाप्त होने के पश्चात् होता है। तारतम ज्ञान के द्वारा इस संसार में अज्ञानमयी रात्रि का अन्धकार मिटने की बात कही गयी है, इसलिये इस जागनी लीला में तारतम वाणी के अवतरण की लीला को फजर की लीला कहते हैं। किन्तु उपरोक्त चौपाई में परमधाम में जाग्रत होने को भी फजर कहा गया है, क्योंकि आगे की चौपाई में दिन और रात्रि दोनों समय ही सूत कातने का प्रसंग है।

ना कछू कात्या रात में, ना कछू कात्या दिन।

सो वतन बीच सैयन में, मुख नीचा होसी तिन।।१९।।

जिन्होंने न तो रात में कुछ सूत काता (प्रेम किया या प्रेममयी चितवनि की) और न दिन के समय सूत काता,

वे जब मूल–मिलावे में अपने मूल तन में जाग्रत होंगीं तो अन्य सखियों के बीच में लज्जा से उनका शिर झुक जायेगा।

जो मोटा या बारीक, तिन भी पाया मोल।

पर जिन कछुए न कातिया, तिनका कछुए न सूल।।२०।।

भले ही किसी ने मोटा सूत काता हो और किसी ने पतला, किन्तु उन्हें इसका प्रतिफल परमधाम में अवश्य मिलेगा। विचारणीय तथ्य यह है कि जिन्होंने कुछ भी सूत नहीं काता, उनकी गरिमा की क्या स्थिति होगी।

भावार्थ– इस प्रकरण के उपरोक्त कथन से ये जिज्ञासायें उत्पन्न होती हैं–

१. हम धाम धनी से प्रेम किस प्रकार करें– शारीरिक रूप से सेवा करें, सेवा पूजा करें, वाणी का चिन्तन और

चर्चा करें, अंगना भाव से नृत्य–संगीत में लगें, भाव विह्वल होकर युगल स्वरूप के लिये आँसू बहायें, अथवा चितवनि करें?

२. प्रेम रूपी सूत कातने या न कातने के कारण यदि परमधाम में भी सम्मान मिलता है या हँसी होती है, तो क्या यह लौकिक जगत् के जैसी लीला नहीं है? ऐसी अवस्था में क्या एकत्व (वहदत) के सिद्धान्त पर प्रश्नचिन्ह खड़ा नहीं होता है?

३. यदि इस जागनी लीला में धनी से प्रेम करने का लाभ मात्र परमधाम में ही प्राप्त होना है, तो "ऊपर तले अर्स न कह्या, अर्स कह्या मोमिन कलूब" के कथन का औचित्य ही क्या है?

उपरोक्त जिज्ञासाओं के समाधान का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है–

१. परब्रह्म के हृदय का बहता हुआ रस ही प्रेम है, जो अनादि, अखण्ड, और निर्विकार है। जब आत्मा अपनी अन्तर्दृष्टि से अपने प्राणेश्वर को देखने लगे, तो उसे ही प्रेम कहा जा सकता है। "इस्क को ए लक्षण, जो नैनों पलक न ले" (क.हि. ७/९) का कथन यही संकेत कर रहा है।

इस अवस्था को किसी भी शारीरिक सेवा, सेवा पूजा, नृत्य–संगीत, या भावुकता भरे वचनों के आँसुओं से नहीं पाया जा सकता। अन्तःकरण की प्रेरणा से इन्द्रियों एवं शरीर द्वारा मात्र कर्मकाण्ड ही हो सकता है, प्रेम लक्षणा भक्ति नहीं। बर्हिमुखी नृत्य–संगीत, जिसका विकृत रूप आजकल कानफोडू संगीत के रूप में देवी जागरण की नकल के रूप में देखने को मिल रहा है, प्रेम लक्षणा भक्ति से कोसों दूर ले जा रहा है।

तारतम वाणी का चिन्तन–मनन मात्र ज्ञान की ओर ले जाता है, जो रजोगुण एवं तमोगुण की अवस्था में हृदय में शुष्कता और अहंकार पैदा करता है। मात्र सतोगुण की अवस्था में ग्रहण किया गया ज्ञान ही विरह की ओर ले जा सकता है, किन्तु यह साधन है, साध्य (प्रेम द्वारा साक्षात्कार) नहीं।

व्रज–रास की लीलाओं में सखियों के सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रेम का स्वरूप था, जो जागनी ब्रह्माण्ड में अप्रत्यक्ष रूप से है। इसलिये उस समय श्री कृष्ण जी के प्रति जो भावुकता भरी प्रेम–विह्वलता थी, आज उसे चितवनि के प्रारम्भिक चरणों में प्रयुक्त किया जा सकता है। उसे ही अन्तिम लक्ष्य मान लेना भारी भूल होगी।

चितवनि के क्षेत्र में भी मात्र प्रेममयी चितवनि ही हमें उस लक्ष्य तक पहुँचा सकती है, जिसमें परात्म के

श्रृंगारिक भावों के साथ युगल स्वरूप के अंग–प्रत्यंग की शोभा में स्वयं को डुबोया जाता है। यहाँ चर्चनी के महारथियों द्वारा की जाने वाली शुष्क ज्ञानमयी चितवनि भी प्रियतम के श्रृंगार एवं हृदय में डुबा नहीं सकेगी।

२. स्वलीला अद्वैत परमधाम में एक ही अक्षरातीत का हृदय सभी रूपों में क्रीड़ा कर रहा है , इसलिये वहाँ किसी के भी सम्मानित होने, अपमानित होने, या किसी की हँसी उड़ाए जाने जैसी कोई भी लीला नहीं हो सकती। क्या अक्षरातीत किसी ब्रह्मात्मा की हँसी उड़ाकर स्वयं अपनी ही हँसी करायेंगे?

तारतम वाणी में, किसी ब्रह्मात्मा का शिर गरिमा के साथ उठ जाने, किसी का शिर नीचा हो जाने, या किसी का शिर जागनी लीला में होने वाली भूलों के कारण हँसी किये जाने से लज्जित होने की, जो बातें कही गयी हैं, वे

सभी इस संसार के भावों में इस प्रकार व्यक्त की गयी हैं कि स्वलीला अद्वैत की प्रेममयी हास्य लीला को समझा जा सके।

३. "अर्स तन दिल में ए दिल, दिल अन्तर पट कछु नांहें" (श्रृंगार ११/७९) का यह कथन अक्षरशः सत्य है। जिस आत्मा ने माया के आवरण को हटाकर अपनी आत्मा के धाम हृदय में युगल स्वरूप सहित परमधाम का साक्षात्कार किया है, उसके लिये शरीर रहते ही सब कुछ अपने धाम हृदय में ही अनुभूत होता रहता है। भले ही उसका तन इस नश्वर जगत् में रहता है, किन्तु वह अपने भावों में परमधाम में ही विचरण कर रही होती है। "वह खेले प्रेमें पार पियासों, देखन को तन सागर मांही" का कथन यही दर्शाना चाहता है। जिन ब्रह्मसृष्टियों ने अपने प्रेम से चितवनि द्वारा धाम धनी को रिझाकर अपने

धाम हृदय में बसा लिया होता है, अन्य सुन्दरसाथ उन्हीं के अन्दर अपने प्रियतम की छवि खोजने लगते हैं। भला इस सृष्टि में इससे बड़ा सम्मान और क्या हो सकता है?

हुकम धनी के बिध बिध, अनेक किए पुकार।
जिन सुनी न तिनकी वतन में, बातें हुई बिकार।।२१।।

प्रियतम अक्षरातीत के आदेश (इच्छा) से अवतरित यह ब्रह्मवाणी सुन्दरसाथ को प्रेम की राह पर चलने के लिये अनेक प्रकार से बहुत अधिक पुकार कर रही है। जिन्होंने इस वाणी को अनसुना कर दिया और प्रेम की राह पर नहीं चले, वे निश्चय ही परमधाम में लज्जित होंगे, क्योंकि उन्होंने प्रेम–विवाद के समय धाम धनी को न भूलने का संकल्प लिया था, जो व्यर्थ सिद्ध हो गया।

भावार्थ– श्री राज जी का आवेश स्वरूप ही श्री

महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर हुक्म के रूप में तारतम वाणी का अवतरण कर रहा है। इसलिये तारतम वाणी की पुकार या हुक्म की पुकार में कोई अन्तर नहीं है।

सुनते पुकार धनीयकी, काल गया दिन ले।

पीछे मुख नीचा होएसी, क्यों न कात्या चित दे।।२२।।

धाम धनी के द्वारा पुकारे जाने पर भी जिन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया और प्रेम की राह पर नहीं चले, उनकी उम्र माया के बन्धनों में ही बीत जायेगी। जब उनकी आत्मा परमधाम में अपने मूल तन में जाग्रत होगी, तो इस बात के लिये उनका मुख नीचा होगा कि उन्होंने अपने हृदय में धनी के प्रति प्रेम क्यों नहीं लिया (सूत क्यों नहीं काता)?

जिनो आज न कातिया, करसी याद ए दिन।

जब बातां करसी सोहागनी, मिलकर बीच वतन।।२३।।

जिन्होंने इस जागनी लीला में धनी के प्रेम का सूत नहीं काता, जब वे परमधाम में अपने मूल तन में जाग्रत होंगी, तो बातें करते समय उन्हें अपनी इस भूल की याद आयेगी कि किस प्रकार वे जागनी लीला में धाम धनी को भूली रहीं।

जो कछुए न समझी, हाथ न लई पूनी।

आई थी उमेद में, पर उठी अलूनी।।२४।।

जिन आत्माओं ने तारतम वाणी के प्रकाश में भी अपने प्रियतम को कुछ नहीं पहचाना, वे अपने हाथों में पूनी कैसे धारण कर सकती हैं, अर्थात् वे बिना विश्वास के समर्पण कैसे कर सकती हैं? यद्यपि वे माया के खेल में

इस आशा के साथ आयी थीं कि अपने प्राणाधार के प्रेम में डूबी रहेंगी, किन्तु धनी से विमुख रहने के कारण जब वे अपने मूल तन में उठेंगी तो प्रियतम के प्रेम का सूत न कातने से वे स्वयं को खाली हाथ ही पायेंगी।

एक लेसी सोहाग सुलतान का, सोई सोहागिन।

सो बातां सिर उठाए के, करसी बीच सैयन।।२५।।

ऐसी भी सखियाँ होंगी, जिन्होंने एक सुहागिन होने का कर्त्तव्य पूरा किया होगा। वे इस खेल में अपने प्राणेश्वर के प्रेम में डूबी रहेंगी, जिसके परिणाम स्वरूप जब वे परमधाम में जाग्रत होंगी तो धनी का सुख लेंगी तथा अन्य सखियों के बीच शिर उठाकर गरिमा के साथ प्रेम की बातें करेंगी।

द्रष्टव्य– इस चौपाई के प्रथम चरण में "एक" शब्द

संख्याबोधक नहीं, अपितु भावबोधक है। धनी के प्रेम में न्योछावर होने वाली अनेकों सखियाँ हैं, इसलिये इस चौपाई के "एक" शब्द का भाव समूह बोध (अनेकों) से है। इस प्रकार की चौपाइयाँ इस प्रकरण में दसवीं तथा सोलहवीं हैं, और अगले प्रकरण मे २,३,४,५ और ८वीं हैं। सामान्यतः इनका अर्थ कोई या एक से अवश्य कर दिया जाता है, किन्तु ऐसा मात्र सम्बोधन के लिये है। निष्कर्ष यह है कि जिस एक को सम्बोधित किया जा रहा है, उस तरह की कई सखियाँ हैं।

प्रकरण ।।२५।। चौपाई ।।६१५।।

इस प्रकरण में यह बात दर्शायी गयी हैं कि ब्रह्मसृष्टियाँ इस मायावी जगत् में आकर क्या कर रही हैं।

भट परो नींद मोह की, जो टाली न टले क्यों।

आंखां खोल सीधा कहे, फेर वली त्यों की त्यों।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि इस अज्ञानमयी निद्रा को धिक्कार है, जो बार-बार प्रयास करने पर भी छूटती नहीं है। इससे उलझी हुई सखियाँ निद्रा का त्याग कर यदि आँखें खोलती हुईं कुछ करने का प्रयास भी करती हैं, तो मायावी नींद का इतना गहरा नशा होता है कि वह पुनः सो जाती हैं।

भावार्थ- यदि तारतम वाणी का प्रकाश पाकर, कोई ब्रह्मसृष्टि माया (लौकिक सुख का मोह, सांसारिक स्नेह-बन्धन, स्वयं की पद-प्रतिष्ठा) को छोड़कर धनी

से प्रेम करने के लिये जैसे ही कदम बढ़ाती है, वैसे ही वह पुनः पूर्व अवस्था में (माया में आसक्त) हो जाती है। ज्ञान तो मात्र पथ–प्रदर्शक है। माया का प्रेम छोड़कर धनी से प्रेम (चितवनि) करने पर ही माया छूट सकती है, अन्यथा नहीं।

एक तकला भाने ताओमें, फोकट फेरा खाए।

झगड़ा लगावे आप में, हिरदे रस न जुबांए।।२।।

एक सखी क्रोध में आकर अपने तकले को तोड़ देती है तथा व्यर्थ में घूमते–फिरते हुए अपने अनमोल समय को नष्ट करती है। वह अन्य सखियों के मध्य निरर्थक विवाद खड़े करती है। न तो उसके हृदय में प्रेम का रस होता है और न ही उसकी वाणी (जिह्वा, भाषा) में।

भावार्थ– चरखे के जिस भाग पर सूत लपेटा जाता है,

उसे तकला या टेकुआ कहते हैं। यदि चरखे से तकले को निकाल दिया जाये, तो चरखे का अस्तित्व और कार्य दोनों ही खतरे में पड़ जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और प्रेम का आधार विश्वास (तकला) है। जिस ब्रह्मसृष्टि का जीव तामसिक स्वभाव का होता है, वह अपने क्रोध और अहंकार की प्रवृत्ति के कारण सर्वत्र ही विवाद की स्थिति पैदा कर देता है। क्रोध में वह ज्ञान व प्रेम की नींव "विश्वास" को भी ध्वस्त कर देता है। परिणामतः उसका हृदय शुष्कता से भर जाता है।

एक तकले समारे और के, लर लर कतावे।

कहे अपनायत जान के, समया बतावे।।३।।

कुछ ऐसी भी सखियाँ होती हैं, जो दूसरों के डिगे हुए विश्वास (विकृत तकले) को ठीक कर देती हैं, तथा मूल

सम्बन्ध के अपनेपन से प्रेम की नोंक–झोंक भी कर लेती हैं, तथा धनी के प्रेम का सूत कातने के लिये विवश करती हैं। इसके अतिरिक्त उसे जागनी लीला के इस अनमोल समय का महत्व भी बताती हैं।

एक झगड़ा लगावे और को, सामी तकले डाले वल।

ए बातें होसी वतन में, जब उतर जासी अमल।।४।।

ऐसी भी सखियाँ होती हैं, जो किसी का किसी से झगड़ा करा देती हैं, या उसके सामने ही उसके तकले को टेढ़ा कर देती हैं अर्थात् उसके विश्वास को डगमगा देती हैं। परमधाम में जाग्रत होने पर सखियों के बीच में सारी बातें होगी। उस समय किसी के ऊपर माया का नाम मात्र भी प्रभाव नहीं होगा।

एक औरों को उलटावहीं, कहा बिध होसी तिन।

कातना उन पीछा पड़या, सामी धके दिए औरन।।५।।

कुछ ऐसी भी सखियाँ हैं, जो अन्य सखियों को तारतम वाणी के चिन्तन एवं चितवनि के विरूद्ध उल्टे मार्ग (कर्मकाण्ड) में लगा देती हैं। ऐसा करने वाली सखियों की स्थिति क्या होगी? उनके बहकाने से अन्य सखियाँ स्वयं तो प्रेम का सूत कातना बन्द ही कर देती हैं, अन्य को भी अपनी राह में सम्मिलित कर लेती हैं।

भावार्थ– इस चौपाई में धक्का देने का आशय बहकाकर पतन की गर्त में गिराने से है। अपने शब्दजाल से सम्मोहित करके किसी को चितवनि की राह से हटाना बहुत बड़ा अपराध है। इस प्रकार का कुतर्क केवल नादान लोग ही दे सकते हैं कि चितवनि करने से मृत्यु हो सकती है, क्योंकि अनन्त तेजोमय श्री राज जी को कैसे

देखा जा सकता है, या छठें दिन की लीला में कैसे दर्शन हो सकता है? उन मन्दभाग्य सुन्दरसाथ से प्रश्न है कि यदि चितवनि करने से शरीर छूट सकता है, तो श्री देवचन्द्र जी, श्री मिहिरराज जी, एवं महाराजा छत्रशाल जी का क्यों नहीं छूटा? क्या वे चितवनि नहीं करते थे? यदि छठें दिन की लीला में दर्शन नहीं हो सकता , तो परमहंस महाराज श्री रामरतन दास जी को दर्शन क्यों हुआ? वे भी तो रात–रात भर चितवनि करते थे। उनका शरीर क्यों नहीं छूटा?

जो झगड़ा लगावें आपमें, ताए होसी बड़ो पछताप।

ओ जानें कोई ना देखहीं, पर धनी बैठे देखें आप।।६।।

जो सुन्दरसाथ में निरर्थक विवाद पैदा करती हैं, उसे अन्ततोगत्वा बहुत अधिक पश्चाताप के आँसू बहाने

पड़ेंगे। अधार्मिक (अशुभ) कार्यों को करते समय वह यही सोचती है कि भला वह कौन है, जो मेरे इन कार्यों को देख रहा है? किन्तु उसे यह बात अच्छी तरह से विदित होनी चाहिए कि धाम धनी की दिव्य–दृष्टि उसके एक–एक कार्य पर है।

बात उठावें जो मन से, सो होसी सबे वतन।

एक जरा छिपी ना रहे, यों कोई भूलो जिन।।७।।

किसी के मन में जो भी बात होती है, उसकी चर्चा परमधाम में अवश्य होगी। कोई भी अपने मन की रंचमात्र भी बात छिपा नहीं सकेगा, इसलिये कोई भी अपने धाम धनी को न भूले (उनके प्रेम का सूत कातता रहे)।

एक काते मांहें चुपकतियां, सो ताने सहे औरन।

तांत चढ़ावे तलबें, नजर ना चूके खिन।।८।।

कुछ सखियाँ चुपचाप प्रियतम के प्रेम में डूबी रहती हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें ईर्ष्यालु सखियों के व्यंग्यात्मक वचन सुनने पड़ते हैं। किन्तु इन सब बातों की उपेक्षा करके वे तीव्र इच्छा से एकमात्र प्रेम रूपी सूत कातने तथा उसे तकले पर चढ़ाने में ही लगी रहती हैं। उनकी दृष्टि क्षण भर के लिये भी इस कार्य से नहीं हटती, अर्थात् वे पल भर के लिये भी प्रियतम के प्रेम से स्वयं को अलग नहीं करती हैं।

ताए होसी मान धनीयको, साथ मिने रंग लाल।

उठसी हंसती हरखमें, पाँउ दे पड़ताल।।९।।

धनी के प्रेम में मग्न रहने वाली ऐसी सखियों को धाम

धनी और सुन्दरसाथ से सम्मान तथा प्रेम मिलेगा। अपने मूल तनों में, प्रसन्नता के आवेग में, पैरों से नृत्य की पड़ताल (ठोकर) देकर हँसते हुए उठेंगी।

हाथ घससी हाथसो, जो लई इंद्रियों घेर।

सो पछतासी आंखां खुले, पर ए समया न आवे फेर।।१०।।

जो सखियाँ धनी के प्रेम से विमुख होकर मात्र इन्द्रियों के सुखों में ही लिप्त रहीं , वे हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठी रहीं अर्थात् निष्क्रिय बनी रहीं। परिणाम स्वरूप, वे प्रियतम के प्रेम का सूत न कात सकी। परात्म में जाग्रत होने पर वे अत्यधिक पश्चाताप करेंगी। किन्तु धाम धनी से प्रेम का सूत कातने का अवसर उन्हें पुनः दुबारा नहीं मिलने वाला है।

भावार्थ– परमधाम में प्रेम का विलास है। इस जागनी

ब्रह्माण्ड में ही प्रेम की वास्तविक परीक्षा हो रही है कि कौन ब्रह्मसृष्टि अपने प्राण जीवन अक्षरातीत से कितना प्रेम कर सकती है?

जो इत आंखां खोलसी, ले इस्क या विचार।

सो करसी बातें बिध बिध की, सब सैयों में सिरदार।।११।।

जो इस जागनी लीला में तारतम वाणी के चिन्तन एवं प्रेम के द्वारा अपनी अन्तर्दृष्टि खोलेंगी, अर्थात् अपनी आत्मा को जाग्रत करेंगी, वे परात्म में जाग्रत होने पर प्रेम तथा आनन्द की अनेक प्रकार की बातें करेंगी। ऐसी ब्रह्मसृष्टियाँ सबमें प्रमुख मानी जायेंगी।

जिन इत आंखां ना खोलियां, करके बल बेसुमार।

नींद उड़ाए ना सकी, सो ले उठसी खुमार।।१२।।

जिन्होंने अपने आत्मिक बल, ज्ञान, तथा प्रेम की असीम शक्ति का उपयोग करके माया की नींद का परित्याग नहीं किया और अपनी अन्तर्दृष्टि नहीं खोली, वे जब अपनी परात्म के तनों में जाग्रत होंगी तो उस समय भी उनके मुख पर नींद के आलस्य (खुमारी) जैसा भाव झलकेगा।

भावार्थ– गहरी नींद से उठते ही व्यक्ति कुछ समय के लिये स्वयं को भूला रहता है तथा प्रयास करने पर भी आँखों से न तो स्पष्ट देख पाता है और न किसी चिन्तन में सक्रिय हो पाता है। यह अवस्था खुमारी कहलाती है। जो सुन्दरसाथ इस जागनी लीला में अपनी आत्मा को जाग्रत नहीं कर पायेंगे, वे जब अपने मूल तन में जाग्रत होंगे, तो उनके मुख पर ऐसा भाव झलकेगा जैसे कि वे किसी गहरी नींद को छोड़कर उठे हों।

इसके विपरीत जाग्रत आत्मायें अपने प्रियतम के समक्ष मुस्कुराती हुई ऐसे उठेंगी जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। ऐसा इसलिये होगा क्योंकि उन्होंने माया के खेल में भी अपने धाम धनी को पा लिया था।

इस प्रकार की विभिन्न अनुभूतियों के होने पर भी एकत्व (वहदत) के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि इस खेल में सबने अलग –अलग प्रकार की अनुभूति की है और उसी का प्रभाव परात्म में जाग्रत होने पर रहेगा।

जिन इत उड़ाई नींदड़ी, सो उठत अंग रोसन।

केहेसी कातनहार को, विध विध के वचन।।१३।।

जिन्होंने इस खेल में अपनी मायावी नींद को समाप्त कर दिया है, जब वे अपनी परात्म में जाग्रत होंगी तो उनके

अंग में प्रेम, आनन्द, और प्रसन्नता भरी होगी। वे धनी का प्रेम रूपी सूत कातने वाली अन्य सखियों से तरह–तरह की बातें करेंगी।

जो उठसी आंखां चोलती, सो केहेसी कहा वचन।

ना तो आई थी उमेद देखने, पर नींद ना गई तिन।।१४।।

जो सखियाँ परमधाम में अपनी आँखों को मलते हुए उठेंगी, वे अन्यों से जागनी लीला में धनी के प्रति अपने प्रेम के विषय में क्या कहेंगी? यद्यपि वे इस संसार में माया का खेल देखने और अपने प्रेम को बड़ा सिद्ध करने की इच्छा से ही आयी थीं, किन्तु उनके ऊपर माया का इतना प्रभाव पड़ा कि वे माया की नींद में होने से अपनी अन्तर्दृष्टि को नहीं खोल सकी।

सुनो सैयां कहे इंद्रावती, तुम आईयां उमेद कर।

अब समझो क्यों न पुकारते, क्यों रहियां नींद पकर।।१५।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! आप सभी मेरी यह बात सुनिए। आप माया का खेल देखने एवं अपने प्रेम को बड़ा सिद्ध करने की इच्छा लेकर इस संसार में आये हैं। आपको जाग्रत करने के लिये स्वयं धाम धनी ही तारतम वाणी के द्वारा पुकार रहे हैं, किन्तु आप धनी के प्रेम तथा संसार की नश्वरता को क्यों नहीं समझ पा रहे हैं? आप माया की नींद में इतने अधिक क्यों उलझे (सोए) हुए हैं?

तुम वतन में धनीयसों, क्यों करसी बात अंधेर।

रेहेसी उमेदां मन में, ए न आवे समया और बेर।।१६।।

यदि आपने इस मायावी जगत् में धनी के प्रेम का सूत

नहीं काता, तो परमधाम में जाकर अपने प्राणेश्वर से क्या बातें करेंगे? यदि आपने यहाँ अपना प्रेम न दर्शाया, तो आपकी परमधाम में की गयी इच्छा अधूरी ही रह जायेगी। ऐसा स्वर्णिम अवसर पुनः कभी भी आपको प्राप्त नहीं होगा।

भावार्थ– सखियों ने परमधाम में अपने प्रेम को बड़ा समझा था, जो विवाद (रब्द) का कारण बना। उनमें यह भावना बहुत ही प्रबल थी कि हम धाम धनी को माया में किसी भी स्थिति में नहीं भूल सकती हैं। यह तभी सम्भव है, जब उनका प्रेम प्रकट हो। उपरोक्त चौपाइयों में अपने प्रेम की महत्ता को सिद्ध करना ही उनकी वास्तविक इच्छा है। माया का खेल तो सभी देख ही रही हैं।

कातने को उतावलियां, आईयां मिलकर तुम।

अब झूलो रहियां नींद में, कातना भूल खसम।।१७।।

हे साथ जी! आप सभी अपने प्रेम की गरिमा को सिद्ध करने, अर्थात् इस मायावी संसार में भी धनी से प्रेम करने, की व्यग्रता (उतावलापन) लेकर आये हैं। अब प्रियतम से प्रेम करना छोड़कर माया की गहरी नींद में सो रहे हैं (लौकिक आकर्षणों के बन्धन में बँध गये हैं)।

धनी आए जगावहीं, कहे कहे अनेक सनंध।

नींदे सब भुलाइयां, सेवा या सनमंध।।१८।।

हे साथ जी! मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर स्वयं प्रियतम अक्षरातीत तारतम वाणी को अनेक प्रकार से (अलग–अलग ग्रन्थों में) व्यक्त करके सबको जगा रहे हैं। किन्तु माया की नींद ने आपके हृदय से यह बात

विस्मृत कर दी है कि श्री राज जी से हमारा क्या सम्बन्ध है और हमें उन्हें कैसे रिझाना चाहिए?

ए जिमी लगसी आग ज्यों, जब धनी चले घर।

वचन पिउ के लेयके, इत क्यों न जागो मांहें अवसर।।१९।।

जब धाम धनी निजधाम जायेंगे तो यह धरती आग के समान कष्टकारी लगने लगेगी। आपके जाग्रत होने का यही सुनहरा अवसर है, इसलिये तारतम वाणी में निहित प्रियतम के वचनों को आत्मसात् करके आप जाग्रत क्यों नहीं हो जाते हैं?

भावार्थ– निज घर का तात्पर्य मात्र बेहद से परे नूरमयी परमधाम ही नहीं, बल्कि आत्माओं का धाम हृदय भी होता है। यदि धाम धनी को महामति जी का तन छोड़कर परमधाम जाना ही मानें, तो ब्रह्मसृष्टियों को भी

परमधाम जाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्ड का भी प्रलय मानना पड़ेगा। जब पृथ्वी लोक और ब्रह्मसृष्टियाँ ही नहीं रहेंगी, तो चौपाई के पहले चरण "ए जिमी लगसी आग ज्यों" का कथन ही निरर्थक होगा।

वस्तुतः यह प्रसंग उस समय का है, जब अक्षरातीत श्री महामति जी के धाम हृदय में प्रत्यक्ष रूप से विराजमान होकर लीला कर रहे हैं तथा उन्हें अपनी सम्पूर्ण शोभा दे रखी है। यदि यह कहा जाये कि जिस प्रकार छठें दिन की लीला में वे सब सुन्दरसाथ के धाम हृदय में गुह्य रूप में विद्यमान हैं, तो क्या पाँचवे दिन की लीला में भी वे सबके धाम हृदय में विराजमान नहीं थे?

इसके समाधान में यही कहना उचित होगा कि अक्षरातीत प्रत्येक काल (परमधाम, व्रज–रास–जागनी) के सभी दिनों– चौथे, पाँचवे, तथा छठें दिन– की लीला

में समान रूप से अव्यक्त रूप में विराजमान रहे हैं, किन्तु माया के प्रभाव से अनुभूति का स्तर अलग–अलग अवश्य है।

उपरोक्त चौपाई का आशय यह है कि श्री महामति जी के तन से अन्तर्धान होने के पश्चात् धाम धनी सुन्दरसाथ के धाम हृदय में अव्यक्त रूप से विराजमान होकर जागनी लीला करने लगे। "इन गुन्हेगारों के दिल को, अर्स कर बैठे मेहेरबान" (खुलासा ३/७०) का कथन इसी ओर संकेत कर रहा है। जो सुन्दरसाथ पाँचवे दिन की लीला में श्री जी को प्रत्यक्ष रूप से अक्षरातीत मानकर रिझाया करते थे, वे उन्हें प्रत्यक्ष रूप से न पाकर विरह की अग्नि में जलने लगे। इसी सन्दर्भ में इस चौपाई का पहला चरण "ए जिमी लगसी आग ज्यों" कहा गया है। यद्यपि छठें दिन की लीला में भी श्री अक्षरातीत श्री महामति जी

के धाम हृदय में प्रत्यक्ष रूप से विराजमान हैं, किन्तु सुन्दरसाथ को पाँचवें दिन की लीला जैसा सुख (एक बन्दगी का हजार गुना फल) प्राप्त नहीं हो पा रहा है। इसलिये पाँचवें दिन की लीला को जागनी का स्वर्णिम काल कहा गया है, जिसमें सुन्दरसाथ ने अक्षरातीत को एक पञ्चभौतिक तन में प्रत्यक्ष रूप से लीला करते हुए देखा।

भट परो इन नींद को, ए ठौर बुरी विखम।

यों जगावते न जागियां, तो कौन विध होसी तिन।।२०।।

माया की इस नींद को धिक्कार है, जिसने अपनी विषाक्तता से इस संसार को रहने योग्य नहीं रखा है। धाम धनी के द्वारा इस प्रकार बारम्बार जगाये जाने पर भी जो जाग्रत नहीं हो रहे हैं, उन्हें यह सोचना होगा कि

परमधाम में जाग्रत होने पर उनकी क्या स्थिति होगी।

तुम देखो भांत धनीय की, कई विध करी चेतन।

सबों सुनाए कहे इंद्रावती, जागो चलो वचन।।२१।।

सबको सम्बोधित करती हुई श्री इन्द्रावती जी कह रही हैं कि हे साथ जी! आप अपने प्राणवल्लभ अक्षरातीत की इस प्रेममयी लीला को तो देखिए कि उन्होंने अनेक प्रकार से (दो तनों में विराजमान होकर) आपको बारम्बार माया से सावचेत किया है। अब आप जाग जाइये तथा इस मायावी जगत् को छोड़कर परमधाम चलिये।

साहेब मांहे बैठ के, बतावत हैं ठौर।

सो घर तुमको देखाइया, जहां नहीं कोई और।।२२।।

प्रियतम अक्षरातीत मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर तारतम वाणी के द्वारा आपको अपने मूल घर परमधाम की पहचान करा रहे हैं, जहाँ युगल स्वरूप और हमारे अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है।

प्रकरण ।।२६।। चौपाई ।।६३७।।

इस प्रकरण में श्री इन्द्रावती ने स्वयं के प्रति कथन करके परोक्ष रूप में सुन्दरसाथ को प्रेम रूपी सूत कातने की सीख दी है।

अब तूं जिन भूल आतम मेरी, पेहेचान के खसम।
वचन देखाया अपना, जिन छोड़े पिउ कदम।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे मेरी आत्मा! अब तूने अपने प्राणवल्लभ की पहचान कर ली है, इसलिये अब तू किसी भी प्रकार की भूल नहीं करना। प्रियतम ने तुझे मूल घर (परमधाम) की पहचान भी करा दी है। ऐसी अवस्था में तू श्री राज जी के चरण कमलों को न छोड़।

वचन कहे बड़े मुखथें, पर तूं तो समया न भूल।
तूं कात बारीक धनीय का, ए तातें पावेगी मूल।।२।।

परमधाम में होने वाले प्रेम–संवाद के समय तूने अपने प्रेम की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में बड़ी–बड़ी बातें की थी। यद्यपि अन्य ब्रह्मसृष्टियाँ भूली हुई हैं, किन्तु तू तो इस स्वर्णिम अवसर को हाथ से जाने (खोने) की भूल न कर। तू अपने प्रियतम के निर्मल प्रेम का पतला सूत कात। इन बारीक सूत का ही तुझे वास्तविक मूल्य मिलेगा अर्थात्, यदि तूने अपने प्राणेश्वर के प्रति एकनिष्ठ और समर्पण से भरा सच्चा प्रेम किया तो, तू सबके बीच धन्य–धन्य हो जायेगी।

अजूं तें पाओ न कातिया, इत चाहिएगा सेर भर।

जब उठेगी आतन से, तब बहुरि चाहेगी अवसर।।३।।

स्वयं को प्रेम की कसौटी पर खरा सिद्ध करने लिये सेर भर (वर्तमान १ किग्रा से ६६ ग्राम कम) सूत चाहिये,

किन्तु तूने तो अभी तक पाव भर (लगभग २५० ग्राम) ही सूत काता है। जब तू सूत कातने के लिए आँगन से उठेगी, अर्थात् इस खेल को छोड़कर अपनी परात्म में जाग्रत होगी, उस समय सूत की कमी से तुम्हारे मन में यह इच्छा होगी कि पुनः एक बार एक कि.ग्रा. सूत कातने का अवसर मिल जाता, धनी के प्रति अपने प्रेम को पुनः व्यक्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता।

ए जो गमाए दिनड़े, गफलत में जो गल।

अब तोको उठन के, आए सो दिनड़े चल।।४।।

मेरी आत्मा! आज दिन तक तू अपना अनमोल समय अज्ञानता की नींद में सोते हुए बिताती रही है। अब वह समय आ गया है कि तू माया की नींद को छोड़कर अपनी आत्मा को जाग्रत कर ले। इसके पश्चात् तेरे लिये

परमधाम चलने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

जो तूं उठी काते बिना, आए इन अवसर।

कहा करेगी इन नींद को, जो ले चलसी घर।।५।।

यदि इस स्वर्णिम अवसर को पाने के पश्चात् भी तूने प्रेम का सूत नहीं काता और मूल तन परात्म में जाग्रत हो गयी, तो यह बताओ कि जिस माया में लिप्त रही हो उससे तुम्हें क्या प्राप्त होने वाला है? घर पहुँचने पर तुम्हारे तनों में माया में लिप्त होने की झलक का आभास हो ही जायेगा।

भावार्थ– यद्यपि परमधाम में माया का नाममात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता, किन्तु जो आत्मायें माया में डूबकर धाम धनी से प्रेम नहीं करेंगी, वे परात्म में जाग्रत होने पर हँसी और लज्जा का शिकार होंगी, जिसकी

पहचान उनके मुख से होगी। इसे ही आलंकारिक भाषा में माया का परमधाम में पहुँचना कहा गया है।

अजूं न जागे जोर कर, जो ऐसी तुझ पर भई।
धनी आए बेर दूसरी, तेरी सुध ऐसी क्यों गई।।६।।

मेरी आत्मा! इस समय तुझे क्या हो गया है, जो तू अपनी शक्ति लगाकर जाग्रत नहीं हो पा रही है। तुझे जगाने के लिये प्रियतम ने पहले तन को छोड़कर दूसरे (तुम्हारे) तन में प्रवेश किया हुआ है। किन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस सत्य को समझने की क्षमता ही तुममें नहीं रह गयी है (समझ चली गयी है)।

भावार्थ– जाग्रत होने के पश्चात् ही धाम धनी उस तन में व्यक्त (प्रत्यक्ष) रूप से लीला करते हैं, किन्तु इस चौपाई में सुन्दरसाथ को सीख देने के लिये ही यह बात परोक्ष

रूप से कही गयी है कि धाम धनी तुम्हें जगाने के लिये आये हैं। वास्तविकता तो यह है कि सब सुन्दरसाथ को जगाने के लिये ही वे श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान होकर तारतम वाणी का अवतरण कर रहे हैं।

कर सीधा समार तकला, कस कर बांध अदवान।

दे गांठ माल मरोर के, पूनी लगाए के तान।।७।।

तू अपने तकले को व्यवस्थित करके सीधा रख, तथा गोलाकार चक्र में रस्सी को जोर से बाँध जिससे उसके घूमने में किसी भी प्रकार की बाधा न हो। रुई की पूनी को तकले से लगाकर सूत को खींच तथा तकले की डोरी में इस प्रकार गाँठ लगा कि आगे कातते समय वह खुले नहीं।

भावार्थ– वह डोरी जिससे चरखे का तकला घूमता है,

माल कही जाती है।

फेर तूं चरखा उतावला, करके अंग कूवत।

तूं लेसी सोहाग धनीय को, तेरे बारीक इन सूत।।८।।

तू अपने हाथों में शक्ति भरकर तेजी से चरखे को चला, अर्थात् शीघ्रता से तारतम ज्ञान को प्राप्त कर धनी की पहचान कर। ऐसा करके यदि तू प्रेम का पतला (सुन्दर) सूत कातेगी, तो निश्चय ही प्रियतम के प्रेम का सुख प्राप्त होगा।

ए रेहेसी अधबीच कातना, दिन आए समें करे भंग।

तुझ देखत सैयां चलियां, जो हुती तेरे संग।।९।।

यदि सूत कातने के इस अनमोल समय को तुमने आलस्यवश नष्ट किया, तो तुम्हारे सूत कातने का काम

अधूरा ही रह जायेगा। क्या तुझे इस बात का ध्यान नहीं है कि अब तक जो भी सखियाँ तुम्हारे साथ थीं, वे अपना–अपना सूत कातकर इस आँगन से चली गयीं और तू अभी तक निष्क्रिय होकर बैठी हुई है।

भावार्थ– इस चौपाई में सखियों को विशेष रूप से यह शिक्षा दी गयी है कि इस जागनी ब्रह्माण्ड का पल–पल अनमोल है। यदि हम आलस्यवश अपनी आत्म–जाग्रति के लिये प्रेममयी चितवनि का मार्ग नहीं अपनायेंगे , तो अन्ततोगत्वा पश्चाताप के ही आँसू बहाने पड़ेंगे।

अब हिंमत करके कात तूं, दिल बांध सूत के साथ।
ए मिहीं सूत सोहाग का, सो होसी तेरे हाथ।।१०।।

मेरी आत्मा! अब तू अपने हृदय में एकमात्र सूत कातने का ही लक्ष्य ले और साहस करके धैर्यपूर्वक सूत कात।

यदि तू ऐसा करती है, तो निश्चित रूप से तेरे हाथों में प्रियतम के प्रेम का अति सुन्दर (महीन) सूत होगा।

अब नींद करे जिन तूं, ए नींद देवे दुहाग।

उठ तूं जाग जोर कर, दौड़ ले पिउ सोहाग।।११।।

यदि तू माया की इस निद्रा में सोती ही रहेगी, तो तुम्हें दुःख देखना पड़ेगा। अतः अब तुम्हें नाममात्र के लिये भी मायावी नींद के वशीभूत नहीं होना है। तारतम वाणी के प्रकाश में प्रियतम की पहचान करके तू जाग्रत होकर उठ जा और समर्पण की सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इस प्रकार यत्नशील रह कि तुझे प्राणेश्वर का अखण्ड प्रेम प्राप्त हो सके।

ए सूत है अति सोहना, मोल मोहोंगा होसी एह।

तूं पेहेचान पिउ अपना, वार फेर जीव देह।।१२।।

तू अपने सर्वस्व, प्राण जीवन अक्षरातीत की पहचान कर और अपने इस शरीर तथा जीव को उनके ऊपर बारम्बार न्योछावर कर दे। यदि तू ऐसा समर्पण कर देती है, तो तेरे हाथों में प्रेम का अति सुन्दर सूत विद्यमान रहेगा, जिसका मूल्य बहुत अधिक होगा।

भावार्थ– प्रेम इतना अनमोल है कि लौकिक धन से उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उपरोक्त चौपाई में प्रेम रूपी सूत का महंगे मूल्य पर बिकने का आशय है– परात्म में जाग्रत होने पर सबकी दृष्टि में अति गरिमामयी स्थान प्राप्त करना। यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यहाँ गरिमा का आशय लौकिक गरिमा नहीं है, बल्कि मायावी जगत् में धनी से प्रेम करने के कारण, परमधाम

में हँसी के स्थान पर सबके हृदय से छलकने वाले प्रेम की मिठास ही गरिमा है।

अब ले स्याबासी सैयन में, कर तूं ऐसी भांत।

एह मिहीं सूत सोहाग का, सो रात दिन ले कात।।१३।।

मेरी आत्मा! अब तू ऐसा कर कि दिन-रात अपने प्रियतम के प्रेम का अति सुन्दर महीन सूत कात (प्रेममयी भावों में डूबी रह)। यदि तू ऐसा कर लेती है, तो परात्म में जाग्रत होने पर तुझे अन्य सखियों से वाहवाही प्राप्त होगी (धन्य-धन्य उद्घोष होगा)।

प्रकरण ।।२७।। चौपाई ।।६५०।।

स्वयं को सम्बोधित करती हुई श्री इन्द्रावती जी कहती हैं।

भोरी तूं न भूल इंद्रावती, ऐसा पिउ का समया पाए।

तूं ले धनी अपना, औरों जिन देखाए।।१।।

प्रियतम को रिझाने का ऐसा स्वर्णिम अवसर पाकर हे इन्द्रावती! तू भोलेपन में कोई भूल न कर बैठना। तू अपने प्राणवल्ल्भ को अपने हृदय धाम में पल–पल बसाये रख और अपनी इस सफलता का ढिंढोरा मत पीट। तू सबसे यह मत कहती फिर कि देखो! मैंने अपने हृदय में अपने प्रियतम को बसा लिया है।

भावार्थ– अपनी आध्यात्मिक सफलता को अपने ही मुख से प्रचारित करना अहम् भावना को उत्पन्न करता है, जो प्रेम की धवल चादर में कालिमा के रूप में

दृष्टिगोचर होती है। यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक क्षेत्र के लिये घातक होती है। यही कारण है कि इस चौपाई के चौथे चरण में इस प्रकार का कथन किया गया है।

तोहे यों धनी कब मिलसी, पेहेचान के ले सोहाग।

ऐसी एकांत कब पावेगी, अब है तेरा लाग।।२।।

इस समय धाम धनी जिस प्रकार तुझे मिले हैं, भला ऐसे कब मिलने वाले हैं। तू उनकी पहचान कर आत्मिक सुख ले। इतना एकान्त भला अब तुझे कब प्राप्त होने वाला है? अब तुम्हारे लिये यह अनुपम अवसर है।

भावार्थ– व्रज–रास में अक्षरातीत की लीला उस तन में हो रही थी, जिसे अक्षर ब्रह्म ने धारण किया था। श्री देवचन्द्र जी के तन को भी श्यामा जी ने धारण किया था। इन लीलाओं में प्रेम के लिये कुछ न कुछ दूरी थी।

किन्तु इस समय श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में ही साक्षात् युगल स्वरूप विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। इसे ही एकान्त की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि इसमें श्री इन्द्रावती जी सामने कोई भी बाधा रूपी दूरी नहीं रह गयी है।

बोहोत बखत भला पाइया, धनिऐं दियो तुझे आप।

मेहेर करी मेहेबूबें, करके संग मिलाप।।३।।

प्रियतम अक्षरातीत ने स्वयं ही तुझे यह बहुत सुन्दर अवसर प्रदान किया है। वे हब्शे में तुझसे मिले और तुम्हारे धाम हृदय में विराजमान होकर ऐसी अनमोल कृपा कर रहे हैं।

आंखां खोल के ढांपिए, जिन चूके एती बेर।

रात दिन तेरे राज का, सूत कात सवा सेर।।४।।

मेरी आत्मा! अपनी आँखों को खोलकर बन्द करने में जितना समय लगता है, उतने समय के लिये भी प्रियतम को अपनी अन्तर्दृष्टि से अलग करने की भूल न कर। इस प्रकार तू दिन–रात अपने प्रियतम श्री राज जी को अपने हृदय सिंहासन पर बिठाकर देखती रह। ऐसा करके तू सवा सेर (एक किलो २५० ग्राम से ८३ ग्राम कम) सूत कात लेगी।

भावार्थ– निद्रा, भोजन, तथा अन्य लौकिक कार्यों में संलग्न होने के कारण व्यावहारिक रूप में यह सम्भव नहीं होता कि हर पल युगल स्वरूप के ध्यान में ही रहा जाये। वस्तुतः यह अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा है। युक्ताहार–विहार के साथ यदि मन को विषयों (माया) में

न जाने दिया जाये तथा शेष समय स्वयं को प्रियतम के प्रेम में डुबोया जाये, तो इसे ही "पल–पल प्रेममयी ध्यान में डूबे रहना" कहा जा सकता है।

नेह कर तूं नैनों से, और चसमें से कताए।

मिहीं सूत ले उजला, आओ आंखें कर पाए।।५।।

तू अपने नेत्रों में प्रियतम का प्रेम भर ले। उसके किनारों से प्रेम के बाण चलाकर प्रेम का सूत कात। ऐसा करके तू प्रेम का अत्यधिक उज्ज्वल (पवित्र) और महीन (अखण्ड) सूत प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार अपनी आँखों में प्रियतम की छवि बसाकर परमधाम आ।

भावार्थ– चश्मा फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ जल का स्रोत (झरना आदि) या उपनेत्र (ऐनक) होता है, किन्तु जिस समय तारतम वाणी का अवतरण हुआ

उस समय चश्मा प्रयोग में नहीं था। स्पष्ट है कि चौपाई में "चश्मे" शब्द का प्रयोग चश्मा (eye glasses) के लिये करना उचित नहीं है।

वस्तुतः यह शब्द चश्मक है, जिसका अर्थ होता है नेत्रों के किनारे से। यह तो सर्वविदित है कि नेत्रों के किनारों से ही प्रेम के संकेत रूपी बाण चला करते हैं। इस प्रकार नेत्रों के किनारों से प्रेम का सूत कातने का आशय है – अपने नेत्रों अर्थात् हृदय में प्रेम भरकर युगल स्वरूप एवं परमधाम की चितवनि करना।

भले कात्या इन सूत को, भला पाया ए बखत।

भले सो भागी नींदड़ी, भले मिले धनी इत।।६।।

यह कितना अच्छा हुआ कि तुझे इस जागनी ब्रह्माण्ड में अपने प्रियतम को रिझाने का सुन्दर समय मिला और

तूने इसका लाभ उठाकर धनी के प्रति प्रेम का सुन्दर सूत काता। यह भी बहुत अच्छा हुआ कि प्राणेश्वर अक्षरातीत तुझे मिल गये (तेरे धाम हृदय में विराजमान हो गये) और तुम्हारे ऊपर माया के आवरण (नींद) का भी कोई प्रभाव नहीं रहा।

धनी बिना ए नींदड़ी, टाल ना सके कोई और।

वार डारों जीव देह सों, मोहे धनी मिले इन ठौर।।७।।

यह तो पूर्णतया सत्य है कि प्रियतम अक्षरातीत के बिना इस मायावी नींद को कोई भी हटा नहीं सकता। इस संसार में मेरे प्राणवल्लभ अब मुझे प्राप्त हो गये हैं। मैं उनपर अपने शरीर और जीव को पूर्ण रूप से न्योछावर करती हूँ।

सई मेरी मुझ कारने, पिउजी दिए इत पाए।

मैं वारूं तिन पर आतमा, धनी आए जिन राहे।।८।।

मेरी सखी रतन बाई (बिहारी जी)! मेरे प्राणेश्वर मुझे जगाने के लिये इस संसार में श्री देवचन्द्र के हृदय में विराजमान हुए। जिस मार्ग पर उनके चरण कमल पड़े हैं, मैं उन पर अपनी आत्मा समर्पित करती हूँ।

भावार्थ– अपने प्रेमास्पद के चरण कमल जिस मार्ग पर पड़े, उस पर भी स्वयं को न्योछावर करना समर्पण और प्रेम का अति गहन रूप है।

सई तूं मेरा धनी ले बैठी, कोई और न देखनहार।

देख तूं पिउ लेऊं अपना, तो तूं कहियो सोहागिन नार।।९।।

हे सखी! तुमने गादी पर बैठ जाने मात्र से ही यह भ्रम पाल रखा है कि धाम धनी तुम्हारे अन्दर विराजमान

होकर लीला कर रहे हैं। किन्तु सच तो यह है कि मेरे अतिरिक्त इस सत्य को और कोई भी नहीं जानता है कि सद्गुरू महाराज का तन छोड़कर वे कहाँ लीला कर रहे हैं? यह देख लेना, यदि मैं अपने प्राणेश्वर को अपने धाम हृदय में बसा हुआ प्रमाणित कर दूँ, तो तुम भी यह मान लेना कि मैं (इन्द्रावती) परमधाम की सुहागिनी आत्मा हूँ।

इंद्रावती कहे तूं सई मेरी, धनी मिले मुझे इत।

पिउ ने सब पूरन करी, जो मैं करी उमेदा तित।।१०।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरी सखी रतन बाई! प्रियतम मुझे इस संसार में प्राप्त हो चुके हैं और मेरे मन में जो भी इच्छायें रही हैं, उन सभी को मेरे प्राणजीवन आराध्य श्री राज जी ने पूर्ण कर दिया है।

सई तूं मेरी बाई रतन, मोहे मिले छबीले लाल।

करी मुझे सोहागनी, अब मैं भई निहाल।।११।।

मेरी सखी रतनबाई! मुझे अति सुन्दर प्राणेश्वर मिल चुके हैं। उन्होंने मुझे अपनी अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया है, जिससे मैं उनका अनुपम प्रेम पाकर परितृप्त (अति संतुष्ट) हो गयी हूँ।

मै एक विध माँगी पिउ पे, पिउ ने कई विध करी रोसन।

बातें इन रोसन की, करसी जाए वचन।।१२।।

मैंने तो प्रियतम से केवल उनका और परमधाम का दर्शन ही माँगा था, किन्तु मेरे सर्वस्व श्री राज जी ने मुझे अनेक निधियों (दर्शन, ज्ञान, तथा अक्षरातीत कहलाने की शोभा) से गौरवान्वित किया। जब हम परमधाम चलेंगी, तो धाम धनी ने मुझे इस संसार में किस प्रकार

उजागर किया है, उसकी चर्चा करेंगी।

प्रकरण ।।२८।। चौपाई ।।६६२।।

लखमीजी को दृष्टांत

इस प्रकरण में लक्ष्मी जी के दृष्टान्त के माध्यम से तारतम ज्ञान की अनुपम महिमा को दर्शाया गया है।

मैं जानूं निध एकली लेऊँ, धाम धनी मेरे जीव में ग्रहूँ।
ए सुख और काहूँ ना देऊँ, फेर फेर तुमको काहे को कहूँ।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! मेरी यह प्रबल इच्छा है कि मैं अपने प्राणेश्वर को अपने जीव के हृदय में (ज्ञान, प्रेम, एवं श्रद्धा के द्वारा) बसा लूँ एवं अखण्ड निधि (तारतम वाणी) का रसपान अकेले ही करूँ। मैं इस सुख को अन्य किसी भी सुन्दरसाथ के समक्ष प्रस्तुत नहीं करना चाहती। मुझे बार-बार आपसे यह कहना भी उचित नहीं लगता।

ए वचन यों कहे न जाए, जीव दुख पावे ना कहे जुबांए।

एह फिकर मैं बोहोतक करूं, पर देह ना पकड़े जो हिरदे धरूं।।२।।

तारतम वाणी के ये वचन इतनी सरलता से नहीं कहे जाते। इस अनमोल वाणी को व्यक्त करते समय मेरा जीव बहुत दुःखी होता है कि इसे इस संसार में क्यों कहा जा रहा है? मेरी जिह्वा इसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत भी नहीं कर पाती। मुझे इस बात की बहुत ही चिन्ता रहती है कि मैं किस प्रकार धाम धनी की इस वाणी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जाऊँ। अक्षरातीत की इस आवेशित वाणी को मैं अपने हृदय में जितना आत्मसात् करती हूँ, मेरा शरीर इसे पूरी तरह से ग्रहण करके अपनी जिह्वा (वाणी) रूप इन्द्रिय के द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता है।

धनी कहावे तो यों कहूँ, ना तो ए सुख औरों क्यों देऊँ।
ए देते मेरा जीव निकसे, ए बानी मेरे जीव में बसे।।३।।

मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत मुझसे यह ब्रह्मवाणी कहलवा रहे हैं तो मैं कह रही हूँ, अन्यथा ज्ञान रूप में प्राप्त होने वाला यह सुख मैं अन्य किसी को भी नहीं देना चाहती। यह तारतम वाणी मेरे जीव (प्राणों) में बसा करती है। जब मैं अन्य किसी को यह सुनाती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मेरे प्राण ही निकल जायेंगे।

ए निध लई मैं कसनी कर, श्री धाम धनी चरणों चित धर।
मैं बोहोतक करूं अंतर, पर सागर पूर प्रगट करे घर।।४।।

परमधाम की अनुपम निधि रूपी इस ब्रह्मवाणी को मैंने अपने प्रियतम के चरणों में चित्त (ध्यान) लगाकर विरह की अग्नि से पाया है। यद्यपि मैं इसे गोपनीय रखने का

बहुत अधिक प्रयास करती हूँ, किन्तु जैसे सागर में लहरों के अनन्त प्रवाह (पूर) बहा करते हैं, उसी प्रकार मेरे हृदय से धाम धनी के ज्ञान रूपी अनन्त सागर की लहरों के पूर बह रहे हैं।

ए बानी धनी अंतरगत कही, केहेने की सोभा कालबुत को भई।
ना तो एह वचन क्यों कहे जाएं, अंदर कलेजे ज्यों लगे घाए।।५।।

इस तारतम वाणी को मेरे धाम हृदय में विराजमान हो कर स्वयं प्रियतम अक्षरातीत ने कहा है और मेरे इस मिथ्या तन को कहने की शोभा दी है। वैसे तो इस श्रीमुखवाणी को व्यक्त करना इतना कठिन है कि इसे कहने पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे हृदय (कलेजे) पर प्रहार करने से चोट लगती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होता है कि इसे शब्दों में कैसे व्यक्त किया जाये?

द्रष्टव्य– इस चौपाई के तीसरे चरण में प्रयुक्त "ना तो" के वास्तविक आशय "नहीं तो" के स्थान पर "वैसे तो" होगा। "कलेजा" फारसी भाषा का शब्द है, जिसका आशय हृदय (दिल) से होता है।

जिन जानो वचन अचेत में कहे, ए केहेते अनेक दुख भए।
जब मैं विचारूं चित में आन, ए कैसी मुख निकसी बान।।६।।

हे साथ जी! आप कहीं ऐसा न सोच लीजिए कि मैंने यह ब्रह्मवाणी अचेत अवस्था (बेहोशी) में कही है। इसे शब्दों में व्यक्त करते समय मुझे अनेक प्रकार के मानसिक कष्टों का अनुभव हुआ है। जब मैं इस बात पर अपने हृदय में विचार करती हूँ कि मेरे इस नश्वर तन से धाम धनी ने परमधाम की अलौकिक ब्रह्मवाणी को व्यक्त कैसे करा दिया, तो मुझे बहुत ही आश्चर्य होता है।

भावार्थ– आत्मा आनन्द स्वरूपा है। वह सुख या दुःख का भोग नहीं कर सकती, अपितु द्रष्टाभाव से देख सकती है। अपनी पूर्ण शुद्धावस्था में जीव की भी यही स्थिति होती है। सुख या दुःख अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार) का विषय है। इन चारों घटकों का सम्मिलित रूप ही अन्तःकरण (हृदय, दिल) होता है।

जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में व्यक्ति बेसुधि में बड़बड़ाता रहता है, तारतम वाणी उस अवस्था में नहीं कही गयी है, अपितु यह ऐसी जाग्रत अवस्था में कही गई है, जिसमें आँखें तो खुली हों किन्तु शरीर और संसार का बोध न हो।

उस समय स्वाभाविक रूप से कुछ मानसिक द्वन्द्वों (उलझनों) का सामना करना पड़ा होगा, जिसे इस चौपाई में कष्ट की संज्ञा दी गयी है। संक्षेप में उनका वर्णन

इस प्रकार है–

१. अक्षरातीत के हृदय का बहता हुआ रस जब ज्ञान की अमृत धारा के रूप में अवतरित हो रहा है, तो इस सम्बन्ध में यह शंका अवश्य उठती है कि इन अनमोल ब्रह्मवाणी को इस संसार में अवतरित करने की आवश्यकता ही क्या थी? क्या सांसारिक जीवों के लिये इसका परिणाम वैसा ही नहीं होगा, जैसे किसी अन्धे या पागल व्यक्ति को हीरे–मोतियों के हारों से सुसज्जित करके उसका श्रृंगार करना, या ऊसर भूमि में मूल्यवान बीजों को बिखेरना अर्थात् तपते रेगिस्तान में केशर की कृषि करने का दिवास्वप्न पालना।

२. परमधाम तथा युगल स्वरूप की शोभा, गरिमा, एवं लीला शब्दातीत है। बोधगम्य होने के लिए लौकिक दृष्टान्त तो देने ही पड़ते हैं, किन्तु ऐसा करने पर यह

मानसिक पीड़ा भी झेलनी पड़ती है कि हीरे को काँच कहकर कहीं न कहीं अपराध किया है।

मेरी बुधें लुगा न निकसे मुख, धनी जाहेर करें अखंड घर सुख।
अब साथ कछुक करो तुम बल, तो पूरन सोभा ल्यो नेहेचल।।७।।

मेरी बुद्धि से तो इस वाणी का एक शब्द भी मेरे मुख से नहीं कहा जा सकता। प्रियतम श्री राज जी, मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर, इस वाणी के द्वारा परमधाम के अखण्ड सुखों को प्रकट कर रहे हैं। हे साथ जी! यदि आप अपनी आत्म-जाग्रति के लिये कुछ पुरुषार्थ (उद्योग, परिश्रम) करें, तो आप परमधाम की अखण्ड एवं अनन्त (पूर्ण) शोभा का रसास्वादन कर सकते हैं।

ए बोहोत भांत है भारी वचन, जो कदी देखो आप होए चेतन।

इन वचन पर एक कहूँ विचार, सुनो साथ मेरे धाम के आधार।।८।।

मेरे धाम के प्राणाधार श्री सुन्दरसाथ जी! मेरी बात सुनिये। कदाचित् यदि आप जागरूक होकर विचार करें, तो यह स्पष्ट होगा कि तारतम वाणी के वचन अनेक प्रकार से बहुत ही गरिमामयी हैं। मैं तारतम वाणी के वचनों से सम्बन्धित अपना एक विचार व्यक्त करती हूँ।

भावार्थ– तारतम वाणी इन कारणों से बहुत अधिक गरिमामयी है–

१. यह मानवीय बुद्धि कौशल की रचना नहीं है, अपितु स्वयं अक्षरातीत ने अपने आवेश स्वरूप से श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर कही है।

२. इसके सभी कथन सार्वकालिक एवं सर्वकल्याणकारी हैं।

३. यह वाणी परमधाम की सीधी राह दिखाती है। इसके अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो स्पष्ट रूप से पूर्णब्रह्म अक्षरातीत के साक्षात्कार का दावा कर सके।

४. यह अध्यात्म जगत् के कठिनतम प्रश्नों का समाधान करती है।

५. यह सभी मत–पन्थों के विरोधों को दूर कर, सबको एक आँगन में लाने, और अक्षरातीत की स्पष्ट पहचान कराने का सामर्थ्य रखती है।

धड़थें सिर कोई न्यारा करे, तो आधा वचन ना मुखथें परे।
जो कोई सारे सकल संधान, तो कह्या न जाए पाओ लुगा निरवान।।९।।

यदि इस संसार का कोई भी व्यक्ति इस श्रीमुखवाणी के समकक्ष अन्य किसी ग्रन्थ की रचना के प्रयास में शक्ति

प्राप्त करने हेतु अपने शरीर (धड़) से शिर भी काटकर अलग कर दे, तो भी उसके द्वारा इस वाणी का आधा शब्द नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, यदि कोई अपने शरीर के अंग–अंग को शरीर से अलग कर दे, तो भी इस वाणी के एक शब्द का चौथाई भाग भी नहीं कह सकता।

भावार्थ– जिस प्रकार अपने कठोर तप एवं पुरूषार्थ के द्वारा महर्षि पाणिनि एवं कालिदास ने अनुपम ग्रन्थों की रचना करने का सामर्थ्य प्राप्त किया , उसी प्रकार के पुरूषार्थ से यदि कोई अपना शिर भी कटा दे या शरीर के अंग–अंग को शरीर से अलग कर दे, तो भी तारतम वाणी के एक शब्द की भी रचना की योग्यता उसमें नहीं आ सकती।

उपरोक्त कथन में शब्द का आशय तथ्य से है और यह

कथन अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा में है। तारतम वाणी के शब्द तो लोक व्यवहार (ग्रन्थ एवं बोलचाल) में भी प्रयुक्त होते ही हैं, किन्तु परमधाम को लक्ष्य करके जो बातें कही गयी हैं, उसके एक शब्द (तथ्य) का कोई अंश भी मानवीय बुद्धि द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

साथ कारन जीव सगाई जान, सेवियो धाम धनी पेहेचान।
यों केहेके पकड़ न देवे कोए, यों देते न लेवे सो अभागी होए।।१०।।

हे साथ जी! आपके जीव को भी कृपा के सागर अक्षरातीत ने अपने चरणों में ले रखा है। इसलिये मैं आपसे एक बात कहती हूँ कि अपने प्राणेश्वर की पहचान करके उनकी सेवा कीजिए। इस तरह स्पष्ट रूप से आपको कोई भी अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी की पहचान

नहीं करायेगा। मेरे द्वारा पहचान कराये जाने पर भी जो पहचान न करे, उससे अधिक भाग्यहीन इस सृष्टि में अन्य कोई भी नहीं है।

भावार्थ– इस चौपाई से पूर्व की चौपाइयों में यह बात दर्शायी गयी है कि धाम धनी पहले वाले (श्री देवचन्द्र जी के) तन को छोड़कर दूसरे (श्री मिहिरराज जी के) तन में लीला कर रहे हैं। इस चौपाई में सुन्दरसाथ से स्पष्टतया यह बात कही गयी है कि प्राणेश्वर अक्षरातीत श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान हैं, न कि श्री बिहारी जी की गादी में। ऐसी स्थिति में उन सुन्दरसाथ को भी आत्म–चिन्तन करना होगा कि वे किस आधार पर श्री प्राणनाथ जी को सन्त, कवि, महापुरुष, एवं बहु भाषाविद् की लौकिक मान्यताओं में बाँधते हैं ? क्या उनके बुद्धि कौशल की सार्थकता श्री प्राणनाथ जी के

स्वरूप को छोटा दर्शाने में ही है?

तुम साथ मेरे सिरदार, एह दृष्टांत लीजो विचार।

रोसन वचन करूं प्रकास, सुकजी की साख लीजो विस्वास।।११।।

परमधाम के मेरे प्राणाधार प्रमुख सुन्दरसाथ जी! तारतम वाणी की महत्ता को स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त दे रही हूँ। आप उसका विचार कीजिए। तारतम ज्ञान के प्रकाश में मैं वास्तविक सत्य को उजागर कर रही हूँ। आप शुकदेव जी के द्वारा कही हुई साक्षी पर विश्वास करके उसे ग्रहण कीजिए।

भावार्थ– स्वलीला अद्वैत परमधाम में एकत्व (वहदत) का साम्राज्य है, इसलिये वहाँ किसी के प्रमुख (सरदार) या किसी के सामान्य कहलाने का प्रश्न ही नहीं है। उपरोक्त चौपाई में सुन्दरसाथ को प्रमुख कहने का आशय

है– इस मायावी खेल के विवेकवान, बुद्धिमान, एवं धनी पर समर्पित सुन्दरसाथ।

श्रीमद्भागवत् में वैकुण्ठवासी विष्णु एवं लक्ष्मी का वर्णन अवश्य है, किन्तु लक्ष्मी जी के द्वारा हठपूर्वक तप करने का वर्णन माहेश्वर तन्त्र अध्याय २,३ एवं ४ में है, जो शिव–पार्वती सम्वाद के आधार पर लिखा गया है।

ए देख के नींद टालो भरम, इन वचनों जीव करो नरम।

वचन जीवसो करो विचार, तब सुख अखंड होए आधार।।१२।।

हे साथ जी! इस दृष्टान्त का विचार करके अपने अन्दर की भ्रम रूपी निद्रा का परित्याग कीजिए तथा तारतम वाणी की महत्ता को समझकर अपने जीव के हृदय को कोमल बनाइये। यदि आप इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में गहराई से अपने जीव के हृदय में विचार करें और उसे

आत्मसात् करें, तो आपको अखण्ड सुख की प्राप्ति होगी।

पिउ पेहेचान टालो अंतर, परआतम अपनी देखो घर।

इन घर की कहा कहूं बात, वचन विचार देखो साख्यात।।१३।।

श्रीमुखवाणी के प्रकाश में प्रियतम अक्षरातीत की पहचान करके माया के परदे को हटा दीजिए तथा प्रेममयी चितवनि के द्वारा अपनी परात्म एवं परमधाम को देखिये। अपने परमधाम के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ? आप तारतम ज्ञान से उसका चिन्तन करके प्रेममयी चितवनि के द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन कीजिए।

अब जाहेर लीजो दृष्टांत, जीव जगाए करो एकांत।

चौदे भवन का कहिए धनी, लीला करे बैकुंठ विखे घनी।।१४।।

अब मैं प्रत्यक्ष रूप से उस दृष्टान्त का वर्णन कर रही हूँ। आप इस सम्बन्ध में गहन चिन्तन करके अपने जीव को ज्ञान द्वारा जाग्रत कीजिए तथा जीव की एकनिष्ठता का भाव अक्षरातीत के प्रति केन्द्रित कर दीजिए। चौदह लोकों में सर्वोपरि (चौदहवाँ) लोक वैकुण्ठ है, जिसमें लक्ष्मीपति विष्णु भगवान लीला करते हैं।

भावार्थ– एकान्त का तात्पर्य है– ऐसा स्थान जहाँ प्रिया–प्रियतम के अतिरिक्त अन्य कोई भी न हो। इस चौपाई के दूसरे चरण में जीव को एकान्त करने का तात्पर्य यह है कि वह अपने और धनी के बीच प्रत्येक परदे (लौकिक सुख या सम्बन्धियों का मोह) को हटा दे।

वैदिक मान्यता में विष्णु भगवान का निवास मानसरोवर झील मानी गयी है। इसे ही क्षीर सागर भी कहा गया है।

सभी पाताल लोक पृथ्वी पर स्थित सागरों के किनारे के भाग हैं। भुवर्लोक अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें सभी लोक लोकान्तर स्थित हैं। अन्य सभी लोक सम्प्रज्ञात समाधि से प्राप्त होने वाले सुखों की अवस्था विशेष हैं, स्थान विशेष नहीं।

वाल्मीकि रामायण में भगवान विष्णु द्वारा इस पृथ्वी पर ही तप करने का वर्णन है। विश्वामित्र जी अपने आश्रम के सम्बन्ध में कहते है–

इह राम महाबाहो विष्णुर्देववरः प्रभुः।

तपश्चरणयोगार्धमुवास सुमहातपाः।। बालकाण्ड १८/६

हे राम! देव प्रजा में श्रेष्ठ महातपस्वी विष्णु ने तप करने के लिये यहाँ निवास किया था।

इसके अतिरिक्त माहेश्वर तन्त्र ३/३६ में लक्ष्मी जी के द्वारा केतुमाल पर्वत पर तप करने का वर्णन है।

"केतुमाल समासाद्य तपो दारुणमाश्रिता " अर्थात् केतुमाल पहुँचकर लक्ष्मी जी भयंकर तप करने लगीं।

हिमालय पर्वत का बर्फीला भाग सुमेरु (मेरु) पर्वत कहलाता है, क्योंकि प्रातःकाल जब उस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो वह स्वर्ण के समान दिखायी देता है। विष्णु पुराण २/२४ में कहा गया है कि सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में केतुमाल पर्वत स्थित है।

यह तो सर्वविदित है कि सुमेरू पर्वत हिमालय पर ही है। इस कथन से भी लक्ष्मी एवं विष्णु भगवान का हिमालय वासी होना सिद्ध होता है। पौराणिक मान्यता में वैकुण्ठ में धूप, शीत, एवं वर्षा का कष्ट नहीं है , जबकि पृथ्वी पर है। माहेश्वर तन्त्र ४/३५,३६ में कहा गया है–

शीतोष्णवात वर्षाभ्यां परिक्लिष्टा वपुर्लता। ३५

तुम्हारी शरीर रूपी लता शीत, उष्ण वायु, और वर्षा से

कुम्भला गयी है।

चण्डतिग्मांशुताचेन कपोलौ श्यामलौ तव। ३६

प्रचण्ड सूर्य की किरणों से संतप्त गाल काले पड़ गये हैं।

पुराण संहिता ११/८ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव ने मेरू (सुमेरू) पर्वत की गुफा में ध्यानावस्थित होकर बेहद मण्डल का साक्षात्कार किया।

इत्युक्त्वा ते ययुर्मेरोर्गुहां कांचनमालिनीम्।

गम्भीरांदर्गमां दीर्धा सर्वसत्वदनिकर्जिताम्।।

इस प्रकार कहकर वे शुद्ध स्वर्णमयी, गम्भीर, कठिनता से प्रवेश की जाने वाली, तथा सभी जीवधारियों से रहित मेरू पर्वत की गुफा में गये।

उपरोक्त विवेचना यही दर्शाती है कि ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव का निवास स्थान हिमालय ही रहा है। यदि ब्रह्मा जी

पुष्कर में यज्ञ कर सकते हैं, शिव जी कैलाश में ध्यान कर सकते हैं, पार्वजी जी हिमालय क्षेत्र के राजा हिमवान की पुत्री हो सकती हैं, तो लक्ष्मी जी एवं विष्णु भगवान मानसरोवर झील को क्षीर सागर (दूध के सागर) की उपमा देकर उसमें क्यों नहीं रह सकते?

लखमीजी सेवे दिन रात, सो ए कहूं तुमको विख्यात।
जो चाहे आप हेत घर, सो सेवें श्री परमेस्वर।।१५।।

लक्ष्मी जी दिन–रात विष्णु भगवान की सेवा करती हैं। भगवान विष्णु तथा लक्ष्मी जी का यह प्रसिद्ध प्रसंग मैं आपसे कहने जा रही हूँ। इस ब्रह्माण्ड में जो अपनी तथा देह त्याग के बाद मुक्ति सुख रूपी घर की इच्छा करते हैं, वे विष्णु भगवान को परमात्मा मानकर पूजा करते हैं।

ब्रह्मादिक नारद कई देव, कई सुर नर करे एह सेव।

ब्रह्मांड विखे केते लेऊँ नाम, सब कोई सेवें श्री भगवान।।१६।।

ब्रह्मा आदि देवता, नारद जी जैसे देवर्षि, अन्य देवगण, तथा मनुष्यों में बड़े –बड़े महामानव भी इन्हीं विष्णु भगवान की सेवा किया करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में ऐसा कौन है, जो भगवान विष्णु को पूज्य नहीं मानता है। वस्तुतः इस संसार के सभी लोग विष्णु भगवान की पूजा करते हैं।

द्रष्टव्य– इस चौपाई में प्रयुक्त "सेव" का आशय श्रद्धा रखने या पूजा करने से है।

ए लीला सेवे कर सार, सेवतां न पावें पार।

पेहेले सेवा करी है घनें, सो देखियो सुकव्यास वचनें।।१७।।

विष्णु भगवान की लीला को सबका सार मानकर ब्रह्मा

आदि देवता तथा अन्य भक्तजन उनकी सेवा करते हैं, किन्तु उनका पार नहीं पाते हैं। यदि शुकदेव एवं वेदव्यास जी के वचनों (श्रीमद्भागवत्) को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन भक्तजनों ने पहले विष्णु भगवान की बहुत अधिक सेवा की है।

ए तो है ऐसा समरथ, सेवक के सब सारे अरथ।

अब तुम याको देखो ग्यान, बड़ी मत का धनी भगवान।।१८।।

ये विष्णु भगवान इतने सामर्थ्यवान हैं कि सेवकों के सम्पूर्ण अभिप्राय को पूर्ण कर देते हैं। ये सारे जगत् में श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी भी कहे जाते हैं। अब इनके ज्ञान की वास्तविकता को देखिए।

एक समें बैठे धर ध्यान, बिसरी सुध सरीर की सान।
ए हमेसा करे चितवन, अंदर काहूं न लखावे किन।।१९।।

एक समय भगवान विष्णु इस प्रकार गहन ध्यान में बैठ गये कि उन्हें अपने शरीर की जरा भी सुध नहीं रही। यद्यपि वे हमेशा ही चितवनि (ध्यान) किया करते थे, किन्तु कभी भी किसी को उसके विषय में बताते नहीं थे।

ध्यान जोर एक समें भयो, लाग्यो सनेह ढांप्यो न रह्यो।
लखमीजी आए तिन समें, मन अचरज भए विस्मे।।२०।।

उस समय उनका ध्यान इतना गहरा हो गया कि उनमें जो अपने आराध्य के प्रति प्रेम था, वह छिपा नहीं रह सका और आँसुओं के रूप में छलक पड़ा। उसी समय लक्ष्मी जी भी आ पहुँची और भगवान जी की यह मनोदशा देखकर गहन आश्चर्य में डूब गयीं।

आए लखमीजी ठाढ़े रहे, भगवानजी तब जाग्रत भए।

करी विनती लखमीजी ताहें, तुम बिन हम और कोई सुन्या नाहें।।२१।।

जब लक्ष्मी जी विष्णु भगवान के सामने आकर खड़ी हो गयीं, तब उनका ध्यान टूटा। लक्ष्मी जी ने भगवान विष्णु से प्रार्थना की कि मैंने तो आपके अतिरिक्त अन्य किसी को भी परमात्मा के रूप में नहीं सुना है।

किनका तुम धरत हो ध्यान, सो मोहे कहो श्री भगवान।

मेरे मनमें भयो संदेह, कहे समझाओ मोको एह।।२२।।

हे भगवान! आप कृपा करके यह बतायें कि आप किसका ध्यान करते हैं? आपको ध्यान करते हुए देखकर मुझे इस बात का संदेह हो गया है कि क्या आपके अतिरिक्त कोई अन्य परमात्मा भी है, जिसका आप ध्यान करते हैं? आप मेरे इस संशय का निवारण

करके समझाने का कष्ट करें।

कौन सरूप बसे किन ठाम, कैसी सोभा कहो कहा नाम।
ए लीला सुनो श्रवन, फेर फेर के लागों चरन।।२३।।

आप कृपा करके यह बताइये कि अभी थोड़ी देर पूर्व आप जिनका ध्यान कर रहे थे, वे कौन हैं, उनका निवास कहाँ है, उनकी शोभा कैसी है, तथा उनका नाम क्या है? मैं उनकी लीला के विषय में सुनना चाहती हूँ। यह कहकर लक्ष्मी जी बार-बार भगवान विष्णु जी के चरणों में प्रणाम करने लगीं।

सुनो लखमीजी एह वचन, एह बात प्रकासो जिन।
लखमीजी कहो त्यों करूँ, मेरा अंग तुमथें न परूं।।२४।।

यह देखकर भगवान विष्णु कहने लगे- लक्ष्मी जी! मेरी

यह बात सुनिये, आप इस प्रकार की बातें न पूछें। इसके अतिरिक्त आप जो कुछ भी कहें, मैं उसे सहर्ष करने के लिये तैयार हूँ। आप मेरी अंगरूपा हैं और मैं आपसे अलग नहीं हूँ।

सुनो लखमीजी कहूँ तुमको, पेहेले सिवे पूछा हमको।
इन लीला की खबर मुझे नांहें, सो क्यों कहूं मैं इन जुबांए।।२५।।

लक्ष्मी जी! मैं आपसे एक बात कहता हूँ। पूर्वकाल में भगवान शिव जी ने भी मुझसे इसी प्रकार का प्रश्न किया था। यह तो निश्चित है कि मैं जिस लीला का ध्यान करता हूँ, उसकी मुझे कोई भी जानकारी नहीं है। ऐसी अवस्था में मैं अपनी इस जिह्वा से उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ?

एह वचन जिन करो उचार, न तो दुख होसी अपार।

और इतका जो करो प्रस्न, सो चौदे लोक की करूं रोसन।।२६।।

इसलिये आप इस प्रकार की बातें न करें, अन्यथा उसका उत्तर न मिलने से आपको बहुत अधिक दुःख होगा। यदि आप चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड या निराकार (क्षर जगत्) के विषय में कुछ भी पूछेंगी, तो मैं सहजता से उसका उत्तर दे सकता हूँ।

जिन आंसका आनो एह, एह जिन पूछो संदेह।

लखमीजी तुम करो करार, मुखथें वचन ना आवे बाहार।।२७।।

लक्ष्मी जी! आप अपने मन में इस बात का जरा भी संशय न कीजिए कि मैं आपको बताना नहीं चाहता और आप संशयग्रस्त होकर ये प्रश्न भी न पूछिए। आप धैर्यपूर्वक अपने मन में शान्ति बनायें रखें। मैं चाहकर भी

उस अखण्ड धाम के सम्बन्ध से अपने मुख से कुछ कहने में पूर्णतया असमर्थ हूँ।

तब लखमीजी बड़ो पायो दुख, कह न सके कलपे अति मुख।
मोसों तो राख्यो अंतर, अब रहूँगी मैं क्यों कर।।२८।।

विष्णु भगवान की यह बात सुनकर लक्ष्मी जी बहुत ही दुःखी हो गयीं। यद्यपि वे अपने मुख से कुछ कह तो नहीं सकी, किन्तु उनका रुदन मुख पर प्रकट हो ही गया। वे मन ही मन सोचने लगी कि प्रियतम ने मुझसे कुछ भेद छिपा रखा है। ऐसी स्थिति में मैं भला कैसे रह सकती हूँ।

नैनों आंसू बहुविध झरे, फेर फेर रमा विनती करे।
धनी एह अंतर सह्यो ना जाए, जीव मारो मांहें कलपाए।।२९।।

लक्ष्मी के नेत्रों से आँसूओं की झड़ी लग गयी। वे बार–

बार विष्णु भगवान से प्रार्थना करने लगीं कि आपने कोई अलौकिक रहस्य मुझसे छिपा रखा है। यह बात मैं सहन नहीं कर पा रही हूँ। मेरा जीव उसे जानने के लिये विलख रहा है।

अब क्यों कर राखूं जीव हटाए, कलेजा मेरा कटाए।
कंपमान होए कलकले, उठी आह अंतस्करन जले।।३०।।

अब उस रहस्य को जाने बिना मैं कैसे जीवित रहूँ? मेरा हृदय फटा (कटा) जा रहा है। इस प्रकार वे रोते–रोते दुःख से काँपने लगीं। उनके हृदय में विरह की प्रचण्ड अग्नि जलने लगी।

अब जो धनी करो मेरी सार, तो ए लीला केहेनी निरधार।
बोहोत बेर मने किया सही, अनेक विध सिखापन दई।।३१।।

लक्ष्मी जी कहती हैं कि मेरे प्रियतम! यदि आप मुझे सुखी देखना चाहते हैं, तो आप जिस लीला का ध्यान करते–करते भाव विह्वल हो गये थे, मुझे भी उसके बारे में बताना पड़ेगा। यह सुनकर विष्णु भगवान ने उन्हें बार–बार मना किया कि वे ऐसा हठ न करें। इस प्रकार विष्णु भगवान ने उन्हें अनेक प्रकार से शान्त रहने की सीख दी।

मेरा जीव क्योंए न रहे, लखमीजी फेर फेर यों कहे।

तब बोले श्री भगवान, लखमीजी तूं नेहेचे जान।।३२।।

इस बात पर लक्ष्मी जी बार–बार कहने लगीं कि अब मैं किसी भी प्रकार से जीवित नहीं रह पाऊँगी। तब विष्णु भगवान कहने लगे कि लक्ष्मी जी! आप यह बात निश्चित रूप से जान लीजिए कि।

कोटान कोट करो प्रकार, तो एता तुम जानो निरधार।
मेरी जुबां न वले एह वचन, एह दृढ़ करो जीवके मन।।३३।।

भले ही आप करोड़ों उपाय क्यों न कर लीजिए, किन्तु आप उस लीला एवं धाम का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकतीं। आप इस कटु सत्य से अवगत हो जाइए तथा अपने मन में यह भी बात निश्चित रूप से दृढ़तापूर्वक बसा लीजिए कि मेरी जिह्वा वहाँ का कुछ भी वर्णन करने में असमर्थ है।

लखमीजी कहे सुनो अब राज, मेरे आतम अंग उपजत दाझ।
नहीं दोष तुमारा धनी, अप्राप्त मेरी है घनी।।३४।।

लक्ष्मी जी कहती हैं कि मेरे प्रियतम! मेरे हृदय में उसे जानने की आग लगी हुई है। इसमें आपका कोई दोष नहीं है। मुझे लगता है कि मेरे अन्दर ही उसे प्राप्त कर

पाने की बहुत अधिक अयोग्यता है, अर्थात् प्राप्त करने की पात्रता ही नहीं है।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में आत्मा का तात्पर्य स्वयं के स्वरूप अर्थात् जीव से है।

अब सरीर मेरा क्यों रहे, ए अगनी जीव न सहे।

अब अग्या मांगूं मेरे धनी, करूं तपस्या देह कसनी।।३५।।

मेरे प्रियतम! अब मेरा शरीर भला जीवित कैसे रहेगा? मेरे हृदय में उस लीला को जानने की जो इच्छा रूपी अग्नि धधक रही है, उसकी पीड़ा सही नहीं जा रही है। अब मैं आपसे यह आज्ञा चाहती हूँ कि मैं इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपने शरीर को कष्टसाध्य (कठिन) साधनाओं से गुजारते हुए कठोर तप करूँ।

भगवान जी बोले तिन ताओ, लखमीजी बेर जिन ल्याओ।

तब कलप्या जीव दुख अनंत कर, उपज्यो वैराग लियो हिरदे धर।।३६।।

यह सुनकर भगवान विष्णु ने उसी क्षण कहा– लक्ष्मी जी! इस शुभ कार्य में देर करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार का उत्तर सुनते ही लक्ष्मी जी का हृदय बहुत ही व्यथित हो गया। उनके हृदय में विष्णु भगवान के प्रति जो आसक्ति का भाव था, उसकी जगह गहन वैराग्य ने ले ली।

द्रष्टव्य– इस चौपाई के तीसरे चरण में "अनंत" शब्द का अभिप्राय बहुत अधिक से है। यह अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा है।

लखमीजी को आसा थी घनी, जानों विछोहा ना देसी धनी।

अब चरनों लाग लखमीजी चले, प्यादे पाँउ रोवे कलकले।।३७।।

लक्ष्मी जी के मन में यह पूर्ण आशा थी कि उनके प्रियतम कभी भी उन्हें वियोग का दुःख नहीं देंगे, किन्तु विपरीत परिस्थितियाँ देखकर उन्होंने भगवान विष्णु जी के चरणों में प्रणाम किया और रोती–विलखती पैदल ही चल पड़ीं।

इन समें विरह कियो अति जोर, बड़ो दुख पाए कियो अति सोर।
एक ठौर बैठे जाए दमे देह, भगवानजी सों पूरन सनेह।।३८।।

इस समय लक्ष्मी जी में उस स्वरूप के लिये बहुत अधिक विरह हुआ, जिनका ध्यान विष्णु भगवान किया करते थे। यद्यपि उनके मन में अपने पतिदेव विष्णु जी के लिये पूर्ववत् स्नेह बना रहा। प्रियतम से वियोग का उन्हें बहुत अधिक दुःख था और वे उच्च स्वर में रूदन भी करती रहीं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे केतुमाल

पर्वत के ऊपर एक स्थान पर बैठकर शरीर को कष्ट देते हुए कठोर तप करने लगीं।

भावार्थ– इस प्रकरण की ३६वीं चौपाई में यह बात दर्शायी गयी है कि विष्णु भगवान के मना करने पर लक्ष्मी जी का मन उचट गया और उनमें उस स्वरूप के लिये विरह हुआ जिनका विष्णु भगवान ध्यान किया करते थे। यही स्थिति ३८वीं चौपाई में भी है। लक्ष्मी जी को विष्णु भगवान के लिये विरह नहीं हुआ। यदि उनके लिये होता तो वे स्वतः ही उनके पास चली जातीं।

सीत धूप बरखा ना गिने, करे तपस्या जोर अति घने।
सनेह धर बैठे एकांत, एते सात भए कल्पांत।।३९।।

वे इतने कठोर तप में संलग्न हो गयीं कि उन्हें शीत , धूप, तथा वर्षा से मिलने वाले कष्ट की नाममात्र भी

चिन्ता नहीं रही। वे एकान्त में तप करते हुए भगवान विष्णु के प्रति अपना प्रेम बनाये रहीं। इस प्रकार सात कल्प व्यतीत हो गये।

भावार्थ– यद्यपि "द्वन्द सहनं तपः" यो.द. का कथन उचित है, किन्तु द्वन्दों (शीत, उष्ण, मान, अपमान) आदि को सहन करने के नाम पर जानबूझकर शरीर को शीत, उष्ण आदि का अत्यधिक कष्ट देना अनुचित है। इस प्रक्रिया का आत्म–साक्षात्कार एवं साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः मन एवं इन्द्रियों को विषयों से रोकना ही तप है। इसी प्रकार सत्य, प्रिय, और हितकारी बोलना वाणी का तप है, जो गीता एवं उपनिषदों में दर्शाया गया है। पञ्चाग्नि तप और भयंकर शीत आदि का जानबूझकर सेवन करके स्वयं को दुःखी करना तामसिक कार्य है। ब्रह्म–साक्षात्कार तो त्रिगुणातीत अवस्था में

प्रेममयी गहन समाधि के द्वारा ही होता है। तामसिक तप पतन की ओर ले जाता है।

स्वाभाविक रूप से जितनी उष्णता, शीत, और भूख सहन हो जाये, उतना ही सहन करना चाहिए तथा अधिक से अधिक सात्विक होकर ध्यान–समाधि के द्वारा त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इसे ही योगेश्वर श्री कृष्ण ने "युक्ताहार–विहार" की संज्ञा दी है।

तब ब्रह्माजी खीरसागर, आए विष्णु पे बैकुंठ घर।

ए प्रभूजी ए क्या उतपात, लखमीजी तप करे कल्पांत सात।।४०।।

तब ब्रह्मा जी और क्षीर सागर विष्णु भगवान के निवास वैकुण्ठ आये। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि प्रभो! यह किस प्रकार का विवाद है, जिसमें लक्ष्मी जी आपसे

अलग होकर ७ कल्पान्त से तप कर रही हैं।

भावार्थ– पौराणिक मान्यता में लक्ष्मी जी को क्षीर सागर की पुत्री माना जाता है, किन्तु वैदिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो क्षीर सागर एक व्यक्ति का नाम भी है, क्योंकि समुद्र के पैर नहीं होते जो चलकर अपनी पुत्री की मंगल कामना के सम्बन्ध में बात करने के लिये विष्णु भगवान के पास जायेगा।

वैदिक मान्यता के अनुसार ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों का एक कल्प होता है। इसके अन्तर्गत सौर मण्डल की इस सृष्टि का लय हो जाता है। इसी प्रकार ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष तक प्रलय की रात्रि रहती है। इस दिन और रात्रि के समय को एक "ब्राह्म दिन" कहते हैं।

पौराणिक विचारधारा के अनुयायियों ने इस ब्राह्म दिन को ब्रह्मा जी के एक दिन के रूप में प्रस्तुत किया है।

उनकी मान्यता के अनुसार सृष्टि और प्रलय (सौर मण्डल) के समय का मानव वर्ष ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का होता है, जबकि दैव वर्ष (ब्रह्मा, विष्णु) आदि की आयु में इसकी आयु एक दिन की ही होती है जो कल्प का समय है।

इस प्रकार लक्ष्मी जी के द्वारा ७ कल्पान्त तस्पया करने का आशय सात दिनों के तप से है। प्रश्न यह है कि जब सौर मण्डल के प्रलय में पृथ्वी लोक ही नहीं रहेगा तो हिमालय पर्वत पर स्थित केतुमाल पर्वत कहाँ रहेगा।

ऐसी अवस्था में यही मानना पड़ेगा कि लक्ष्मी जी ने सात दिन तक तपस्या की थी। अतिश्योक्ति अलंकार की भाषा में अति अल्प समय को भी बढ़ाकर कहा जाता है। इसका उदाहरण वाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों में देखने को मिलता है–

षष्टि वर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक।

दुःखेनोत्पादितश्चाय न रामं नेतुमर्हसि।।

वा०रा० सर्ग १८ श्लोक १९

दशरथ जी कहते हैं कि हे विश्वामित्र जी! साठ वर्ष की अवस्था में बहुत कष्ट उठाकर मैंने राम को प्राप्त किया है। अतः आप राम को न ले जाइए।

वाल्मीकि रामायण के उपरोक्त कथन में सहस्र का तात्पर्य एक भी होता है। अतः सहस्र वर्ष का अर्थ होता है एक वर्ष। इस प्रकार "षष्टिर्वर्षसहस्राणि" का अर्थ होता है साठ वर्ष।

उपरोक्त समीक्षा को यदि मीमांसा दर्शन की दृष्टि से देखा जाये तो यह निष्कर्ष निकलता है–

परकृति पुराकल्पं च मनुष्य धर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम्।

(मी०द० अ०६ पा०७ सू०२६)

पूर्व सृष्टि में भी मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि की ही भांति थे।

निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्यंचावत्तवत्।

(मी०द० ६/७/२८)

जब पूर्व कल्प के मनुष्यों के शरीर पञ्चभौतिक ही थे, तब उनमें मनुष्य धर्म ही मानना ठीक है।

संवत्सरो वा विचालित्वात्। (मी०द० ६/७/३८)

संवत्सर शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है। यह कहीं वर्ष का वाचक है, कहीं ऋतुओं का, तो कहीं दिन का।

अहनि वाऽभिसंख्यात्वात्। (मी०द० ६/७/४०)

संवत्सर दिन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि एक दिन में छहों ऋतुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है।

उपरोक्त समीक्षा के आधार पर यही मानना उचित है कि लक्ष्मी जी के द्वारा सात कल्प तपस्या करने का आशय

है सात दिन।

भगवानजी बोले तब तांहें, दोष हमारा कछुए नांहें।

तो भी वचन तुमको कहे जाए, लखमीजी बोहोत दुख पाए।।४१।।

यह सुनकर भगवान विष्णु ने उत्तर दिया कि इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है। तब ब्रह्मा जी और क्षीर सागर ने कहा कि भले ही आप निर्दोष हैं, किन्तु इस घटना में आपको ही सम्बोधित करके कहा जायेगा क्योंकि वह आपकी अर्धांगिनी हैं और तपस्या के कारण बहुत अधिक कष्ट उठा रही हैं।

एता रोष तुम ना धरो, लखमीजी पर दया करो।

तुम स्वामी बड़े दयाल, लखमीजी दुख पावे बाल।।४२।।

हे प्रभो (स्वामी)! आप तो अति दयालु हैं। लक्ष्मी जी

पर दया कीजिए। आप उनसे इतना रुष्ट न होइए। लक्ष्मी जी बहुत अधिक दुःख उठा रही हैं।

स्वामीजी ए ढील करो जिन, लखमीजी बुलाओ ततखिन।
चरन ग्रहे तब खीरसागरें, और फेर फेर ब्रह्मा विनती करे।।४३।।

हे स्वामी जी! अब आप बिना देर किये लक्ष्मी जी को शीघ्र बुलाने का कष्ट कीजिए। यह कहते हुए क्षीर सागर ने विष्णु भगवान के चरण पकड़ लिये। ब्रह्मा जी ने भी बार-बार विनती की कि आप लक्ष्मी जी को शीघ्र बुलाइये।

चलो प्रभुजी जाइए तित, बुलाए लखमीजी आइए इत।
तब दया कर आए भगवान, लखमीजी बैठे जिन ठाम।।४४।।

दोनों ने भगवान विष्णु जी से यह प्रार्थना की कि हे प्रभो! चलिए, चल कर लक्ष्मी जी को यहाँ बुलाकर लायें।

उनकी यह बात सुनकर भगवान विष्णु दया करके वहाँ आये, जहाँ लक्ष्मी जी तपस्या कर रही थी।

लखमीजी परनाम कर आए, भगवानजी तब सनमुख बुलाय।
लखमीजी चलो जाइए घरे, तब फेर रमा बानी उचरे।।४५।।

विष्णु भगवान ने लक्ष्मी जी को अपने सम्मुख बुलाया। लक्ष्मी जी ने उनके पास आकर प्रणाम किया। भगवान ने उनसे कहा कि लक्ष्मी जी! चलिये, घर चलते हैं। यह सुनते ही लक्ष्मी जी ने पुनः यह बात कही।

धनी मेरे कहो वाही वचन, जीव बोहोत दुख पावे मन।
जो तप करो कल्पांत एकईस, तो भी जुबां ना वले कहे जगदीस।।४६।।

मेरे प्रियतम! मैं तो केवल वहाँ का ही ज्ञान जानना चाहती हूँ, जहाँ का आप ध्यान करते हैं। वही जानने के

लिये मेरा मन बहुत अधिक दुःखी हो रहा है। इसके प्रत्युत्तर में विष्णु भगवान ने कहा कि लक्ष्मी जी! यदि आप एक्कीस दिन (एक्कीस कल्पान्त) भी तप करें, तो भी मेरी यह जिह्वा (वाणी) उस अविनाशी ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकती, जिनका मैं ध्यान करता हूँ।

देखलाऊं मैं चेहेन कर, तब लीजो तुम हिरदे धर।

तब ब्रह्मा और खीरसागर दोए, लखमीजी की विनती होए।।४७।।

किन्तु मैं लीला करके तुम्हें समझा (दर्शा) सकता हूँ कि मैं किसका ध्यान करता हूँ। मैं जिस समय लीला करके तुम्हें समझाऊँगा, उस समय तुम उस लीला को अपने हृदय में धारण कर लेना। यह सुनकर ब्रह्मा जी और क्षीर सागर दोनों ने लक्ष्मी जी से कहा कि तुम्हारी प्रार्थना अब स्वीकार कर ली गयी है, इसलिये प्रसन्न हो जाओ।

लखमीजी उठो तत्काल, दया करी स्वामी दयाल।

अब जिन तुम हठ करो, आनंद अंतस्करन में धरो।।४८।।

लक्ष्मी जी! अब इसी क्षण तपस्या करना छोड़कर वैकुण्ठ चलो। इस ब्रह्माण्ड के स्वामी अति दयालु विष्णु भगवान ने तुम्हारे ऊपर दया की है और तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करने का वचन दिया है। अब तुम तप करने का हठ छोड़ दो तथा अपने हृदय में आनन्द मनाओ।

तब लखमीजी लागे चरनें, यों बुलाए ल्याए आनंद अति घनें।

तब ब्रह्मा खीरसागर सुख पाए फिरे, दोऊ आए आप अपने घरे।।४९।।

विष्णु भगवान के ऐसा कहने पर लक्ष्मी जी ने उनके चरणों में प्रणाम किया। इस प्रकार भगवान लक्ष्मी जी को अपने साथ आनन्दपूर्वक वैकुण्ठ ले गये। तब ब्रह्मा जी और क्षीर सागर भी आनन्दित होकर अपने–अपने

निवास स्थान को लौट गये।

अब ए विचार तुम देखो साथ, ना वली जुबां बैकुन्ठनाथ।
ग्रही वस्त भारी कर जान, तो भी वचन ना कहे निरवान।।५०।।

हे साथ जी! अब आप उपरोक्त प्रसंग के सम्बन्ध में विचार करके देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि बेहद का वर्णन करने में वैकुण्ठ के स्वामी विष्णु भगवान भी असफल हो गये। यद्यपि वे बेहद मण्डल की महिमा से पूरी तरह अवगत थे तथा वहाँ का श्रद्धा भाव से ध्यान भी करते थे, फिर भी अपनी वाणी द्वारा कुछ भी वर्णन नहीं कर सके।

ना तो बैकंठनाथ को कैसी खबर, बिना तारतम क्या जाने मूल घर।
और भी खबर कछुए ना कही, तो भी निध भारी कर ग्रही।।५१।।

भला, विष्णु भगवान को निराकार से परे बेहद मण्डल का ज्ञान कैसे हो सकता था? तारतम ज्ञान के बिना तो उनके लिये अपने मूल घर बेहद (योगमाया के ब्रह्माण्ड) का बोध हो पाना सम्भव ही नहीं था। ध्यान के द्वारा उन्हें अब तक जो कुछ भी अनुभूति थी, उसे भी वे शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में पूर्णतया असमर्थ थे। फिर भी बेहद मण्डल की ज्ञान रूपी इस अनमोल निधि को उन्होंने बहुत ही गरिमामयी भावों से ग्रहण किया था। तभी तो उन्होंने लक्ष्मी जी से भी उसे गोपनीय ही रखा था।

भावार्थ– आदिनारायण से ही ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिवादि देवों का प्रकटन होता है। महाप्रलय में आदिनारायण अपने मूल स्थान अव्याकृत के महाकारण (सुमंगला पुरूष), जिसे सबलिक का स्थूल कहते हैं, को

प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार विष्णु भगवान का मूल घर बेहद मण्डल (अव्याकृत का महाकारण) ही है।

अखण्ड धाम के ज्ञान की गरिमा का पता इसी से चलता है कि भगवान शिव ने उमा जी से स्पष्ट कह दिया था कि जो ज्ञान मैं तुम्हें सुना रहा हूँ, उसे तुम गणेश तथा कार्तिकेय को भी न बता देना। ऐसा माहेश्वर तन्त्र अध्याय २० श्लोक ९ में वर्णित है।

बिना भारी कौन भार उठावे, मुखथें वचन कहयो न जावे।
जब भया कृष्ण अवतार, रूकमनी हरन कियो मुरार।।५२।।

अखण्ड धाम (बेहद एवं परमधाम) की सृष्टि ही अखण्ड के ज्ञान को सुना सकती है या ग्रहण कर सकती है। जब श्रीकृष्णावतार हुआ और मूर राक्षस का वध करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने रूक्मिणी का हरण किया।

माधवपुर व्याही रूकमनी, धवल मंगल गावे सोहागनी।

गाते गाते लिया बृज नाम, तब पीछे भोम पड़े भगवान।।५३।।

तो माधवपुर में उनका विवाह हुआ। विवाह के समय सुहागिनी (विवाहिता) महिलायें बधाई गीत गा रही थीं। उस समय एक गीत में व्रज लीला का प्रसंग आ गया, जिसे सुनते ही द्वारिकाधीश श्री कृष्ण जी मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े।

तब नैनों आँसू बोहोत जल आए, काहूपे ना रहे पकराए।

सुख आनंद गयो कहूँ चल, अंग अंतस्करन गए सब गल।।५४।।

उस समय उनके नेत्रों से आँसुओं की प्रबल धारा बहने लगी, जो किसी भी प्रकार से रुकी नहीं। ऐसा लगता था कि जैसे उनके मन में इस विवाह से कुछ भी सुख या आनन्द है ही नहीं। वस्तुतः उनका अन्तःकरण सहित

अंग–अंग व्रज लीला के प्रेम में डूब गया था, जिसके कारण उनकी आँखों से विरह–प्रेम के आँसू निकल रहे थे।

तब सब किने पायो अचरज, यों लखमीजी को देखाया बृज।
सोले कला दोऊ सरूप पूरन, ए आए हैं इन कारण।।५५।।

उस समय भगवान श्री कृष्ण जी की ऐसा अवस्था देखकर सबको ही बहुत आश्चर्य हुआ। इस प्रकार श्री कृष्ण रूप धारी विष्णु भगवान ने रुक्मिणी रूप धारी लक्ष्मी जी को संकेत से बताया कि जिस बृज लीला के श्रवण मात्र से मैं भाव विह्वल हो गया, मैं उसी का ध्यान करता हूँ। वस्तुतः लक्ष्मी जी और विष्णु भगवान दोनों ही सोलह कलाओं से सम्पन्न पूर्णावतार हैं। पूर्वकाल में भगवान ने लक्ष्मी जी को जो वचन दिया था, उसे ही पूर्ण

करने के लिये इन दोनों का अवतरण हुआ है।

भावार्थ– सोलह कलायें इस प्रकार हैं– १. प्राण २. श्रद्धा ३. आकाश ४. वायु ५. ज्योति ६. जल ७. पृथ्वी ८. अन्न ९. मन १०. अन्न ११. वीर्य १२. तप १३. मन्त्र १४. कर्म १५. लोक १६. नाम।

लोक जाने आए असुरों कारन, विष्णु कृष्ण देह धर पूरन।
ए हुकमें असुर कई देवे उड़ाए, ऐसा बल हैं बैकुंठराए।।५६।।

संसार के लोग तो यही समझते हैं कि विष्णु भगवान असुरों का संहार करने के लिये ही श्री कृष्ण जी के पूर्णावतार रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु वैकुण्ठ के स्वामी विष्णु भगवान में तो इतनी शक्ति है कि वे अपनी इच्छा मात्र से अनेकों राक्षसों का संहार कर सकते हैं।

क्या समझें लोक अंदर की बात, दिखलावने लखमीजी को आए साख्यात।

उठ बैठे श्री कृष्णजी पूरन किया काम, यों लखमीजी की भानी हाम।।५७।।

भला, इस संसार के लोग इस आन्तरिक रहस्य को कैसे जान सकते हैं कि लक्ष्मी जी को अखण्ड लीला की पहचान कराने के लिये स्वयं विष्णु भगवान ही आये हैं? लक्ष्मी जी के मन में अखण्ड धाम के विषय में जानने की जो प्रबल इच्छा थी, उसके पूर्ण होते ही विष्णु स्वरूप श्री कृष्ण जी अपनी मूर्छित अवस्था को छोड़कर उठ बैठे।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में यह संशय होता है कि जब ११ वर्ष ५२ दिन की व्रज लीला में भी विष्णु भगवान ने श्री कृष्ण जी के जीव के रूप में तन धारण किया था, तो योगेश्वर श्री कृष्ण जी के रूप में विष्णु भगवान कहाँ से आ गये? व्रज लीला में भाग लेने वाले विष्णु तो बालमुकुन्द जी के रूप में अखण्ड हो चुके हैं। क्या वही

आये या इस नये ब्रह्माण्ड के विष्णु आये? यदि इस नये ब्रह्माण्ड के विष्णु आये, तो लक्ष्मी जी कौन हैं? यदि लक्ष्मी जी भी नई हैं, तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इच्छा तो पूर्व ब्रह्माण्ड वाली लक्ष्मी जी की थी। यदि पूर्व ब्रह्माण्ड की लक्ष्मी तथा इस ब्रह्माण्ड के विष्णु रूपी श्री कृष्ण का विवाह माना जाये, तो यह भी अनुचित कहा जायेगा?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि व्रज लीला में जिस विष्णु जी ने श्री कृष्ण जी के जीव के रूप में भूमिका निभायी थी, वह उनका अंश रूप था, पूर्ण स्वरूप नहीं। पूर्ण स्वरूप तो इस ब्रह्माण्ड में लक्ष्मी जी के साथ ही आया है, जिसे इस प्रकरण की ५५वीं चौपाई में सोलह कलाओं से सम्पन्न पूर्णावतार कहा गया है।

११ वर्ष ५२ दिन की लीला में लक्ष्मी जी की कोई

भूमिका दृष्टिगोचर नहीं होती है। इससे यह स्पष्ट है कि उनका अंश रूप ही मथुरा के कारागार में प्रकट हुआ था। वही अंश स्वरूप ब्रह्म लीला में भाग लेने के कारण बालमुकुन्द के रूप में आज भी लीलामग्न है।

यद्यपि अंशवाद का यह सिद्धान्त पौराणिक मान्यताओं के आधार पर ही है। वैदिक सिद्धान्त यह कदापि स्वीकार नहीं करेगा कि एक ही जीव अपने जैसे अनेक जीवों को उत्पन्न करे , क्योंकि ऐसा करने से जीव संयोग–वियोग एवं छेदन–भेदन आदि दोषों से युक्त हो जायेगा।

किन्तु यदि हम वैदिक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचना करें, तो यह सम्भव सा प्रतीत होता है–

त्वं स्त्री असि त्वं पुमानं त्वम् कुमारं उत वा कुमारी।

त्वं जीर्णेन दण्डेन वंचसे त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।।

अथर्ववेद १०/८/२८

जब जीव अपनी सामान्य अवस्था में कभी पुरुष के तन को धारण करता है और कभी स्त्री के तन को, तो योग ऐश्वर्य के द्वारा वह एक ही साथ अनेक रूपों को भी धारण कर सकता है। इसे ही अंश–अंशी का भाव कह सकते हैं।

यदि तार्किक दृष्टि से ऐसा कहा जाये कि योगैश्वर्य के द्वारा जो कई तन एक साथ धारण किये जाते हैं, वे मात्र कुछ पलों के लिये ही होते हैं। ऐसी स्थिति में ९ मास का गर्भवास तथा ११ वर्ष ५२ दिन की लीला में भाग लेना सांकल्पिक अंश रूप जीव के लिये असम्भव सा लगता है?

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विष्णु भगवान का योगैश्वर्य अन्य जीवों से विलक्षण है। आदिनारायण से

अपनी एकात्म भावना स्थापित कर, वे भी उस अवस्था में आकर वैसी ही लीला कर सकते हैं जैसे आदिनारायण के सांकल्पिक जीव, जिन्हें चिदाभास कहा जाता है, किया करते हैं। यदि आदिनारायण का प्रतिभासिक चेतन, जिसे आधुनिक वेदान्त की भाषा में चिदाभास या जीव कहा जाता है, माता के गर्भ में जा सकता है तथा अनेक योनियों में अनेक प्रकार के कार्य कर सकता है, तो विष्णु भगवान का सांकल्पिक चेतन (अंश रूप) ११ वर्ष ५२ दिन की लीला में भाग क्यों नहीं ले सकता।

दूसरा पक्ष यह है कि जो विष्णु भगवान अखण्ड व्रज लीला में बाल मुकुन्द जी के रूप में लीला कर रहे हैं, वे ही अपनी सुरता द्वारा विष्णु रूप श्रीकृष्णजी की भूमिका में हों, जिससे लक्ष्मी जी की इच्छा भी पूर्ण हो जाये। यह बात वैसे ही कही जा सकती है, जैसे व्रज लीला में

अखण्ड होने वाले कुमारिकाओं के जीवों की सुरता ने प्रतिबिम्ब की सखियों के रूप में स्वयं को पाया तथा ७ दिन गोकुल तथा ४ दिन मथुरा की लीला के पश्चात् सौ वर्षों तक वे विरह में तड़पती रहीं।

किन्तु ऐसा मानने पर तारतम वाणी के इन कथनों से विरोध होगा–

तब बैकुण्ठ में विष्णु ना रहे, इत सोले कला संपूरन भए।

प्र. हि. ३७/६२

उपरोक्त चौपाई के अनुसार श्री कृष्णावतार से पूर्व वैकुण्ठ में विष्णु थे, किन्तु षोडश कलावतार श्री कृष्ण के उजागर होने के पश्चात् वैकुण्ठ में उनका अस्तित्व नहीं रहा। यहाँ प्रश्न यह होता है कि बाल मुकुन्द जी अपनी सुरता रूप से पहले श्री कृष्ण जी के अन्दर पधारे या वैकुण्ठ विहारी विष्णु के अन्दर? यदि श्री कृष्ण जी के

अन्दर उनका अस्तित्व मानते हैं, तो वैकुण्ठ विहारी को नया मानना पड़ेगा।

उपरोक्त दोनों पक्षों के विकल्प के रूप में यही कहा जा सकता है कि वेद अपौरूषेय हैं एवं सत्य ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार तारतम वाणी अक्षरातीत के आवेश से कही जाने के कारण अक्षरशः सत्य है। इसलिये माहेश्वर तन्त्र में वर्णित विष्णु एवं लक्ष्मी जी के उपरोक्त प्रसंग को सीख के रूप में उद्धृत किया जाने वाला एक कथानक ही मानना चाहिए। इस प्रकरण की ६३वीं चौपाई में भी इसे दृष्टान्त ही कहा गया है। इसके प्रत्येक कथन की सत्यता की पुष्टि आवश्यक नहीं है क्योंकि पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों से उतना ही ग्राह्य होना चाहिए जो वेद एवं तारतम वाणी के अनुकूल हैं। तारतम वाणी में लक्ष्मी जी का यह प्रसंग मात्र इसलिये दिया गया है कि हम परमधाम के अनमोल

ज्ञान की महत्ता को समझ सकें।

उपरोक्त विवाद की वास्तविक समीक्षा के लिये ध्यान की गहराइयों में डूबकर अन्तरात्मा के सन्देशों को सुनना अति आवश्यक है।

ए चित में विचारो रही, ए इसारत सुकें कही।

ए लीला सुकें नीके कर गाई, जो लखमीजी को भगवानें देखाई।।५८।।

हे साथ जी! आप अपने हृदय में इस बात का विचार कीजिए कि भगवान विष्णु ने लक्ष्मी जी को सांकेतिक रूप से जिस व्रज लीला की पहचान करायी है, शुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत् में उसका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इस लीला के वर्णन के माध्यम से उन्होंने सांकेतिक भाषा में परमधाम की लीला एवं परमधाम की वाणी की महत्ता को भी प्रकट किया है।

ए बृज लीला जो अपनी, जाकी अस्तुति करत हैं धनी।
पेहेले जो लीला तुम बृज में करी, अछर सदासिव चित में धरी।।५९।।

हे साथ जी! यह व्रज लीला हमारी ही है, जिसकी स्तुति वैकुण्ठ के स्वामी विष्णु भगवान भी करते हैं। आपने ११ वर्ष ५२ दिन तक जो व्रज लीला की, उसे अक्षर ब्रह्म ने अपने चित्त स्वरूप सबलिक में अखण्ड कर लिया है।

भावार्थ– विष्णु भगवान अक्षर ब्रह्म की सुरता (वासना) हैं। इसलिये वे बेहद मण्डल का ध्यान करते हैं। उन्हे अव्याकृत के महाकारण (सबलिक के स्थूल) तक की अनुभूति होती है।

रास लीला जो तुम बनमें किध, सो अछर सरूपें ग्रही जाग्रत बुध।
ता लीला को ए प्रतिबिंब, जो विष्णुए देखाई रमा को सनंध।।६०।।

आपने केवल ब्रह्म की आनन्द योगमाया की भूमिका के नित्य वृन्दावन में जो रास लीला की थी, उसे अक्षर ब्रह्म ने अपनी जाग्रत बुद्धि के द्वारा अपने चित्त सबलिक के महाकारण में धारण कर लिया। उसी लीला का प्रतिबिम्ब सबलिक के स्थूल (अव्याकृत के महाकारण) में भी पड़ा है, जिसे भगवान विष्णु ने लक्ष्मी जी को दिखाया था।

भावार्थ– महारास की लीला सबलिक के महाकारण में तथा व्रज लीला सबलिक के कारण में है। ये दोनों ही लीलायें अव्याकृत के महाकारण (सबलिक के स्थूल) में विद्यमान हैं, जो आज भी अबाध गति से हो रही हैं।

तो वचन तुमको कहे जाएं, जो तुम धाम की लीला मांहें।
बृजवालो पिउ सो एह, वचन अपन को केहेत हैं जेह।।६१।।

हे साथ जी! ये बातें आपको इसलिये कही जा रही हैं

क्योंकि आप बेहद से भी परे परमधाम की लीला में निमग्न रहने वाले हैं। मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर इस प्रकार का अलौकिक ज्ञान देने वाले हमारे वे ही धाम धनी हैं, जिन्होंने हमारे साथ व्रज में लीला की थी।

रास मिने खेलाए जिने, प्रगट लीला करी है तिने।
धनी धाम के केहेलाए, ए जो साथको बुलावन आए।।६२।।

जिन्होंने रास में हमारे साथ प्रेम की लीला की थी, वे ही इस जागनी ब्रह्माण्ड में मेरे धाम हृदय में प्रकट होकर लीला कर रहे हैं। हमारे प्राणेश्वर अक्षरातीत ही हमें माया से हटाकर परमधाम ले जाने के लिये आये हुए हैं।

तुम कारन मैं कह्या दृष्टांत, जीव सो वचन विचारो एकांत।
बैकुंठ ठौर तित का ग्यान, केहेने वाला श्री भगवान।।६३।।

आपको प्रबोधित करने के लिये ही भगवान विष्णु एवं लक्ष्मी जी का यह दृष्टान्त दिया है। आप अपने अन्दर एकान्त में इस विषय पर चिन्तन कीजिए। वैकुण्ठ में रहने वाले भगवान विष्णु भी बेहद के ज्ञान को मात्र संकेत से ही कह पाते हैं, स्पष्ट नहीं।

लखमीजी तहां श्रोता भई, कई विध कसनी कर कर रही।
तो भी न पाया एक वचन, तुम धाम धनी ले बैठे धन।।६४।।

विष्णु भगवान की अर्धांगिनी लक्ष्मी जी श्रोता हैं। वे अखण्ड का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार की कष्टसाध्य तपस्यायें तो करती हैं, किन्तु बेहद मण्डल का एक शब्द भी नहीं सुन पाती हैं। आप कितने भाग्यशाली हैं कि आपके पास अक्षरातीत एवं परमधाम के ज्ञान का अनमोल धन है।

अजहूं ना तुम टालो भरम, क्यों ना करत हो जीव नरम।
ए नौतनपुरी जो कही नगरी, श्री देवचंदजीऐं लीला करी।।६५।।

हे साथ जी! अभी भी आपके मन में अक्षरातीत की पहचान सम्बन्धी जो संशय बना हुआ है, उसे क्यों नहीं हटा रहे हैं? आप अपने जीव को कोमल हृदय वाला क्यों नहीं बना रहे हैं कि वह धाम धनी की पहचान कर सके। नवतनपुरी में धाम धनी ने सर्वप्रथम श्री देवचन्द्र जी के तन में विराजमान होकर लीला की है।

भावार्थ– इस चौपाई में यह सांकेतिक रूप में कहा गया है कि सुन्दरसाथ बिहारी जी की गादी में ही अक्षरातीत के विराजमान होने का भ्रम क्यों पाले हुए हैं? इस तरह की भ्रान्तियों का शिकार होने वाले सुन्दरसाथ प्रायः कठोरता, जड़ता, एवं हठ की प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं, जिसका यहाँ संकेत किया गया है।

ए प्रगट वचन किए अपार, तो भी ना हुई तुमें सुध सार।
छोड़ो अमल माया जोर कर, जीव जगाओ वचन चित धर।।६६।।

आपको जाग्रत करने के लिये ही धाम धनी ने श्री देवचन्द्र जी के तन से ज्ञान की अपार वर्षा की, फिर भी आपको अपने प्रियतम अक्षरातीत की पहचान न हो सकी। अब आप अपने आत्मिक बल का उपयोग कीजिए तथा माया के नशे को छोड़ दीजिए। प्रियतम के द्वारा कहे गये तारतम ज्ञान के वचनों से अपने जीव को जाग्रत कीजिए।

ए माया देखो न्यारे होए, भई तारतम की रोसनाई दोए।
जो बानी श्री धनिएँ दई, सो आतम के अंदर तुम क्यों ना लई।।६७।।

तारतम ज्ञान का उजाला दो तनों (श्री देवचन्द्र जी और मेरे) से हुआ है। उसे आत्मसात् कीजिए, जिससे

आपको माया में लिप्त न होना पड़े और आप कूटस्थ (द्रष्टा मात्र) होकर इस मायावी खेल को देख सकें। मुझे खेदपूर्वक कहना पड़ा रहा है कि प्राणेश्वर अक्षरातीत ने आपको जो परमधाम की यह ब्रह्मवाणी दी है, उसे आपने अपनी आत्मा के अन्दर आत्मसात् क्यों नहीं किया?

माया गुन सब करो हाथ, पेहेचानो प्राण को नाथ।
अब एता आतमसों करो विचार, कौन वचन कहे आधार।।६८।।

प्राणाधार श्री सुन्दरसाथ जी! माया से उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों पर विजय प्राप्त करके प्रेममयी त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त कीजिए और अपने प्रियतम प्राणनाथ को पहचानिये। अपनी आत्मिक दृष्टि को खोलकर इस बात का विचार कीजिए कि हमें जाग्रत करने के लिये प्रेम के अपनेपन से इतनी मीठी बातें कौन कह रहा है?

जोलों जीव विचार विकार न काटे, ज्यों छींट ना लगे घड़े चिकटे।

इंद्रावती कहे सुनो साथ, जिन छोड़ो अपनो प्राणनाथ।।६९।।

जिस प्रकार तेल, घी आदि चिकनाई के घड़े पर लग जाने से उस पर किसी भी प्रकार का रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार जब तक जीव विवेकपूर्वक विचार के द्वारा अपने विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) को दूर नहीं करता है तब तक उस पर प्रेम का रंग नहीं चढ़ता। श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! आप मेरी बात सुनिए। मायावी बन्धनों के मोह में आकर अपने प्राणनाथ अक्षरातीत को पीठ न दीजिए (विमुख न होइए)।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण को पढ़कर उन सुन्दरसाथ को आत्ममन्थन करना चाहिए, जो श्री प्राणनाथ जी की महिमा को सन्त, कवि, महापुरूष, और

शिष्य के रूप में दर्शाने का प्रयास करते हैं।

फेर फेर ना आवे ए अवसर, जिन हाम ले जागो घर।

थोड़े में कहया अति घना, जान्या धन क्यों खोइए अपना।।७०।।

प्रियतम की पहचान करके रिझाने का ऐसा अवसर बार–बार नहीं मिलता है। यदि आपने इस जागनी लीला में अपने प्राणधन अक्षरातीत को नहीं पहचाना , तो परात्म में जाग्रत होने पर भी यह चाहना बनी रहेगी कि मैंने माया में अपने धाम धनी को क्यों नहीं पहचाना ? इसलिये ऐसी स्थिति पैदा न होने दीजिए। मैंने थोड़े शब्दों में ही बहुत कुछ कह दिया है। जान–बूझकर आप अपने धन को क्यों खो रहे हैं, अर्थात् प्रियतम अक्षरातीत की पहचान क्यों नहीं कर रहे हैं?

हम आगे ना समझे भए ढीठ, तो दई श्री देवचंदजीऐं पीठ।

ना तो क्यों छोड़े साथ को एह, जो कछू किया होए सनेह।।७१।।

हे साथ जी! जब धाम धनी श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर लीला कर रहे थे, उस समय हम उन्हें पहचान नहीं पाये। जिसका परिणाम यह हुआ कि वे हमसे ओझल (अन्तर्धान) हो गये। यदि हमने उनसे कुछ भी प्रेमभाव दर्शाया होता, तो वे सम्भवतः सुन्दरसाथ से ओझल नहीं होते।

भावार्थ– इस प्रकार का कथन प्रेम की भावुकता में सीख देने के लिये किया जाता है। सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी का तन वृद्ध हो चुका था और श्री मिहिरराज जी के तन से जागनी लीला का प्रारम्भ होना था। इसलिये मूल स्वरूप की प्रेरणा से ही उनका अन्तर्धान हुआ।

अब फेर आए दूजा देह धर, दया आपन ऊपर अति कर।
अब ए चेतन कर दिया अवसर, ज्यों हंसते बैठे जागिए घर।।७२।।

किन्तु हमसे ओझल होने पर भी हमारे ऊपर उनकी अपार दया बनी रही है, तभी तो वे दूसरा (मिहिरराज जी का) तन धारण कर हमारे समक्ष पुनः प्रकट हो गये हैं। तारतम वाणी ने इस सुनहरे अवसर पर हमें सावधान कर दिया है कि हम अपने प्राणेश्वर को पहचान कर उनसे प्रेम करें, जिससे हम परमधाम में जब जागें तो हमारे मुख पर हँसी का मनोहर दृश्य हो।

सब मनोरथ हुए पूरन, जो ए बानी विचारो अंतस्करन।
ए तो इंद्रावती कहे फेर फेर, जो धाम धनी कृपा करी तुम पर।।७३।।

मैं इन्द्रावती आप से यह बात बार–बार कह रही हूँ कि धाम धनी की आपके ऊपर पल–पल कृपा बरस रही है।

यदि आप अपने हृदय में तारतम वाणी का विचार करें, तो आपको यह विदित होगा कि आपके मन में जो–जो इच्छायें (उचित) रही हैं, धाम धनी ने उन्हें अवश्य पूर्ण किया है।

प्रकरण ।।२९।। चौपाई ।।७३५।।

प्रगटबानी प्रकास की – राग सामेरी

प्रकाश ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ही अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी की पहचान कराना है, किन्तु ज्ञान दृष्टि से मात्र जान लेने पर भी यदि प्रियतम के प्रति प्रेम का अभाव रहता है, तो आत्म–जाग्रति अधूरी ही रह जाती है। पूर्ण जाग्रति के लिये ज्ञान के साथ–साथ प्रेम की भी अनिवार्यता है, अन्यथा माया की नींद हमसे अलग नहीं हो पायेगी। इस प्रकरण में यही बात विशेष रूप से दर्शायी गयी है, इसलिये इस प्रकरण को प्रकाश ग्रन्थ की प्रकट वाणी के नाम से जाना जाता है।

प्रकाश ग्रन्थ का आखिरी प्रकरण भी प्रकटवाणी ही कहलाता है, किन्तु उसमें परमधाम के प्रेम विवाद से लेकर जागनी लीला के समापन तक का संक्षिप्त विवरण है। वैसे तो सम्पूर्ण तारतम वाणी ही श्री महामति जी के

धाम हृदय से अक्षरातीत के द्वारा प्रकट हुई है, इसलिये परोक्ष (गोप्य, बातिनी) रूप से सम्पूर्ण वाणी को प्रकटवाणी कह सकते हैं, किन्तु प्रकाश ग्रन्थ में इन दो प्रकरणों (३०वें तथा ३७वें) को ही प्रकटवाणी के नाम से ख्याति प्राप्त होने का यही विशिष्ट कारण है।

सोई ने सोई सूते क्या करो जी, या अगिन जेहेर जिमी मांहीं जी।
जाग देखो आप याद करो, ए नींद निगल गई जीव के तांई जी।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि यह सम्पूर्ण मायावी जगत अग्नि की दहकती हुई लपटों एवं भयंकर विष के समान कष्टकारी है। इसमें भूले (सोये) हुए सुन्दरसाथ जी! आप इस प्रकार माया में सो–सो कर क्या प्राप्त करेंगे? तारतम वाणी के प्रकाश में प्रियतम का प्रेम लेकर आप जाग्रत हो जाइए तथा मूल मिलावे में विद्यमान अपने मूल स्वरूप

को याद (चिन्तन) कीजिए। माया की नींद ने तो आपके जीव को निगल ही लिया है।

भावार्थ– जिस प्रकार वन में आग लग जाने पर वह पल–पल बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार विषय–विकारों को भोगने से इच्छा रूपी अग्नि और बढ़ती जाती है। विषयों की तृष्णा उस विष के समान है, जो मृत्यु का कारण बनता है। यदि जीव में विषय–भोग की तृष्णा ही न हो, तो वह जन्म–मरण के चक्र में भटकेगा ही क्यों? यही कारण है कि उपरोक्त चौपाई में मायावी नींद की उपमा अग्नि और विष से दी गयी है। जिस प्रकार नींद में जीव स्वयं को भूल जाता है, उसी प्रकार विषयों की चाहत में चेतना अपने अमृत स्वरूप को भूली रहती है। इसे ही नींद या अविद्या कहते हैं।

ए नींद तिनको ले गई रे, जो नाहीं साथी आपन जी।

इन ठगनी जिमिऐं बोहोतक ठगे रे, तुम जिन सोओ इत खिन जी।।२।।

इस संसार के वे सभी प्राणी जो परमधाम या बेहद मण्डल के नहीं है, या उनके पास वहाँ का ज्ञान नहीं है, उन्हें माया ने अपने बन्धनों में फँसा रखा है। यह सम्पूर्ण मायावी जगत छलमयी है। बहुत से बड़े–बड़े ज्ञानी एवं तपस्वी जन भी इसके मोहक जाल में फँस कर ठगे जा चुके हैं। इसलिये हे साथ जी! अब आप क्षण भर के लिये भी माया की नींद में न सोइए, अर्थात् मायावी सुखों के मोह में न फँसिए।

नाहीं रे नींद कोई घेन घारन, नींद होए तो लीजे उठाए जी।

उठाए जीव को खड़ा कीजे, फेर पड़े सोई उलटाए जी।।३।।

माया की यह नींद कोई सामान्य नींद नहीं है, बल्कि

यह तो कोई एक प्रकार का गहरा नशा है। यदि यह सामान्य नींद होती, तो उससे जगाकर उठा भी दिया जाता। यदि किसी को ज्ञान के द्वारा जाग्रत करके धनी के प्रति श्रद्धा–विश्वास पर आरूढ़ (खड़ा) भी किया जाता है, तो कुछ समय के ही पश्चात् वह पुनः माया की गहरी नींद में सो जाता है।

सोई घेनने सोई घारन रे, सोई घूटन अधकी आवे जी।
याही जिमी और याही नींद से, धनी बिना कौन जगावे जी।।४।।

इस संसार में माया की गहरी नींद का ऐसा मोहक नशा छाया हुआ है कि उससे घुटन होने लगती है। प्रियतम अक्षरातीत के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है, जो इस संसार में माया की नींद से जगाकर हमें जाग्रत करे।

भावार्थ– मायावी विकारों की गहन आसक्ति रूपी निद्रा

में फँसा होना तो कष्टकारी है ही, किन्तु उससे भी अधिक कष्टकारी है भोगों के प्रति अत्यधिक मोह के कारण परब्रह्म के प्रेम से विमुख होना। इसे ही इस चौपाई में "घुटन" की संज्ञा दी गयी है। सामान्यतः घुटन शरीर की वह कष्टदायी प्रक्रिया है, जिसमें ऐसा लगता है कि गले की साँस रुक जायेगी।

इन जेहेर जिमी से कोई न उबरया, तुम सूते तिन ठाम जी।
ए जेहेर जिमी अगिन उजाड़ रे, नहीं वसती इन गाम जी।।५।।

विषयों के विष से परिपूर्ण इस मायावी जगत में ऐसा कोई भी व्यक्ति (जीव सृष्टि का) नहीं हुआ है, जो इसके बन्धनों को तोड़कर पूर्णतया मुक्त हो सका हो। किन्तु आश्चर्य के साथ मुझे यह कहना पड़ रहा है कि आप भी इस माया की नींद में निश्चिन्त होकर सो रहे हैं। मायावी

विकारों के विष से भरा हुआ यह जगत तृष्णा की भयंकर अग्नि से इस प्रकार जलकर राख हो चुका है कि इसमें मनुष्यों के रहने योग्य कोई गाँव या बस्ती ही नहीं है।

ए विख की जिमी और विख के बिछौने, विखै की आकार जी।
अष्ट धात मिने सब विख के, विखै का विस्तार जी।।६।।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड माया के विष से बना हुआ है। हमारा यह पञ्चभूतात्मक शरीर भी विष का ही है और जिस सुख रूपी शय्या पर यह विश्राम करता है वह भी विष का है। इस शरीर की आठों धातुएँ (रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, और ओज) भी विषमयी हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत में मायावी विष का विस्तार दृष्टिगोचर हो रहा है।

भावार्थ– विष वह पदार्थ है जिसके सेवन से मृत्यु हो

जाये। मोह तत्त्व मूलतः अव्यक्त है। उससे महत्तत्व और तत्पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध) की उत्पत्ति होती है। तीनों गुणों के बन्धन में फँसा हुआ जीव पाँचों विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध) का सेवन करता है जो प्रत्यक्ष विष रूप हैं। इन्हीं के सेवन से जन्म–मरण का चक्र बना रहता है। इन्हीं को लक्ष्य करके इस सम्पूर्ण प्रकरण में विष (प्रत्यक्ष) कहा गया है। मोहतत्त्व, महत्तत्व, तथा अहंकार आदि पञ्च सूक्ष्म भूतों (तन्मात्राओं) के कारण–महाकारण रूप हैं, इसलिये ये परोक्ष (गुप्त) रूप से विष हैं।

गुन पख इंद्री सब विख के, विखै को सब आहार जी।
आतम निरमल एक वतन की, सो तो कही निराकार जी।।७।।

हमारे शरीर में विद्यमान तीनों गुण (सत्व, रज, तथा तम), पक्ष (अन्तःकरण), तथा इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय) विषमयी हैं। इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भोगे जाने वाले लौकिक सुख विष रूप हैं। इस नश्वर तन में मात्र आत्मा ही निर्मल है जो परमधाम से आयी है तथा जीव पर विराजमान होकर इस खेल को देख रही है, किन्तु वह निराकार है।

भावार्थ– इस चौपाई में आत्मा का निराकार कहने का आशय यह है कि उसके पञ्चभूतात्मक हाथ, पैर, मुख आदि अंग नहीं हैं, किन्तु श्रृंगार ग्रन्थ के चौथे प्रकरण का सूक्ष्म अवलोकन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा होने से उसके भी सभी अंग हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि परात्म के सभी अंग नूरमयी हैं, जबकि आत्मा के सभी अंग प्रतिबिम्ब स्वरूप

हैं।

यदि यह प्रश्न किया जाये कि परात्म का जो स्वरूप प्रतिबिम्ब या सुरता के रूप में होता है, वह किस पदार्थ का है? क्या वह नूरमयी है या मोहमयी? जब यह ब्रह्माण्ड ही मोहमयी है, तो आत्मा के अंग–अंग का स्वरूप कैसा माना जायेगा? क्योंकि श्रृंगार की वाणी तो स्पष्ट रूप से आत्मा के अंग–अंग की घोषणा करती है–

जब पूरन सरूप हक का, आए बैठा मांहें दिल।
तब सोई अंग आतम के, उठ खड़े सब मिल।।

श्रृंगार ४/७०

स्वप्न का द्रष्टा मन महत्तत्व से उत्पन्न होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि जाग्रत अवस्था में मन ने जिस पदार्थ को देखा था जब उसे स्वप्न की अवस्था में देखता है तो स्वप्न में प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ की रचना किस

पदार्थ से मानी जायेगी? कठोपनिषद ३/११ का कथन है–

महतः परम अव्यक्तः अव्यक्ताद् पुरूषः परः।

पुरुषाद् न परमं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।।

अर्थात् महत्तत्व से सूक्ष्म कारण प्रकृति है, जो अव्यक्त है। उससे भी सूक्ष्म पुरुष (जीवात्म पुरुष तथा परमात्मा पुरुष) है।

ऐसी अवस्था में चैतन्य जीव के स्वरूप को अव्यक्त कारण प्रकृति से भी सूक्ष्म मानना पड़ेगा, तभी उसे छेदन–भेदन से रहित कहा जा सकता है। यदि उसे कारण प्रकृति से स्थूल माना जाये, तो ऐसी धारणा बनायी जा सकती है कि चैतन्य जीव के अन्दर जड़ प्रकृति विद्यमान है।

जब कारण प्रकृति को अवयव विहीन होने के कारण

निराकार कहते हैं, तो जीव को भी निराकार मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में परात्म की प्रतिबिम्ब स्वरूपा आत्मा को भी निराकार ही माना जायेगा, क्योंकि उसके स्वरूप का निर्धारण भौतिक आँखों से देखकर नहीं, बल्कि आत्मिक दृष्टि से होता है।

जब जीव का स्वरूप मोहात्मक नहीं होता तो आत्मा का स्वरूप मोहात्मक कैसे हो सकता है? यद्यपि उसे परात्म की तरह नूरमयी नहीं कह सकते, किन्तु वह नूरमयी स्वरूप में ही दृष्टिगोचर होती है। किन्तु उसका स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि उसे साकार–निराकार या मोहमयी पदार्थ के बन्धन में नहीं बाँध सकते। वस्तुतः आत्मा सच्चिदानन्दमयी ही है, किन्तु प्रकृति के दृश्यों को देखने में तल्लीनता के कारण उसकी यह शोभा आवृत्त हो जाती है और उसे भी जीव के प्राकृतिक बन्धनों से जोड़

कर देखा जाने लगता है।

विख की तलाई ने विख के ओढ़ना, विख पलंग दिया बिछाए जी।

विखका सिराने विख का ओछाड़, विख पंखा विख वाए जी।।८।।

विश्राम करने के लिये प्रयोग में आने वाले सुन्दर बिछा हुआ पलंग, गद्दा, तथा ओढ़ने के काम में आने वाली चादर या रजाई आदि सभी विषमयी हैं। शिर के नीचे रखा जाने वाला तकिया तथा गद्दे के ऊपर बिछायी जाने वाली पतली सफेद चादर भी विष के ही समान है। गर्मी से रक्षा के लिये प्रयोग में आने वाला पँखा तथा उससे निकलने वाली वायु भी विषमयी ही है।

भावार्थ– विश्राम के इन संसाधनों को विषयुक्त कहने का आशय यह है कि इनका मोह आत्मिक कल्याण में बाधक बन जाता है। इनके ऊपर आश्रित रहकर कभी

भी शान्ति या परम तत्त्व को नहीं पाया जा सकता।

जागते विख और सुपने विख रे, नींद में विख निदान जी।
बाहेर का विख क्यों कर कहूं रे, वहे आंधी वाए अग्यान जी।।९।।

भले ही हम जाग्रत अवस्था में रहें या स्वप्न देखें, अथवा गहरी–मीठी नींद का सुख लें, इन सबमें केवल माया के विष का ही स्वाद मिलेगा। जब अन्तःकरण में ही अज्ञानता की तीव्र हवा बह रही है, तो मैं बाहर के विष का औपचारिक वर्णन क्या करूँ?

वस्तर विख के भूखन विख के, सकल अंग विख साज जी।
ए विख नख सिख जीव को भेदयो, सो क्यों छूटे बिना श्री राज जी।।१०।।

इस संसार में शरीर का श्रृंगार करने के लिये जिन वस्त्रों तथा आभूषणों का प्रयोग किया जाता है, वे सभी विष के

समान कष्टदायी हैं। शरीर के सभी अंगों में विष का ही साम्राज्य होता है। माया के इस विष ने तो जीव के द्वारा धारण किये गये इस शरीर के नख से शिख तक रोम–रोम में अपना घर बना लिया है। यह मोहमयी बन्धन बिना श्री राज जी की कृपा के नहीं छूट सकता।

जोर कर तुम जागो जीव जी, नहीं सूते की एह जिमी जी।
ज्यों ज्यों सोइए त्यों त्यों बाढ़े विख विस्तार, पीछे दुख पावे जीव आदमी जी।।११।।

मेरे जीव! अब तुम अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जाग्रत हो जाओ। यह जागनी ब्रह्माण्ड सोने के लिये नहीं है। इस संसार में तो जितना ही अधिक माया की नींद में सोया जायेगा, उतना ही अधिक माया का विष बढ़ता जायेगा, अर्थात् विषय सुखों में जितना ही अधिक लिप्त रहा जायेगा, जन्म–मरण का चक्र भी उतना ही शक्तिशाली

होता जायेगा। माया की नींद को न छोड़ने का परिणाम यह होता है कि बाद में मनुष्य के जीव को दुःख भोगना पड़ता है।

ए जिमी तुम क्यों न छोड़ो, अजूं नाहीं नींद बाढ़ी जी।
इन जिमी नींद दुखड़े घनें रे, पीछे क्योंए न जाए काढ़ी जी।।१२।।

हे साथ जी! इस मायावी जगत से आप अपना ध्यान क्यों नहीं हटाते हैं? ऐसा लगता है कि जैसे अभी भी आपकी माया की नींद पूरी नहीं हुई है, अर्थात् लौकिक सुखों से आपकी आसक्ति नहीं हटी है। इस संसार के विषय सुखों में लिप्त हो जाने पर इतना दुःख भोगना पड़ेगा कि बाद में उनसे छुटकारा मिल पाना कठिन होगा।

बोहोत देखे दुख अनेक होएसी, ताथें उठो तत्काल जी।
जल के जीव को घर जल में, ज्यों रहे मकड़ी मांहें जाल जी।।१३।।

आपने अभी तक बहुत अधिक दुःख देखा है। यदि आप ऐसे ही माया की नींद में सोते रहे, तो निश्चित है कि भविष्य में आपको और अधिक दुःख देखने पड़ेंगे। इसलिये आप इसी क्षण माया की नींद को छोड़ दीजिए और जाग्रत हो जाइए। मछली, मगर, आदि जल के जीवों का घर जल ही है। वे उसका परित्याग कैसे कर सकते हैं? इसी प्रकार मकड़ी भी अपने ही शरीर के तन्तुओं से बने हुए जाल को छोड़ नहीं पाती है, किन्तु आप तो परमधाम की ब्रह्मसृष्टियाँ हैं। इस मायावी जगत में आप क्यों उलझे हुए हैं?

सब कोई जाली गूंथे अपनी, फेर अपनी गूंथी में उरझाए जी।
उरझे पीछे कई दुख देखे, दुखै में जीव जाए जी।।१४।।

इस संसार में प्रत्येक प्राणी लौकिक सुखों एवं सगे–सम्बन्धियों को मिलाकर मोह का एक जाल बनाता है। प्रेम, शान्ति, एवं आनन्द पाने की चाहत में वह पल–पल उसमें उलझता ही जाता है। उलझ जाने के पश्चात् उसे अनेकों प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है और दुःख भोगते–भोगते ही उसका देहान्त होता है।

बोहोत दुख देखे जीव जाते, तो भी गूंथे जाली फेर फेर जी।
दोष नही इन मकड़ी का रे, इनका घर हुआ जाली अंधेर जी।।१५।।

मोह जाल में फँसा हुआ प्राणी बहुत अधिक दुःख पाता है। फिर भी अनेक योनियों में जन्म लेकर वह बार–बार मोह की पूर्ववत् जाली को गूँथता रहता है। भला, जाल में

फँसी हुई मकड़ी का दोष ही क्या है? उसका तो घर ही जाला है। इसी प्रकार मोह (नींद) से उत्पन्न होने वाले जीवों का घर ही नींद है। वे उसे कैसे छोड़ सकते हैं?

अपने घर इत नाहीं साथजी, चौदे भवन में कित जी।
ता कारन पिउजी करें रे पुकार, तुम क्यों सूते इत जी।।१६।।

हे साथ जी! चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी हमारा घर नहीं है। इसलिये धाम धनी तारतम ज्ञान द्वारा आपको जाग्रत होने के लिये पुकार रहे हैं। आप इस संसार में माया की नींद में क्यों सो रहे हैं?

ओ दुख के घर सो भी ना छोड़े, तुम याद ना करो सुख के घर जी।
सास्त्र सबों पे साख देवाई, तुम अजहूं ना देखो चित धर जी।।१७।।

माया के जीव तो अपने दुःखमयी घर को भी नहीं

छोड़ना चाहते हैं, किन्तु आप ऐसे हो गये हैं कि आप बार–बार याद दिलाने पर भी अपने अनन्त आनन्द के घर परमधाम को याद नहीं कर पा रहे हैं। प्रियतम ने श्री देवचन्द्र जी के तन से सभी शास्त्रों में वर्णित परमधाम की साक्षी भी दिलवायी, फिर भी आप अभी तक अपने हृदय में परमधाम को आत्मसात् नहीं कर पा रहे हैं।

बेहद सुख पार बेहद घर, बेहद पार श्री राज जी।
अछरातीत सुख अखंड देवे को, मै जगाऊं तुमारे काज जी।।१८।।

निराकार (नींद) के परे, ईश्वरी सृष्टि का घर बेहद है, जहाँ अनन्त सुख है। उस बेहद मण्डल से भी परे स्वलीला अद्वैत परमधाम है, जहाँ प्रियतम श्री राज जी विराजमान हैं। मैं आपको तारतम वाणी के द्वारा जगाने का प्रयास इसलिये कर रहा हूँ कि आपको अपने

परमधाम का अखण्ड सुख प्राप्त हो सके।

पिउ पुकार पुकार थके, तुम अजहुं जल बिन गोते खात जी।
दिन उगते संझा होत है, पीछे आड़ी पड़ेगी रात जी।।१९।।

प्रियतम आपको जगाने के लिए तारतम वाणी के द्वारा पुकारते–पुकारते थक गये हैं। आप अभी भी बिना जल वाले भवसागर में डुबकियाँ लगा रहे हैं। दिन उगने के पश्चात् सन्ध्या होती है। तत्पश्चात् रात का आना तो स्वाभाविक ही है।

रात पड़ी तब कोई न जागे, पीछे कोई ना करे पुकार जी।
निसाएँ नींद जोर बाढ़ेगी, पीछे बढ़ेगा विख विस्तार जी।।२०।।

अज्ञानता की अन्धकार रूपी रात्रि का समय आ जाने पर कोई आत्मा जाग्रत नहीं हो सकेगी। उस समय

आपको कोई पुकार कर जगाने वाला भी नहीं होगा। अज्ञानता की उस रात्रि में विषय सुखों की चाहत और अधिक बढ़ेगी। परिणाम स्वरूप, माया का विष उत्तरोत्तर बढ़ता जायेगा।

संझा लगे धनी रेहेसी साथ कारन, तुम अजहूं ना नींद निवारो जी।
पेहेचान पिउ सुख लीजिए, तुम अपना आप वार डारो जी।।२१।।

सुन्दरसाथ को जगाने के लिये धाम धनी सन्ध्या समय तक प्रत्यक्ष रूप से सबके मध्य रहेंगे, किन्तु साथ जी! आप इस समय भी अपनी माया की नींद छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आप तारतम वाणी के प्रकाश में अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की पहचान करें और अपनी आत्मा का आनन्द लीजिए। उनके ऊपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दीजिए।

भावार्थ– उपरोक्त तीन चौपाइयों में रात्रि, प्रातः, तथा सन्ध्या काल का वर्णन है। आगे चौपाई २९ में दोपहर का भी वर्णन है। इस प्रकार का कथन ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं का द्योतक है।

रात्रि का समय अज्ञानता के अन्धकार का प्रतीक है। घनघोर काली रात्रि वह है, जिसमें तारतम ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण किसी को भी परब्रह्म के धाम, स्वरूप, एवं लीला का बोध नहीं था। तारतम ज्ञान का प्रकाश लेकर पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी आये। "वह चांद ए सूरज आखिरी इमाम" (ब.क.१२/४) का कथन यही सिद्ध करता है। रास, प्रकाश, खटऋतु, कलश, आदि ग्रन्थों के अवतरण से प्रातःकाल का उजाला तो फैल गया था, किन्तु खुलासा ग्रन्थ के अवतरण के साथ ही सूर्योदय के रूप में

प्रकाश का फैलना प्रारम्भ हो गया। खिल्वत, परिक्रमा, सागर, श्रृंगार, सिन्धी, तथा मारिफत सागर के अवतरण का काल दोपहर का है, जिसमें ज्ञान का सूर्य श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप में अपने प्रचण्ड तेज से तप रहा था। सन्ध्या का समय वि.सं.१७४८–१७५१ का है, जिसमें तारतम वाणी का अवतरण बन्द हो गया था तथा श्री महामति जी सुन्दरसाथ को चितवनि की सीख देने के लिये स्वयं चितवनि में संलग्न हो गये थे। सन्ध्या काल (वि.सं.१७५१) तक धाम धनी प्रत्यक्ष रूप से श्री मिहिरराज जी के तन से लीला करते रहे हैं।

वि.सं.१७५१ के पश्चात् छठें दिन की लीला प्रारम्भ होती है। इसमें अक्षरातीत श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान तो होते हैं, किन्तु ब्रह्मात्माओं को जागनी कार्य की शोभा दी जाती है। विदित हो कि अमावस्या को

छोड़कर प्रत्येक रात्रि में, कम या अधिक मात्रा में, चन्द्रमा की शीतल चाँदनी फैली होती है। इसी प्रकार छठें दिन की लीला में भिन्न–भिन्न परमहंसों ने चन्द्रमा की तरह तारतम ज्ञान का प्रकाश फैलाकर जागनी की है। इस काल में तारतम वाणी की उपस्थिति में भी अज्ञानता का ऐसा अन्धकार फैला हुआ है कि सुन्दरसाथ चितवनि छोड़कर चित्र पूजा, समाधि पूजा, एवं वृक्ष पूजा आदि के भ्रम में फँसा हुआ है। प्रातःकाल से पूर्व का अन्धकार महाप्रलय का समय है, जिसके पश्चात् आत्मायें अपनी परात्म में जाग्रत होकर पूर्ण जाग्रति का सुख लेंगी।

पुकार करते रात पड़ी, पिउ रात ना रेहेसी निरधार जी।
जो दुस्मन तुमको भुलावत हैं, सो तुम क्यों न करत विचार जी।।२२।।

सुन्दरसाथ को जगाने के लिये धाम धनी के द्वारा पुकारते–पुकारते (चर्चा सुनाते –सुनाते) छठें दिन (रात्रि) की लीला का समय आ जायेगा। उस समय निश्चित रूप से प्रियतम इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से नहीं रहेंगे, अर्थात् अन्तर्धान लीला के पश्चात् गुप्त रूप से ब्रह्मात्माओं के धाम हृदय में विराजमान होकर जागनी लीला करेंगे। हे साथ जी! आप इस बात का विचार क्यों नहीं करते हैं कि माया के सुखों तथा सगे –सम्बन्धियों का मोह आपको प्रियतम के प्रेम से विमुख कर रहा है।

ए विखम भोम छोड़ते जो आड़ी करे, सो जानियों तेहेकीक दुस्मनजी।
जो लेने न देवे सुख अखंड, सो क्यों न देखो सुन वचन जी।।२३।।

आप तारतम वाणी के वचनों को सुनकर भी उनका विचार क्यों नहीं करते ? अनेक प्रकार की भयंकर

आपदाओं वाले इस संसार में अपना ध्यान हटाने (छोड़ने) में जो बाधायें खड़ी करे तथा अखण्ड धाम का सुख न लेने दे, उसे निश्चित रूप से अपना शत्रु समझना चाहिए।

भावार्थ– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध आदि विषयों तथा सगे–सम्बन्धियों का मोह इतना मोहक होता है कि उसे छोड़कर कोई विरला ही परब्रह्म से एकनिष्ठ भाव से प्रेम करता है। वस्तुतः इन्हें ही अपनी आध्यात्मिक यात्रा का सबसे बड़ा शत्रु मानना चाहिए।

ए दुस्मन तेरे विख भरे, जिन लियो संसार घेर जी।
ओ भुलावत तुमको जुदी भांतें, तुम जिन भूलो इन बेर जी।।२४।।

विषय सुख तथा लौकिक सगे–सम्बन्धी माया के भयानक विष से भरे हुए हैं। इन्होंने सम्पूर्ण संसार पर

अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ है। ये आपको अपने आकर्षण जाल में भुलाकर भ्रमित कर रहे हैं और धनी के चरणों से दूर कर रहे हैं। ऐसे अनमोल समय में आप प्रियतम को पीठ देने की भूल न कीजिए।

भी तुमको दिखाऊँ दुस्मन, जिनहूँ न छोड़या कोए जी।
सो तुमको दिखाऊँ जाहेर, तुमको अंदर झूठ लगावे सोए जी।।२५।।

हे साथ जी! मैं आपको आपके उन शत्रुओं की स्पष्ट पहचान कराती हूँ, जिन्हें कोई भी धनी के प्रेम से रहित यथार्थ रूप से छोड़ नहीं पाता है। ये शत्रु आपके अन्दर ही बैठे हुए हैं और आपको मिथ्या जगत के जाल में फँसाते रहते हैं।

गुन अंग इंद्री देखो रे चलते, जो उलटे लगे संसार जी।
एही दुस्मन विसेखे अपने, सो करत हैं सिर पर मार जी।।२६।।

हे साथ जी! तीनों गुणों, अन्तःकरण, तथा इन्द्रियों की प्रवृत्ति जब जीव को संसार की ओर ले चलती है और प्रियतम से विमुख कर देती है, तो आपको यही मानना चाहिए कि ये ही हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं, जो सिर पर हथौड़े से मारने जैसा प्रहार करके हमारा अहित कर रहे हैं।

तुम करो लड़ाई इनसों, मार टूक करो दुस्मन जी।
फेर वाको उलटाए चेतन करो, ज्यों होवें तुमारे सजन जी।।२७।।

आपके जीव के साथ शत्रु जैसा व्यवहार करने वाले इन गुणों, अन्तःकरण, एवं इन्द्रियों को विवेक की तलवार से मार कर टुकड़े–टुकड़े कर दो और इनकी क्रियाशीलता

को उल्टी दिशा में घुमाकर परब्रह्म की ओर मोड़ दो, जिससे ये जाग्रत होकर आपके प्रति मित्रवत् व्यवहार करें।

भावार्थ– तम एवं रज की अधिकता से मनुष्य के अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ, मोह, तथा मद का साम्राज्य हो जाता है। परिणाम स्वरूप, अन्तःकरण के अधीन होने से इन्द्रियाँ विषय भोगों में लिप्त हो जाती हैं। किन्तु हानि जीव की होती है, जो असहाय अवस्था में जन्म–मरण के चक्र में घूमने के लिये विवश हो जाता है।

यदि धाम धनी की कृपा से अन्तःकरण में विवेक पैदा हो जाये, रज एवं तम निर्मल हो जायें, तो सत्व प्रबल हो जाता है। ऐसी अवस्था में अन्तःकरण में ज्ञान, भक्ति, विवेक, वैराग्य, आदि गुणों की प्रबलता हो जाती है, जिससे इन्द्रियाँ भी विषय–विकारों से परे होकर धर्म मार्ग

पर चलने लगती हैं। इस अवस्था में शत्रु प्रतीत होने वाले अन्तःकरण आदि भी मित्र की भांति जीव को सहयोग देने लगते हैं।

सनमंधी साथ को कहे वचन, जीव को एता कौन कहे जी।
ए वानी सुन ढील करे क्यों वासना, सो ए विखम भोम क्यों रहे जी।।२८।।

हे साथ जी! आप परमधाम से आये हैं, इसलिये मैंने ये बातें कही हैं। भला संसार के जीवों के लिए मैं इतना प्रवचन क्यों करूँगी? धनी की इस वाणी को सुनकर परमधाम की आत्मायें युगल स्वरूप एवं परमधाम की शोभा को अपने धाम हृदय में बसाने में आलस्य नहीं करेंगी। वे भयंकर दुःखों वाले इस मायावी जगत के प्रपञ्चों में भी क्यों फँसेंगी (बिल्कुल नहीं)?

छल की भोम को तुम समझत नाहीं, ना सुनत मेरी बात जी।
जानत हो दिन दो पोहोर रेहेसी, पाओ पल में हो जासी रात जी।।२९।।

हे साथ जी! इस प्रपञ्चमयी जगत की वास्तविकता को न तो आप जानते हैं और न ही मेरी बात सुनना चाहते हैं। इस बात को ध्यान में रखिए कि वर्तमान समय में ज्ञान की दोपहरी का समय चल रहा है। इसके बाद दो प्रहर का समय और बीत जाने के पश्चात् चौथाई पल में ही रात्रि का समय आ जाने वाला है, अर्थात् सम्पूर्ण वाणी के अवतरण के पश्चात् छठें दिन की लीला का समय आ जायेगा।

भावार्थ– यह जगत असत, जड़, एवं दुखमयी है, किन्तु अज्ञान के कारण यह सदा रहने वाला एवं सुखमयी प्रतीत होता है। यही छल है।

एक दिन में चार प्रहर का समय होता है। दो पहर (१२

बजे) के बाद दो और प्रहर होते हैं, जिनके बाद रात्रि आ जाती है।

अबही रात आई देखोगे, उठसी अनेक अंधेर जी।

जीव अंधेर जब देख उरझसी, तब आवसी विख के फेर जी।।३०।।

भले ही दोपहर के सूर्य के समान तारतम ज्ञान का अवतरण क्यों न हो रहा हो, किन्तु यदि आप इसे आत्मसात् नहीं करेंगे तो आपके लिये इस तपती दोपहरी में भी रात्रि जैसा अनुभव होगा, जिसमें अन्धकार रूपी अज्ञानता के अनेक द्वन्द्वों (उलझनों) से आपको संघर्ष करना पड़ेगा। आपका जीव जब अपने ऊपर पड़ने वाले अज्ञानमयी अन्धकार के बन्धनों में फँस जायेगा, तो उसे माया के विष भरे जन्म–मरण के चक्र में भ्रमण करने का दुःख भोगना होगा।

विख के फेर अनेक उपजसी, करम केरा जे दुख जी।

भी फिरसी फेर अनेक विधके, काहूं जीव को न होवे सुख जी।।३१।।

अपने किये हुए अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप दुःख भोगने के लिये माया के विष से परिपूर्ण अनेक जन्मों में भटकना पड़ेगा। अनेक योनियों के अनेक जन्मों में भटकने वाले जीव को कहीं भी सुख प्राप्त नहीं हो पाता है।

सुनियो जो तुम हो ब्रह्मसृष्ट के, जिन आओ मांहें रात जी।

इन रात के दुख घने दोहेले, पीछे उड़सी अंधेर प्रभात जी।।३२।।

हे साथ जी! यदि आप अपने को परमधाम की ब्रह्मसृष्टि मानते हैं, तो ऐसी स्थिति आने ही न दीजिए कि आपको अज्ञानता की रात्रि में भटकना पड़े। इस अवस्था में असह्य दुःख देखना पड़ेगा। अज्ञानता की रात्रि का यह

अन्धकार तो अगला प्रातःकाल होने पर ही हटेगा।

भावार्थ– छठें दिन की लीला में होने वाली रात्रि का अन्धकार तो महाप्रलय के पश्चात् परात्म में जाग्रत होने के बाद ही मिटेगा, किन्तु जिन सुन्दरसाथ ने तारतम वाणी के गुह्य रहस्यों को आत्मसात् करके प्रेममयी चितवनि के द्वारा अपने धाम हृदय में युगल स्वरूप की छवि को बसा लिया है, उन्हें छठें दिन की लीला में भी पाँचवे दिन की लीला जैसा ही सुख मिलेगा। छठें दिन की लीला में अज्ञानमयी रात्रि की बात मात्र उन सुन्दरसाथ पर घटित होगी, जो तारतम वाणी के ज्ञान एवं प्रेममयी चितवनि से दूर रहेंगे।

दूर होसी इन रात के प्रभात, रात छेह क्योंए न आवे जी।
दुख की रात घनूं लागसी दोहेली, पीछे फजर मुख न देखावे जी।।३३।।

अज्ञानमयी रात्रि का समय आ जाने पर पुनः प्रातःकाल आने में बहुत अधिक समय लगेगा। रात्रि ऐसी प्रतीत होगी कि जैसे उसका कोई अन्त ही न हो। दुःख की रात्रि इतनी कष्टदायिनी होगी कि निराशा में ऐसा कहा जायेगा कि पता नहीं प्रातः होगा या नहीं?

भावार्थ– छठें दिन की इस लीला में जिन सुन्दरसाथ के हृदय में अक्षरातीत श्री प्राणनाथ, परमधाम, या तारतम वाणी के प्रति पूर्ण आस्था, विश्वास, समर्पण, एवं प्रेम नहीं है, वे संशय की लहरों में डूबते–उतराते रहते हैं। उनका जीवन आन्तरिक रूप से काल्पनिक देवी–देवताओं की पूजा करने वाले जीवों के समान ही होता है, भले ही उन्होंने कई वर्षों पूर्व तारतम क्यों न ले रखा हो। उन्हें महाप्रलय के पश्चात् अपनी परात्म में जाग्रत होने की बात पर भी विश्वास नहीं होता है। उपरोक्त

चौपाई के चौथे चरण में यही बात दर्शायी गयी है।

महाप्रले होसी जब लग, तबलों रेहेसी अंधेर जी।

ता कारन पिउजी करे रे पुकार, जिन भूलो इन बेर जी।।३४।।

महाप्रलय से पूर्व छठें दिन की लीला में अज्ञानता का अन्धकार छाया रहेगा। यही कारण है कि धाम धनी मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर आपको तारतम वाणी द्वारा पुकार–पुकार कर कह रहे हैं कि पाँचवे दिन की इस लीला में अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत से विमुख न होइए।

भावार्थ– जिस प्रकार रात्रि आ जाने पर किसी दिन चतुर्थी का चन्द्रमा उग कर शीतल चाँदनी फैला रहा होता है, किसी दिन अष्टमी का, तो किसी दिन दशमी का, उसी प्रकार भिन्न भिन्न परमहंसों द्वारा अज्ञानता की रात्रि में चन्दमा की शीतल चाँदनी का प्रकाश फैला कर

जागनी लीला की जायेगी। उसकी तुलना दोनों स्वरूपों (सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी और श्री प्राणनाथ जी) द्वारा होने वाली क्रमशः पूर्णमासी के चन्द्रमा एवं दोपहर के सूरज जैसी जागनी लीला से नहीं होगी। जो ब्रह्मसृष्टि जितना समर्पण एवं प्रेम दर्शायेगी, जागनी लीला के इस घटनाक्रम में वैसी ही शोभा मिलेगी।

इतना अवश्य है कि महाप्रलय के पश्चात् होने वाले प्रातःकाल से पूर्व, जिस प्रकार पूर्व दिशा में हल्की सी लालिमा फैल जाती है, उसी प्रकार साकुमार की जागनी लीला बहुत तीव्र गति से होगी। साकुण्डल ने जिस प्रकार अपनी गरिमा दर्शायी है, खेल के अन्त में साकुमार के द्वारा भी ऐसा ही किया जायेगा। इस सम्बन्ध में मोजजा ७९/१,७,८,१३,१४,१५ के ये अंश देखने योग्य हैं–

हनीफ की आखिर में पातसाही कही, मोमिन खुदा की हिन्द में रखी।
काजी कजा मिलाए जेह, मोमिन मर्द ए देखो तेह।।१।।
मद महा निजानन्द प्रेम, केलि रस में डूबे सब नेम।
अब तैयार हनीफ आखिर, बेटा अली का है असल।।७।।
ए चालीस तन में एक है, ए पातसाही इलम की ले।
कुदरत दूर राखी अर्श दिल, बका कोठरिया कही नकल।।८।।
आदम देह उमर नहीं फेर, हादी हक उम्मत इलम आप घेर।
हनीफा लश्कर जाहिर सावधान, दोड़े जो जिन सुनी कान।।१३।।
सब कोई धाए नंगे पाए, ऐसे हुक्म रहे बना ए।
जैसे गाजत गंभीर बरसात, कहा लोक हुए अगाध।।१४।।
हथियार हाथी भरे भंडा, हुए तुरी रथ को नाहीं पार।
पाए दल आगे जलेब, पीछ की गिने जीव अनेक।।१५।।

मोजजा ८०/११,२७ में कहा गया है–

जो सुबुद्धि मूल भगवान, सब इश्क निसबत मान।
हनीफ फौज जैसे बूंद, वातूनी जागनी रास कंद।।११।।
सेवा पदार्थ कहो सार, कर देखो आगे विचार।
साकुण्डल पांउ भर दिखाए, सो हनीफा जाहिर करी बनाए।।२७।।

तारतम के उजाले कर, रोसन कियो इन सूल जी।
कई कोट ब्रह्मांड देखाई माया, पाया अंकूर पेड़ मूल जी।।३५।।

धाम धनी ने करोड़ों ब्रह्माण्डों वाली यह जो माया दिखायी है, इसमें तारतम वाणी के प्रकाश में इस तथ्य को उजागर किया गया है कि अज्ञानतावश विषयों में फँसने से कैसा कष्ट होता है? इसके अतिरिक्त निज स्वरूप का परमधाम से जो सम्बन्ध है तथा इस सृष्टि का मूल कारण क्या है, इसका भी आपको यथार्थ बोध हुआ

है।

भावार्थ– पेड़ (वृक्ष) का आशय संसार है। इस संसार रूपी वृक्ष का कारण रूपी जो माया है, उसकी तथा अपनी आत्मा, परात्म, एवं परमधाम की पहचान तारतम वाणी से होती है।

पिउ पधारे बुलावन तुमको, तो होत है एती पुकार जी।
यों करते जो नहीं मानो, तो दुख पाए चलसी निरधार जी।।३६।।

आपको परमधाम ले जाने के लिये स्वयं धनी ही आये हैं और मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर आपको पुकार रहे हैं। यही कारण है कि आपसे इतना अधिक कहा जा रहा है। परमधाम चलने के लिये इतना आह्वान करने पर भी यदि आप नहीं मानते हैं और केवल माया में ही लिप्त रहते हैं, तो भी आपको अनिवार्य रूप से चलना ही

पड़ेगा, किन्तु इस भूल के लिये आपको माया में बहुत अधिक कष्ट उठाना होगा।

विखम बड़ा जल मांहें अंधेर, कई लगसी लेहेरें निघात जी।
विसेखें जीव बेसुध होसी, नहीं सुनोगे निध साख्यात जी।।३७।।

इस संसार रूपी भवसागर में अज्ञानता का बहुत ही भयानक अन्धकार छाया हुआ है। यदि आप साक्षात् आये हुए धाम धनी की अनमोल निधि रूपी इस तारतम वाणी के वचनों को नहीं सुनेंगे, तो आपको इस भवसागर की अज्ञानता और दुःख से भरी लहरों के भयंकर प्रहार को झेलना पड़ेगा। इसका विशेष परिणाम यह होगा कि आपका जीव पीड़ा से मूर्छित हो जायेगा।

मांहे मछ गलागल, लेहेरें आड़े टेढ़े बेहेवट जी।

दसो दिसा कोई ना सूझे, फिरवलसी अंधकार पट जी।।३८।।

इस भवसागर में जीव को निगलने के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि बड़े–बड़े मगरमच्छ हैं। सामने से तृष्णाओं की बड़ी–बड़ी लहरें जटिल (भयंकर) रूप धारण कर उसे बहाव में बहा ले जाने के लिये तैयार रहती हैं। चारों ओर अज्ञानता के अन्धकार का ऐसा घना परदा होता है कि उसे हटाकर कोई परम सत्य (परब्रह्म) को जान नहीं पाता।

भावार्थ– यद्यपि जीव के स्थूल शरीर को ही निगला जा सकता है, सूक्ष्म को नहीं, किन्तु उपरोक्त चौपाई में जीव को काम, क्रोध, आदि मगरमच्छों के द्वारा निगले जाने का अर्थ है– अपने वास्तविक स्वरूप को पूर्णतया भूलकर विषयों का कीड़ा (दास) बन जाना।

तुम हो अंग मेरे के, जिन देखो माया को मरम जी।

धाम धनी आए तुम कारन, तुमें अजहूँ न आवे सरम जी।।३९।।

हे साथ जी! आप सभी मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत श्री राज जी के अंग रूप हैं। ज्ञान का सर्वोपरि रहस्य यही है कि आप मायावी सुखों के विषय में सोचिये ही नहीं (देखिये ही नहीं)। धाम धनी आपको जगाने के लिये स्वयं आये हुए हैं। इस बात को जानते हुए आपको अभी भी लज्जा नहीं आ रही है कि माया को छोड़कर उनसे प्रेम करें।

भावार्थ– अंग–अंगी का भाव वस्तुतः लीला को समझने के लिये ही किया जाता है, अन्यथा स्वलीला अद्वैत परमधाम में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। यदि परम सत्य (मारिफत) की दृष्टि से देखा जाये, तो परमधाम में एकमात्र श्री राज जी ही हैं। दृष्टिगोचर होने वाले अन्य सभी स्वरूप उन्हीं के हृदय के व्यक्त स्वरूप

हैं। ऐसी अवस्था में स्वयं को अंग कहकर अंगी (श्री राज जी) से अलग (भिन्न) नहीं कहा जा सकता। लीला की दृष्टि से आत्मायें युगल स्वरूप की ही अंगरूपा हैं, श्री इन्द्रावती जी की नहीं।

ए नींद तुम को क्यों कर उड़सी, जोलों न उठो बल कर जी।
सेवा करो समें पिउ पेहेचान, याद करो आप घर जी।।४०।।

जब तक आप आपने आत्मिक बल का उपयोग कर दृढ़ विश्वास के साथ पुरूषार्थ नहीं करेंगे, तब तक माया की नींद नहीं हटेगी। आप तारतम वाणी के प्रकाश में अपने प्रियतम प्राणनाथ की पहचान करके उनकी प्रेमपूर्वक सेवा कीजिए, तथा चिन्तन और चितवनि के द्वारा अपने मूल घर परमधाम को याद कीजिए।

ए अमल तुमको क्यों रे उतरसी, जो जेहेर चढ़या अति भारी जी।
पिउजी के बान तो तोड़े संधान, पर तुमको केहे केहे हारी जी।।४१।।

आपके ऊपर माया के विष का इतना अधिक प्रभाव पड़ चुका है कि आपके अन्दर से इसके नशे (अत्यधिक मोह) का हट पाना बहुत कठिन है। यद्यपि प्रियतम की तारतम वाणी माया के बन्धनों को तोड़ देती है, किन्तु उसे आपको सुना–सुना कर मैं थक गयी हूँ। फिर भी आश्चर्य के साथ मुझे कहना पड़ रहा है कि आपके ऊपर उसका प्रभाव पड़ता नहीं दिख रहा है।

भावार्थ– यदि तारतम वाणी का प्रभाव ब्रह्मसृष्टियों पर ही नहीं पड़ेगा, तो जीव सृष्टि पर कैसे पड़ेगा? उपरोक्त चौपाई में अत्यधिक व्यथित भावों में व्यंग्यपूर्वक यह बात कही गयी है कि आपके ऊपर तारतम वाणी सुनने का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

जो जानो घर पाइए अपना, तो एक राखियो रस वैराग जी।

सकल अंगे सुध सेवा कीजो, इन विध बैठो घर जाग जी।।४२।।

यदि आप अपने मूल घर परमधाम की अनुभूति करना चाहते हैं, तो इसका एकमात्र साधन यही है कि मायावी विषयों के प्रति आसक्ति के निरन्तर त्याग में ही आनन्द पाने की चाहत रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने सभी अंगों (मन, वाणी, आदि) से उनकी पहचान के साथ सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार परमधाम में आप जाग्रत हो सकेंगे।

भावार्थ– जब तक इस संसार में जागनी लीला चल रही है, तब तक परमधाम की शोभा को अपने धाम हृदय में बसा लेना ही परमधाम में जाग्रत होना कहा जाता है। वस्तुतः परमधाम के तन तो नींद (फरामोशी) में हैं। एकत्व (वहदत) में होने के कारण उनकी जागनी एक

साथ ही होगी। जबकि इस जागनी लीला में किसी की आत्मा पहले जाग्रत हो रही है, तो किसी की बाद में।

जो जानो इत जाग चलें, तो लीजो अर्थ प्रकास जी।
जीव को कहियो ए कहया सब तोको, सिर लिए होसी उजास जी।।४३।।

हे साथ जी! यदि आप चाहते हैं कि आपकी आत्मा जाग्रत हो जाये और आप परमधाम चलें, तो आपको इस प्रकाश वाणी के आशय को समझना होगा। और अपने जीव को समझाना होगा कि इसके ज्ञान को तुम्हें ही अपने आचरण में उतारना होगा। इस वाणी की बातें तुम्हें जगाने के लिये ही कही गयी हैं। यदि तू प्रकाश ग्रन्थ के वचनों को शिरोधार्य करेगा, तो निश्चय ही तुम्हारे अन्दर परम सत्य के ज्ञान का प्रकाश हो जायेगा।

भावार्थ– प्रकाश ग्रन्थ में मुख्य रूप से इस जागनी

ब्रह्माण्ड में लीला करने वाले अक्षरातीत श्री राज जी के साक्षात् आवेश स्वरूप श्री प्राणनाथ जी की पहचान करायी है, और उनके प्रति स्वयं को समर्पित कर अपनी आत्मा एवं जीव को जाग्रत करने का निर्देश दिया गया है। सभी आत्माओं के लक्षण तो एकत्व (वहदत) के सिद्धान्त के अनुसार एक समान ही होते हैं, किन्तु जीवों के अलग–अलग गुण, कर्म, और स्वभाव होने से आत्माओं के आचरण में भी भिन्नता प्रतीत होती है। इसलिये जीव को जाग्रत किये बिना आत्म–जाग्रति सम्भव नहीं है।

इन उजाले जेहेर उतरसी, तब बढ़ते बल नहीं बेर जी।
परआतम को आतम देखसी, तब उतर जासी सब फेर जी।।४४।।

हृदय में तारतम वाणी का प्रकाश होते ही माया का विष

समाप्त हो जायेगा। उस समय आत्मबल की वृद्धि में नाम मात्र भी देर नहीं लगेगी। जब आपकी आत्मा अपने जीव भाव को छोड़कर अपने मूल तन परात्म को देखेगी, तो सभी प्रकार के बन्धनों (अज्ञानता एवं जन्म–मरण के चक्र आदि) से छुटकारा हो जायेगा।

भावार्थ– जिस प्रकार किसी चलचित्र (फिल्म) के किसी मनोहर दृश्य को देखने में हम इतने तल्लीन हो जाते हैं कि हम स्वयं को उस दृश्य को एक भाग मानने लगते हैं। कुछ पलों के लिये हमें इसका जरा भी अहसास नहीं रहता कि हम इस दृश्य के भाग नहीं हैं, बल्कि द्रष्टा हैं। दृश्य को आत्मसात् करने के पश्चात् जब हम अपनी पूर्व स्थिति में आते हैं, तो हमें वास्तविकता का आभास होता है कि हम कहीं खो गये थे। ठीक इसी प्रकार आत्मा जीव के ऊपर बैठकर उसके द्वारा किये जाने वाले

अच्छे–बुरे कार्यों को भले ही देखती है, किन्तु आत्मसात् उतना ही करेगी जो उसके अनुकूल होगा, अर्थात् वह परमधाम की शोभा, लीला, एवं अक्षरातीत से सम्बन्धित तथ्यों को ही ग्रहण करेगी। विषय–भोग या बुरे कर्मों से सम्बन्धित किसी भी विषय को वह ग्रहण नहीं करेगी। यद्यपि द्रष्टा रूप में वह उसे देखेगी अवश्य, किन्तु जिस प्रकार किसी तैलीय कागज पर रंग नहीं चढ़ता है, उसी प्रकार आत्मा के निर्विकार स्वरूप पर जीव के द्वारा किये जाने वाले विषय–भोगों की स्मृति की काली छाया नहीं पड़ सकती। सूर्य का प्रकाश यदि मल–मूत्र पर पड़ जाये, तो भी सूर्य या उसके प्रकाश में दुर्गन्ध का अस्तित्व नहीं रहेगा। हाँ, वहाँ स्थित वायु या स्थान रूपी जीव अवश्य प्रभावित होगा।

जीव के द्वारा तारतम वाणी का जो चिन्तन किया जाता

है, उसमें वह अपनी बौद्धिक एवं मानसिक क्षमता के अनुसार ही तथ्यों को ग्रहण करता है। तारतम वाणी को अपने संस्कारों के अनुसार ही आत्मसात् करता है। यदि ऐसा कहा जाये कि हम तारतम वाणी का जो भी चिन्तन–मनन करते हैं वह परात्म तक पहुँच रहा है, तो यह पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कोई चुम्बक मात्र लोहे के टुकड़े को ही आकर्षित करता है, प्लास्टिक के टुकड़ों को नहीं, उसी प्रकार परात्म केवल अपने एवं अक्षरातीत सम्बन्धी तथ्यों को ही आत्मसात् करेगी।

तारतम वाणी में वर्णित अन्य धर्मग्रन्थों के विभिन्न विषयों तथा तर्क–वितर्क से परात्म का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह साक्षात् अक्षरातीत की अंगरूपा है। वह परमधाम के एकत्व में है, उसमें संसार के लौकिक

विषयों के ज्ञान को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं है। इस तथ्य को इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि जब हम गहन ध्यान से उठते हैं, तो कुछ देर के लिये हम किसी भी प्रकार की निन्दा या विषय–भोग की बुरी बातों को सुनने एवं ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते।

एह विध कर कर आतम जगाई, तब होसी सब सुध जी।
सुध हुए पूर चलसी प्रेम के, होसी जाग्रत हिरदे बुध जी।।४५।।

हे साथ जी! इस प्रकार यदि आप अपनी आत्मा को जाग्रत कर लेते हैं, तो आपके हृदय में वास्तविक सत्य का बोध हो जायेगा। इस अवस्था में आपके अन्दर प्रेम की अविरल धारा प्रवाहित होगी तथा जाग्रत बुद्धि भी सर्वदा विद्यमान रहेगी।

भावार्थ– इस चौपाई में जाग्रत आत्मा की जो पहचान

बतायी गयी है, उसमें ये तीन बातें विशेष रूप से रहती हैं– १. निर्भ्रान्त सत्य ज्ञान २. अखण्ड प्रेम ३. जाग्रत बुद्धि।

निरमल हिरदे में लीजो वचन, ज्यों निकसे फूट बान जी।
ए कह्या ब्रह्मसृष्ट ईश्वरी को, ए क्यों लेवे जीव अग्यान जी।।४६।।

जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ तीर लक्ष्य को भेद कर निकल जाता है, उसी प्रकार आप अपने हृदय को इस प्रकार निर्मल (कोमल और पवित्र) बनाइये कि वह तारतम वाणी के वचनों को आत्मसात् कर सके। ये बातें मैंने केवल ब्रह्मसृष्टियों तथा ईश्वरीसृष्टियों के लिये ही कही हैं। माया की नींद में सोने वाले अज्ञानी जीव इसे ग्रहण ही नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ– धनुष से निकला हुआ बाण किसी पत्थर या

लोहे से टकराकर गिर जाता है क्योंकि वह उसका भेदन नहीं कर पाता, किन्तु वही बाण केले के तने को अति सरलता से भेद देता है। इसी प्रकार स्वच्छ एवं पवित्र हृदय में ब्रह्मवाणी सरलता से प्रविष्ट हो जाती है, किन्तु तमोगुण से भरे मलिन हृदय के द्वारा वाणी आत्मसात् नहीं हो पाती। माया के जीव तारतम वाणी का पठन–पाठन तो कर सकते हैं, किन्तु श्रद्धा, समर्पण, और प्रेम की कमी तथा मूल सम्बन्ध के न होने से ज्ञान की गहराइयों में प्रवेश नहीं कर सकते। इस चौपाई के चौथे चरण का यही आशय है।

माया जीव हममें रहे ना सके, सो ले न सके एह वचन जी।
ना तो सब्द घने लागसी मीठे, पर रेहेने ना देवे झूठा मन जी।।४७।।

हे साथ जी! हम ब्रह्मसृष्टियों के प्रेम मार्ग पर माया के

जीव नहीं चल सकते। इसके अतिरिक्त वे तारतम वाणी के वचनों को यथार्थ रूप में ग्रहण भी नहीं कर पाते। यद्यपि उन्हें भी श्रीमुखवाणी के शब्द बहुत ही मीठे लगेंगे, किन्तु उनका मन झूठ से भरा हुआ है इसलिये तारतम की अमृतमयी धारा को उनके हृदय में रहने नहीं देगा।

भावार्थ– साथ में न रह पाने का आशय है, सत्य और प्रेम मार्ग का अनुगामी न हो पाना। यहाँ सहचर होने या निवास करने का भाव नहीं लेना चाहिए। श्री प्राणनाथ जी के साथ पन्ना जी पहुँचने वाले ५००० सुन्दरसाथ में ३००० जीवसृष्टि, १५०० ईश्वरीसृष्टि, एवं ५०० ब्रह्मसृष्टि थीं।

जो कोई जीव होए माया को, सो चलियो राह लोक सत जी।
जो कोई होवे निराकार पार को, सो राह हमारी चलत जी।।४८।।

तारतम ज्ञान से रहित माया का जीव वैकुण्ठ पाने की राह पर ही चलता है। हमारे प्रेम मार्ग का अनुसरण तो वही करेगा, जो निराकार से परे बेहद या परमधाम का रहने वाला हो।

वासना को तो जीव न कहिए, जीव कहिए तो दुख लागे जी।
झूठकी संगते झूठा केहेत हों, पर क्या करों जानों क्योंए जागे जी।।४९।।

परमधाम की आत्माओं को जीव भाव से सम्बोधित नहीं करना चाहिए। ऐसा कहने पर मेरा हृदय व्यथित होता है कि मैंने कितनी अशोभनीय बात कह दी है, किन्तु मैं क्या करूँ? आत्मा खेल को देखने के लिये जीव पर विराजमान होकर जीव भाव को प्राप्त हो चुकी है, इसलिये मुझे विवश होकर व्यंग्य रूप में जीव कहना पड़ता है। मुझे ऐसा लगता है कि सम्भव है, मेरे कटु

शब्दों की चोट से आत्मा अपने जीव भाव को छोड़कर जाग्रत हो जाये।

ए कठन वचन मैं तो केहेती हों, ना तो क्यों कहूं वासना को जीव जी।
जिन दुख देखे गुन्हेंगार होत हो, आग्या ना मानो पिउ जी।।५०।।

मेरे प्राणाधार सुन्दरसाथ जी! इस प्रकार के कठोर वचन मैं इसलिये कहती हूँ कि जिससे आप जाग्रत हो जायें, अन्यथा आप तो परमधाम की आत्मायें हैं। भला मैं आपको इतने कठोर वचन कैसे कह सकता हूँ? यह कितने आश्चर्य की बात है कि आप इस संसार की दुःखमयी लीला को देखने में ही आनन्द मान रहे हैं और स्वयं को जाग्रत करने के लिये प्रियतम श्री राज जी का जो आदेश है, उसका उल्लंघन करके आप भयंकर अपराध के भागी बन रहे हैं।

भावार्थ– जब राह से भटकने वाले व्यक्ति के स्वाभिमान को मर्माहित करने वाले शब्दों से चोट पहुँचायी जाती है, तो वह घोर पश्चाताप करता है और शीघ्रतापूर्वक सत्य मार्ग का अवलम्बन करता है। इसी धारणा के अनुसार श्री महामति जी ने ब्रह्मात्माओं को कठोर शब्दों में जीव कहकर (व्यंग्य में) सम्बोधित किया है। यह कथन वैसे ही है, जैसे किसी सिंह पुरूष को सार्वजनिक रूप से कायर कहना।

प्रकास बानी तुम नीके कर लीजो, जिन छोडो एक खिन जी।
अंदर अर्थ लीजो आतम के, विचारियो अंतस्करन जी।।५१।।

प्रियतम की पहचान कराने वाली इस प्रकाश ग्रन्थ की वाणी को बहुत अच्छी तरह से ग्रहण कीजिए और एक क्षण के लिये भी इसके ज्ञानमय प्रकाश को अपने से

अलग न कीजिए, अर्थात् आप इसके निर्देशों का पल भर के लिये भी उल्लंघन न करें। इस प्रकाश वाणी का आन्तरिक आशय है, अपने प्राणेश्वर का साक्षात्कार करना। आप इसे अपनी आत्मा के द्वारा फलीभूत (चरितार्थ) कीजिए और अपनी आत्मिक दृष्टि से प्रियतम का दर्शन कीजिए। अपने पवित्र अन्तःकरण में इस वाणी के कथनों पर चिन्तन–मनन एवं विवेचन भी कीजिए।

अंदर का जब लिया अर्थ, तब नेहेचे होसी प्रकास जी।
जब इन अर्थें जागी वासना, तब वृथा ना जाए एक स्वांस जी।।५२।।

हे साथ जी! जब आप इस प्रकाश वाणी के आन्तरिक अभिप्राय (अर्थ) को समझ जायेंगे, तो आपके हृदय में निश्चित रूप से शाश्वत सत्य रूपी ज्ञान का प्रकाश हो जायेगा। उस ज्ञान को चरितार्थ (आत्मा द्वारा

साक्षात्कार) कर लेने पर जब आपकी आत्मा जाग्रत हो जायेगी, तो आप अपने इस नश्वर शरीर की एक श्वास को भी माया के लिये नहीं खोना चाहेंगे, अपितु आपका सर्वस्व केवल अपने प्राण वल्लभ के लिये ही होगा।

ए प्रगट बानी कही प्रकास की, इंद्रावती चरने लागे जी।
सो लाभ लेवे दोनों ठौर को, जाकी वासना इत जागे जी।।५३।।

अपने प्राणेश्वर के चरणों में प्रणाम करती हुई श्री इन्द्रावती जी की आत्मा कहती है कि मेरे प्राणाधार सुन्दरसाथ जी! मैंने धाम धनी के कहलाने से प्रकाश ग्रन्थ की इस प्रकट वाणी को आपके समक्ष प्रस्तुत किया है। यह ध्यान रखिए कि इस जागनी लीला में जिसकी आत्मा जाग्रत हो जायेगी, वह दोनों स्थानों (संसार और परमधाम) का लाभ लेगी।

भावार्थ– आत्मा के जाग्रत हो जाने पर प्रियतम की छवि अखण्ड रूप से हृदय में बस जाती है। ऐसी अवस्था में जहाँ वह पल–पल प्रियतम का आनन्द लेती है, वहीं द्रष्टा भाव से संसार को देखते हुए जागनी लीला का भी आनन्द (लाभ) लेती है।

प्रकरण ।।३०।। चौपाई ।।७८८।।

बेहद वानी

निराकार से परे अनन्त चेतन धाम ही बेहद कहलाता है। इसे मुख्य रूप से योगमाया के ब्रह्माण्ड के रूप में जाना जाता है, किन्तु कहीं–कहीं परमधाम को भी बेहद कह दिया जाता है। इस प्रकरण की चौपाई १४ "बेहद थे पिउ आए के, बेहद साथ खेलाया" में बेहद परमधाम को कहा गया है, जबकि चौपाई ५६ "हद के जीव बेहद की, लीला देखी या ठौर" में बेहद योगमाया के ब्रह्माण्ड को माना गया है।

बेहद के साथी सुनो, बोली बेहद वानी।

बड़े बड़े रे हो गए, पर काहूं न जानी।।१।।

परमधाम में रहने वाले एवं योगमाया के ब्रह्माण्ड में महारास की लीला करने वाले मेरे सुन्दरसाथ जी! मैं

आपसे बेहद (अनन्त) धाम की वाणी का वर्णन करने जा रही हूँ, उसे सुनिए। इस संसार में ज्ञान, वैराग्य, योग, एवं तप के क्षेत्र में बहुत महान कहे जाने वाले बहुत से दिव्य पुरूष हो चुके हैं, किन्तु कोई भी आज तक बेहद की इस वाणी को नहीं जान सका है।

उपाय किए अनेकों, पर काहूं ना लखानी।

ए वानी निज बुध बिना, न जाए पेहेचानी।।२।।

यद्यपि अनेक मनीषियों ने इसे प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया, किन्तु कोई भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका। परमधाम की निज बुद्धि के बिना इसे यथार्थ रूप में नहीं जाना जा सकता।

ना तो आए बुध के सागर, गुन खट ग्यानी।

भगवानजी को महादेवजी, पूछे बेहद वानी।।३।।

वैसे तो इस संसार में छः शास्त्रों (सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, और मीमांसा) के ज्ञाता बड़े–बड़े विद्वान हो गये हैं, जिन्हें बुद्धि के सागर कहलाने की शोभा भी प्राप्त हो चुकी है, किन्तु वे भी बेहद के बारे में कुछ नहीं जान सके। पूर्वकाल में भगवान् शिव ने विष्णु भगवान से बेहद वाणी के विषय में पूछा था।

विष्णु कहे सिवजी सुनो, तुम पूछत हो जेह।

आद करने अबलों, अगम कहियत है एह।।४।।

विष्णु भगवान ने उनके प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया– हे शिव जी! आप मेरी बात सुनिये। आप जिस बेहद वाणी (बेहद का ज्ञान) के विषय में मुझसे पूछ रहे हैं, उसके

विषय में सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज दिन तक सभी ने अगम, अर्थात् मन–वाणी से परे, कहकर मौन धारण कर लिया है।

कोट ब्रह्मांड जो हो गए, तित काहूं ना सुनी।

खोज खोज खोजी थके, चौदे लोक के धनी।।५।।

इस सृष्टि में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी आज दिन तक बेहद की वाणी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सुना है। चौदह लोकों में अग्रगण्य (सर्वोपरि) कहे जाने वाले ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिव भी बेहद की खोज करते–करते थक गये, किन्तु उन्हें यथार्थ रूप से सफलता नहीं मिली।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में त्रिदेवों को अग्रगण्य कहना ही अधिक उपयुक्त है। जीवसृष्टि के धनी तो

आदिनारायण हैं, जो सारी सृष्टि के एक ही हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार अलग–अलग ब्रह्माण्ड में अलग–अलग त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, और शिव) हैं। ऐसी स्थिति में एक ही जीव के तीन प्रियतम कैसे हो सकते हैं?

फेर पूछे सिव विष्णु को, कहे ब्रह्मांड और ।
और ब्रह्मांड की वारता, क्यों पाइए इन ठौर।।६।।

पुनः भगवान शिव ने विष्णु जी से पूछा कि क्या इस सृष्टि में हमारे इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त और भी कोई ब्रह्माण्ड है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान विष्णु कहते हैं कि इस सृष्टि में इतने ब्रह्माण्ड हैं कि उनकी असीम संख्या के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

ए बात तो सिवजी जाहेर, इत है कई भांत।

ठौर ठौर कहे वचन, ए जो भेद कल्पांत।।७।।

हे शिव जी! यह तथ्य तो स्पष्ट है कि इस सृष्टि में असंख्य (अनेकों) ब्रह्माण्ड हैं। यह बात शास्त्रों में स्थान-स्थान पर दर्शायी गयी है कि प्रत्येक कल्प के पश्चात् किस प्रकार ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जाता है।

भावार्थ- तारतम वाणी के इस कथन में १४ लोकों वाले इस एक ब्रह्माण्ड का तात्पर्य इस सौर मण्डल से है।

एक कल्प में ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं। यदि ८ अरब ६४ करोड़ का परिमाण एक दिन के बराबर माना जाये, तो इस गणना के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि की आयु सौ वर्ष निश्चित होती है, अर्थात् ८६४०००००० x ३० x १२ x १००= ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष।

आदिनारायण की आयु एवं निराकार में मुक्ति प्राप्त करने वाले जीवों के लिये भी इतना ही समय निश्चित है। यही परान्त काल है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार अब तक ज्ञात सृष्टि का प्रारम्भ आज से १३.७ अरब वर्ष पूर्व हुआ था। इसमें ५ अरब आकाश गंगायें (निहारिकाएं, ग्लैक्सीज़) हैं। हमारी आकाश गंगा में लगभग ३ अरब तारे हैं, जिनमें लगभग डेढ़ अरब सूर्य जैसे हैं, २० करोड़ पृथ्वी जैसे ग्रह हैं, जिनमें लगभग १० लाख ग्रहों में बुद्धिजीवी मानव रहते हैं। सृष्टि का यह केवल ४ प्रतिशत भाग है। शेष ९६ प्रतिशत सृष्टि के बारे में किसी भी वैज्ञानिक को कोई ज्ञान नहीं है।

उपरोक्त ५ अरब ग्लैक्सियों वाली यह सृष्टि १३.७ अरब वर्ष पूर्व अहंकार से उत्पन्न हुई थी। वर्तमान सृष्टि जैसी

अनेकों सृष्टियाँ (आकाश गंगाओं का समूह) हमेशा लय–उदय को प्राप्त होती हैं। समष्टि सृष्टि आदिनारायण के साथ ही मोह तत्त्व से प्रकट होती है। सृष्टि के अनन्त विस्तार की यह छोटी सी झाँकी है।

सुकजी और सनकादिक, कई और भी साध।

तिन खोज खोज के यों कह्या, ए तो अगम अगाध।।८।।

शुकदेव जी, सनकादिक, तथा कई अन्य मनीषियों ने निरन्तर खोज करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला कि बेहद मण्डल का विस्तार अनन्त है तथा वहाँ तक मन एवं वाणी की पहुँच नहीं है।

एक सब्द के कारने, लखमी जी आप।

नेक भी जाहेर ना हुई, अंग दिए कई ताप।।९।।

स्वयं लक्ष्मी जी ने बेहद मण्डल के ज्ञान का एक शब्द (अति अल्प मात्रा में) सुनने के लिये कठोर तपस्या की, जिसमें उन्होंने अपने अंग को अनेकों प्रकार का कष्ट दिया, किन्तु उन्हें थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका।

याही रस के कारने, कैयों किए बल।

कैयों कलप्या अपना, पर काहूं ना प्रेमल।।१०।।

बेहद मण्डल का रस (ब्रह्मानन्द) प्राप्त करने के लिये बहुत से मनीषियों ने प्रयास किया। अनेकों ने विरह में रोते–रोते अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया, किन्तु उन्हें बेहद की सुगन्धि भी न मिल सकी अर्थात् वे निराकार मण्डल को उलंघ नहीं सके।

सो रस बृज की सुंदरी, पायो सुगम।

सो सेहेजे घर आइया, जो कहे वेद अगम।।११।।

बेहद मण्डल के प्रेमरस को व्रज की गोपियों ने सरलता से प्राप्त कर लिया। वे महारास की लीला करने के पश्चात् अपने मूल घर परमधाम पहुँची, जिसे वेदों ने मन–वाणी की पहुँच से परे कहा है।

द्रष्टव्य– परमधाम की आत्मायें व्रज में गोपियों के तनों में जिन जीवों पर विराजमान हुई थीं, वे जीव महारास में अखण्ड हो गये और मात्र आत्मायें ही परमधाम पहुँची।

ए निध अपने घर की, इन यों तो बिलसी।

अनूं चोंच पात्र या बिना, नाहीं काहूं कैसी।।१२।।

रास में लीला करने वाली आत्मायें परमधाम की थीं, इसलिए उन्होंने कालमाया के ब्रह्माण्ड को छोड़कर बेहद

मण्डल में लीला की, अन्यथा बिना पात्रता के तो बेहद के रस को कोई भी किसी भी प्रकार से अपने हृदय रूपी चोंच से अणु के बराबर की मात्रा में भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ– यदि बेहद मण्डल के रस को अथाह समुद्र माना जाये और चोंच को हृदय माना जाये, तो बिना पात्रता (योग्यता) के कोई भी व्यक्ति उसके एक अणु के बराबर की मात्रा का भी रसपान किसी प्रकार से नहीं कर सकता है।

अबलों काहूं ना जाहेर, श्री धाम के धनी।

खेले आप इच्छा कर, अर्धांग जो अपनी।।१३।।

आज दिन तक इस सृष्टि में किसी को भी प्रियतम अक्षरतीत की पहचान नहीं हो सकी थी। उन्हीं धाम धनी

ने अपनी अंगरूपा आत्माओं के साथ, स्वयं अपनी इच्छा से, योगमाया के ब्रह्माण्ड में महारास की लीला की।

साथ इच्छाएं सुपन में, खेल मांहें आया।

बेहद थे पिउ आएके, बेहद साथ खेलाया।।१४।।

सुन्दरसाथ ने परमधाम में ही माया का खेल देखने की इच्छा व्यक्त की थी, जिसके कारण उन्हें इस मायावी जगत में आना पड़ा। उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिये स्वयं प्रियतम अक्षरातीत उनके साथ परमधाम से व्रज में आये और अपनी आत्माओं के साथ व्रज एवं रास में भी लीला की।

ए वानी इत हम बिना, और काहूं न होवे।

आधा लुगा ना पाइए, जो जीव अपना खोवे।।१५।।

यह बेहद वाणी हम ब्रह्मात्माओं के अतिरिक्त अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसे प्राप्त करने के लिये यदि कोई व्यक्ति अपने जीव को भी न्योछावर कर दे, तो भी इस बेहद वाणी के आधे शब्द को प्राप्त नहीं कर सकता।

साथ देखने आइया, पिउ इछा कर।

बेहद धनी साथ को, खेलावें चित धर।।१६।।

माया का खेल देखने की इच्छा से परमधाम के सुन्दरसाथ प्रियतम के साथ इस मायावी संसार में आये हुए हैं। अपने हृदय में उनकी इच्छा को पूर्ण करने की भावना लेकर धाम धनी उन्हें माया का यह खेल अच्छी

प्रकार से दिखा रहे हैं।

ले चलसी सब साथ को, पार बेहद घर।

पीछे अवतार बुध को, सब करसी जाहेर।।१७।।

प्रियतम अक्षरातीत सब सुन्दरसाथ को जाग्रत करके योगमाया (बेहद) के ब्रह्माण्ड से परे परमधाम ले जायेंगे। तत्पश्चात् बेहद में अखण्ड होने वाले जीव, विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलंक स्वरूप श्री प्राणनाथ जी की पहचान को, सबमें प्रकट (उजागर) कर देंगे।

भावार्थ– चौपाई १७,१८ और १९ में "बुध" शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रसंगानुसार अलग–अलग प्रसंग होने से तीनों चौपाइयों में "बुद्ध" के अलग–अलग अर्थ हैं–

१७वीं चौपाई में बुद्ध का अभिप्राय श्री प्राणनाथ जी से

है, क्योंकि योगमाया के अखण्ड जीव श्री मिहिरराज जी के जीव को ही अक्षरातीत के रूप में मानेंगे। इस कालमाया के ब्रह्माण्ड में उनकी पहचान न करने वाले जीव, योगमाया में, उनके स्वरूप को पहचान कर प्रायश्चित करेंगे। इसे ही बेहद मण्डल में श्री प्राणनाथ जी का उजागर (जाहिर) होना कहा गया है। सनद ग्रन्थ की चौपाई २६/८ में इसका वर्णन इस प्रकार है–

ज्यों ज्यों दुलहा देखहीं, त्यों त्यों उपजे दुख।
ऐसे मौले मेहेबूब सो, हाए हाए हुए नहीं सनमुख।।

१८वीं चौपाई में "बुद्ध" का तात्पर्य जाग्रत बुद्धि से है, तो १९वीं चौपाई में सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी से है।

यद्यपि दोनों स्वरूपों (सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी एवं श्री प्राणनाथ जी) में जाग्रत बुद्धि विद्यमान थी, इसलिये कहीं–कहीं पर संक्षिप्त रूप में इन्हें बुद्ध जी कह दिया

जाता है, किन्तु सैद्धान्तिक रूप में सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी को विजयाभिनन्द बुद्धावतार तथा श्री प्राणनाथ जी को विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलंकावतार कहा जाना चाहिए। "अवतार" शब्द का प्रयोग पौराणिक ग्रन्थों की साक्षी के कारण ही करना पड़ता है, अन्यथा यदि अवतार शब्द के स्थान पर स्वरूप लिखा जाये तो अधिक उपयुक्त होगा।

बैकुंठ जाए विष्णु को, सब देसी खबर।

विष्णु को पार पोहोंचावसी, सब जन सचराचर।।१८।।

जब वैकुण्ठवासी विष्णु भगवान के हृदय में जाग्रत बुद्धि प्रविष्ट होकर उन्हें तारतम ज्ञान का प्रकाश देगी, अर्थात् क्षर, अक्षर, एवं अक्षरातीत की पहचान देगी, तो इस ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जायेगा और परब्रह्म की छत्रछाया

में जाग्रत बुद्धि विष्णु भगवान सहित चर–अचर सभी प्राणियों को निराकार से परे बेहद मण्डल में अखण्ड मुक्ति प्रदान करेगी।

खोज पाई जिन ए निध, धंन धंन सो बुध।

दृढ़ करी सनेहसों, साथ को कही सुध।।१९।।

जाग्रत बुद्धि के स्वरूप सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी धन्य–धन्य हैं, जिन्होंने निरन्तर खोज के द्वारा तारतम ज्ञान की अनमोल निधि को प्राप्त किया। उन्होंने अत्यधिक स्नेह के साथ सुन्दरसाथ को क्षर से लेकर परमधाम तक की पहचान दी और उस पर अटूट दृढ़ता भी दिलायी।

नौतन पुरी भली पेरे, चितसों चरचानी।

साथी जो बेहद के, तिनहूं पेहेचानी।।२०।।

नवतनपुरी को यह सर्वप्रथम शोभा मिली कि वहाँ सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने हृदय के सम्पूर्ण भाव से तारतम ज्ञान की चर्चा की, किन्तु उनके स्वरूप को एकमात्र परमधाम के रहने वाले सुन्दरसाथ ने ही पहचाना।

बेहद वाट देखावहीं, पिउ आए के पास।

तारतम ले आए धनी, ए जोत उजास।।२१।।

स्वयं अक्षरतीत ही तारतम ज्ञान का उजाला लेकर श्री देवचन्द्र जी के हृदय धाम में विराजमान हुए थे। अब वे मेरे अन्दर (पास में) से अपने ज्ञान द्वारा सबको परमधाम की राह दिखा रहे हैं।

जाहेर हुई जो साथ में, देखो रास प्रकास।

तारतम वानी वतन की, जिन कियो तिमर सब नास।।२२।।

हे साथ जी! आप इस बात का विचार कीजिए कि आपको जाग्रत करने के लिये ही रास एवं प्रकाश की वाणी अवतरित हुई है। परमधाम की यह तारतम वाणी अनमोल है, जिसने माया जनित अज्ञानता का सम्पूर्ण अन्धकार नष्ट कर दिया है।

हिरदे आद नारायन के, वेद जिनको स्वांस।

ग्रन्थ सबों की उतपन, वानी वेद व्यास।।२३।।

सर्वप्रथम आदिनारायण के हृदय में वेदों की ज्ञान धारा प्रकट हुई और उनके द्वारा ऋषियों के हृदय में इतनी सरलता से प्रकट हुई जैसे कोई व्यक्ति श्वांस लेता है। इन्हीं वेदों का आधार लेकर अन्य सभी ग्रन्थों (उपवेद,

दर्शन, उपांग, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् आदि) की रचना हुई। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास जी ने अपने ग्रन्थों में सभी ग्रन्थों के सारभूत तत्त्व को प्रकाशित किया।

भावार्थ– श्वांसों से वेदों का प्रकट होना आलंकारिक कथन है। इसका आशय यह है कि अक्षर ब्रह्म (अव्याकृत) में अखण्ड रूप से जो वेद ज्ञान विद्यमान है, वह सहजता से उनके सांकल्पिक प्रतिबिम्ब रूप आदिनारायण में विद्यमान हुआ। उनके द्वारा वह ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा ऋषियों को प्राप्त हुआ। इन्हीं चार ऋषियों से ब्रह्मा जी ने एक–एक वेद का ज्ञान प्राप्त किया था।

पौराणिक मान्यता के अनुसार वेद व्यास जी ने १८ पुराणों की रचना की है, जबकि सत्यता यह है कि

उन्होंने मात्र महाभारत एवं वेदान्त दर्शन ग्रन्थ की ही रचना की तथा पतञ्जलि कृत योगदर्शन की टीका की। १८ पुराणों में परस्पर विरोध है तथा एक –दूसरे पर अपशब्दों की भरमार है, जिससे यह सिद्ध होता है कि "व्यास" की उपाधि धारण कर भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने पुराणों तथा उपपुराणों की रचना की है। महाभारत के वर्तमान एक लाख श्लोकों में से ४४०० श्लोक ही वेद व्यास जी द्वारा रचित हैं, अन्य ५६०० श्लोक उनके शिष्यों द्वारा बनाये गये हैं, शेष ९०००० श्लोक साम्प्रदायिक विद्वानों के द्वारा रचे गये हैं। गीता महाभारत का ही अंश रूप ग्रन्थ है।

तामे फल श्री भागवत, सुकजी मुख भाख।

पाती ल्याया बेहद की, साथ की पूरी साख।।२४।।

इन सभी ग्रन्थों का सार रूप श्रीमद्भागवत् है, जो श्री शुकदेव जी के मुख से कहा गया है। शुकदेव जी ने रास का वर्णन करके बेहद का समाचार दिया और ब्रह्मसृष्टियों के द्वारा बेहद मण्डल में की जाने वाली लीला की साक्षी दी है।

भावार्थ– पौराणिक वैष्णव सम्प्रदाय में यह मान्यता है कि व्यास जी ने श्रीमद्भागवत् ग्रन्थ की रचना की है और उसके प्रमुख वक्ता शुकदेव जी हैं, जिन्होंने योगमाया के ब्रह्माण्ड में की जाने वाली महारास की लीला का वर्णन किया है।

यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि तारतम वाणी में उपरोक्त कथन अक्षरातीत का नहीं है, अपितु वैष्णवों के कथन को ही यहाँ साक्षी रूप में उद्धृत किया गया है। श्रीमद्भागवत् में वेद–विरूद्ध अनेक बातों का समावेश है,

जबकि वेदों के पारंगत महान विद्वान महर्षि वेद व्यास जी किसी भी स्थिति में वेद–विरूद्ध रचना नहीं कर सकते। इसलिये यहाँ लोक श्रुति का कथन है कि श्रीमद्भागवत् वेद व्यास जी का है। यह कथन धाम धनी का नहीं है। भागवत् की महत्ता केवल इसी कारण है कि उसमें व्रज–रास की लीला का वर्णन है, जो ब्रह्मात्माओं के द्वारा की गयी थी।

और भी नाम केते कहूं, इंड वानी अलेखे।

सब साख देवे बेहद की, जो कोई दिल दे देखे।।२५।।

इस संसार में अनेकों (अनगिनत) ग्रन्थ हैं, जिनके नामों का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? यदि कोई हृदय की यथार्थ दृष्टि से देखे, तो यह विदित होगा कि सभी ग्रन्थ बेहद की साक्षी देते हैं।

भावार्थ– अतिश्योक्ति अलंकार के रूप में "अलेखे" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय अनेक (बहुत) से है।

हृदय के अन्दर मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार का योग होता है। यदि ये चारों अपनी शक्ति का एकसाथ प्रयोग करें, तो ज्ञान की दृष्टि बहुत सूक्ष्म होती जाती है और सत्य की निकटता प्राप्त होने लगती है, जबकि वास्तविक सत्य ध्यान–समाधि की गहराइयों में ही प्राप्त होता है। उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण का यही आशय है।

ए बानी ए वाटड़ी, कबूं ना जाहेर।

धनी ब्रह्मांड के खोजिया, सब मांहें बाहेर।।२६।।

इस सृष्टि में परमधाम का तारतम ज्ञान तथा उसे पाने

के लिए अनन्य परा प्रेम लक्षणा भक्ति का मार्ग आज दिन तक किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था। इस ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि–अग्रगण्य कहे जाने वाले ब्रह्मा आदि भी खोजते रहे, किन्तु वे पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड में ही उलझे रह गये तथा निराकार से परे नहीं जा सके।

भावार्थ– पिण्ड (शरीर) ब्रह्माण्ड का ही एक लघु रूप है। ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ (पञ्चभूत, अहंकार, महत्तत्व, आदि) शरीर में अवश्य विद्यमान होता है। विभिन्न नाड़ियों तथा चक्रों में ध्यान करने वाले योगिजन ब्रह्माण्ड तथा उसके सूक्ष्मतम रूप निराकार की अनुभूति तो करते रहे, किन्तु उसके परे योगमाया या परमधाम में नहीं जा सके।

एक जरा किनहूं न पाइया, इत अनेक जो धाए।

नाम ब्रह्मांड के धनी कहे, दूजे कहा करूं सुनाए।।२७।।

इस संसार में अनेकों (ऋषियों, सन्तों, फकीरों) ने बेहद का साक्षात्कार करने के लिये पूर्ण प्रयास किया, किन्तु किसी को नाम मात्र भी साक्षात्कार नहीं हुआ। जब इस ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि कहे जाने वाले ब्रह्मा आदि की यह अवस्था है, तो मैं अन्य साधारण जनों (विद्वानों, महन्तों) आदि के विषय में क्या कहूँ?

सो निध जाहेर इत हुई, धंन धंन संसार।

धंन धंन खंड भरथ का, धंन धंन नर नार।।२८।।

यह संसार धन्य–धन्य हो गया है क्योंकि इसमें इस समय, तारतम ज्ञान के द्वारा, परमधाम उजागर हो गया है। इस प्रकार, यह सम्पूर्ण भरतखण्ड तथा इसमें रहने

वाले मनुष्य धन्य–धन्य हो गये हैं।

धंन धंन पांचों तत्व, धंन धंन त्रैगुन।

धंन धंन जुग सो कलजुग, धंन धंन पुरी नौतन।।२९।।

इस ब्रह्माण्ड के पाँचों तत्त्व तथा तीनों गुण भी धन्य–धन्य हो गये, क्योंकि अब ये बेहद मण्डल में चिन्मय स्वरूप को प्राप्त हो जायेंगे। यह अट्ठाइसवाँ कलियुग भी धन्य–धन्य हो गया क्योंकि इसमें ही यह अनुपम ज्ञान अवतरित हुआ। जिस नवतनपुरी से यह ज्ञान सर्वप्रथम प्रसारित हुआ, वह नगरी भी धन्य–धन्य हो गयी।

अब कहूँ लीला प्रथम की, सुनियो तुम साथ।

जो कबूं कानों ना सुनी, सो पकड़ देऊँ हाथ।।३०।।

मेरे प्राणप्रिय सुन्दरसाथ जी! अब मैं आपसे व्रज मण्डल

में सबसे पहले होने वाली व्रज लीला का वर्णन करती हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनिए। आज दिन तक जिस ब्रह्मलीला के विषय में किसी ने भी अपने कानों से नहीं सुना था, उसे मैं आपके हाथों में सौपती हूँ अर्थात् आपको सुनाती हूँ।

धोखा कोई न राखहूँ, करूं निसंदेह।

मुक्त होत सचराचर, आयो वतनी मेह।।३१।।

अब परमधाम से प्रियतम परब्रह्म की कृपा रूपी बादल से बरसने वाला तारतम ज्ञान आ गया है, जिसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड के चर–अचर सभी प्राणियों को अखण्ड मुक्ति मिलनी है। अब मैं तारतम ज्ञान की अमृत धारा से सबको संशय रहित करके इस अवस्था में पहुँचा दूँगी कि किसी के भी मन में माया से धोखा खाने, अर्थात्

मायाजाल में फँसने, की सम्भावना नहीं रहेगी।

धंन गोकुल जमुना त्रट, धंन धंन बृजवासी।

अग्यारे बरस लीला करी, करी अविनासी।।३२।।

अति मनोहर गोकुल, यमुना जी का रमणीय तट, तथा व्रज में रहने वाले सभी ग्वाल–बाल आदि धन्य–धन्य हैं। इसी व्रज मण्डल की पवित्र धरा पर प्रियतम अक्षरातीत ने ११ वर्ष ५२ दिन तक लीला की तथा उसे योगमाया के ब्रह्माण्ड (सबलिक के कारण) में अखण्ड कर दिया।

चौदे लोक सुपन के, साथ आया देखन।

मुक्त दे पीछे फिरे, सदासिव चेतन।।३३।।

चौदह लोकों के इस स्वप्नमयी ब्रह्माण्ड में, परमधाम की ब्रह्मसृष्टियाँ माया का खेल देखने के लिये व्रज मण्डल

में आयीं। इस लीला के सबलिक ब्रह्म (सदाशिव चेतन) में अखण्ड होने के पश्चात् ब्रह्मात्मायें अपने परमधाम चली गयीं।

भावार्थ– सखियाँ व्रज से सीधे रास मण्डल में गयीं। जब सबलिक के महाकारण में रास लीला अखण्ड हुई, तो उसके पश्चात् ही व्रज लीला सबलिक के कारण में अखण्ड हुई, क्योंकि रास में अन्तर्धान के पश्चात् अक्षर ब्रह्म ने जाग्रत होकर व्रज लीला के विषय में सोचा। यही कारण है कि अखण्ड होने के पश्चात् परमधाम जाने का कथन किया गया है।

"व्रज लीला सों बांधी सूरत, अखण्ड भई चढ़ आयी चित्त।"

इस कथन से स्पष्ट होता है कि व्रज लीला सबलिक के कारण में अखण्ड हुई। इसे ही सदाशिव चेतन भी कहा जाता है।

अछर चित्त में ऐसो भयो, ताको नाम सदाशिव कह्यो।

और ब्रह्मांड जोगमाया को, कियो खेलने रास।

खेल करे श्री राजसों, साथ सकल उलास।।३४।।

व्रज लीला के पश्चात् सभी सखियाँ रास खेलने के लिये योगमाया के ब्रह्माण्ड में गयीं। वहाँ सभी ने प्रेम की अत्यधिक प्रसन्नता में प्रियतम श्री राज जी के साथ महारास की लीला की।

नौतन खेल या रास को, कबहूं ना होवे भंग।

खेले साथ सुपन में, जोगमाया के रंग।।३५।।

योगमाया के अन्तर्गत केवल ब्रह्म की भूमिका में एक नवीन–नित्य वृन्दावन की रचना हुई, जिसमें महारास की लीला की गयी। यह लीला आज भी अनवरत

(निरन्तर) रूप से चल रही है। इसमें कभी भी व्यवधान नहीं होता। यद्यपि वह केवल ब्रह्म की आनन्द योगमाया की भूमिका थी, फिर भी सखियों को परमधाम की सुधि न होने से वह स्वप्न जैसी ही प्रतीत हुई।

तुम देखो साथ सुपन में, खेल खेले ज्यों।
एक विधें साथ जागिया, खेल त्यों का त्यों।।३६।।

हे साथ जी! आप इस बात पर विचार कीजिए कि व्रज और रास की लीला का आनन्द स्वप्न की तरह था। उसमें हमने जैसी लीला की थी, वह लीला आज भी उसी तरह निरन्तर हो रही है। इन लीलाओं के अखण्ड होने के पश्चात् हम परमधाम में अपने मूल तनों में जाग्रत हुए।

एह ब्रह्मांड तीसरा, हुआ उतपन।

धाख रही कछू अपनी, तो फेर आए देखन।।३७।।

व्रज–रास के पश्चात् यह तीसरा "जागनी" का ब्रह्माण्ड बना। अपनी परात्म में जाग्रत होने के पश्चात्, हम सभी ने ऐसा अनुभव किया कि हमारे मन में माया का खेल देखने की अभी कुछ इच्छा बाकी रह गयी थी, जिसकी पूर्ति के लिये हमें पुनः इस जागनी ब्रह्माण्ड में आना पड़ा है।

ब्रह्मांड तीनों देखे हम, खेल बिना हिसाब।

जाग वतन बातां करसी, जो देखी मिने ख्वाब।।३८।।

हमने व्रज, रास, और जागनी के इन तीनों ब्रह्माण्डों में अनेकों (अनन्त) प्रकार की लीलाओं का आनन्द लिया है। हमने स्वप्न के इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी देखा है, परात्म में जाग्रत होने के पश्चात् आपस में उसकी बातें

करेंगे।

ए जो ब्रह्मांड उपज्या, जिनमें राख्या सेर।

साथ घरों सब पोहोंचिया, और इत आए फेर।।३९।।

यह जो तीसरा जागनी का ब्रह्माण्ड बना है, उसमें एक गोपनीय रहस्य छिपाया गया है। रास खेलने के पश्चात् हम सब सुन्दरसाथ परमधाम गये और पुनः माया का खेल देखने की इच्छा से इस जागनी ब्रह्माण्ड में आये हैं।

ज्यों हरे ब्रह्माएँ बाछरू, गोवाला संघातें।

ततखिन सो नए किए, आप अपनी भांतें।।४०।।

जिस प्रकार व्रज लीला में ब्रह्मा जी ने ग्वाल–बालकों के साथ–साथ बछड़ों का अपहरण करके उन्हें छिपा दिया था, और श्री कृष्ण जी ने उसी क्षण अपने ऐश्वर्य से

पूर्ववत् बछड़ों और ग्वाल–बालकों को उत्पन्न कर दिया था।

गोकुल मिने आप अपने, घर सब कोई आया।

खबर ना पड़ी काहूँ को, ऐसी रची माया।।४१।।

ठीक उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड पूर्ववत् बन गया और इसमें होने वाली प्रतिबिम्ब की लीला में एक रात्रि की लीला के पश्चात् सभी गोपियाँ अपने घर वापस आकर सो गयीं, किन्तु उनके पतियों या घर के अन्य सदस्यों को थोड़ी सी भी जानकारी नहीं मिल पायी कि ये रात्रि को कहीं गयी थीं। चमत्कारपूर्ण ढंग से ऐसी लीला हुई।

एह दृष्टांते समझियो, राह राख्या इन विध।

ए बल माया देखियो, और ऐसी किध।।४२।।

हे साथ जी! आप इस दृष्टान्त से समझिये कि किस प्रकार पूर्व ब्रह्माण्ड जैसा ही यह ब्रह्माण्ड बन गया और किसी को पता ही नहीं चला। इस प्रकार यह परम गोपनीय रहस्य बना रहा, जिसे आज तक कोई भी नहीं जान सका था। परब्रह्म के आदेश में कितनी अपार शक्ति है कि उसने क्षण भर में ही पूर्व के ब्रह्माण्ड की तरह एक नया ब्रह्माण्ड बना दिया।

भावार्थ– जड़ माया कुछ भी स्वतः नहीं कर सकती। सृष्टि रचना के मूल में अक्षरातीत के सत अंग अक्षर ब्रह्म की मुख्य भूमिका होती है। उनके हृदय में सृष्टि रचना का जो संकल्प होता है वह, सत्स्वरूप और केवल से होते हुए, सबलिक (चित्त) में आता है। सबलिक का स्थूल ही अव्याकृत का महाकारण है, जिसमें स्थित सुमंगला पुरूष सृष्टि रचना को क्रियान्वित करते हैं। सृष्टि रचना के

संकल्प के प्रकट होने को यहाँ स्वप्न के दृष्टान्त से समझाया जाता है। सुमंगला पुरूष ही अव्याकृत के स्थूल में रोधिनी–प्रणव हैं। इन्हीं का स्वाप्निक प्रतिबिम्बित रूप मोह सागर और आदिनारायण हैं। मोह सागर जड़ रूप माया (कालमाया) है। इसमें आदिनारायण के संकल्प से असंख्य ब्रह्माण्डों का उदय–लय होता रहता है। ब्रह्मलीला की प्रामाणिकता के लिये ही यह प्रतिबिम्ब लीला की गयी थी, इसलिये धाम धनी की प्रेरणा से आदिनारायण के द्वारा यह ब्रह्माण्ड बना। उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण का यही आशय है।

साथ चल्या सब वतन, अपने पिउ साथ।

और खेले रास में अखंड, इत उठे प्रभात।।४३।।

सभी ब्रह्मसृष्टियाँ अपने प्रियतम के साथ रास लीला

करके परमधाम चली गयीं। केवल ब्रह्म में खेली गयी रास, सबलिक के महाकारण में अखण्ड हो गयी। इधर पहले की ही तरह नया ब्रह्माण्ड बना, जिसमें गोपियाँ, श्री कृष्ण, और नन्द–यशोदा आदि पूर्ववत् दृष्टिगोचर हो रहे थे।

भावार्थ– कुमारिकायें रास के अन्दर थीं और उनके जीव सबलिक के अन्दर अखण्ड होने वाली व्रज लीला में थे। इन्हें रास लीला का सुख प्राप्त करने का वरदान मिल चुका था, इसलिये नये ब्रह्माण्ड में २४ हजार कुमारिकाओं के जीव गोपियों के रूप में आये।

सबलिक के महाकारण में स्थित रास लीला का प्रतिबिम्ब उसके स्थूल (अव्याकृत के महाकारण) में पड़ा। अव्याकृत में वेदों का मूल स्थान है। वेदों के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उन्हें भी यह वर मिला कि नये

ब्रह्माण्ड में तुम सखी रूप हो जाओ, तो तुम्हें यह ब्रह्मानन्द प्राप्त हो सकता है। ऐसा निर्देश पाकर वेदों ने १२००० सखियों का रूप धारण किया, जिन्हें वेद ऋचा सखियाँ कहते हैं। इस प्रकार पूर्व ब्रह्माण्ड की तरह इस ब्रह्माण्ड में भी ३६००० सखियों की संख्या हो गयी।

सोई गोकुल जमुना त्रट, जानों सोई बृजवासी।
रास लीला जाने खेल के, इत आए उलासी।।४४।।

इस नये ब्रह्माण्ड में पहले की तरह ही मनोहर गोकुल ग्राम था, यमुना जी का रमणीय किनारा था। उसमें रहने वाले व्रज मण्डल के लोग पहले जैसे ही प्रतीत हो रहे थे। वे सभी यही मान रहे थे कि हम ही तो आनन्दपूर्वक रास लीला खेलकर आये हैं।

जाने सोई ब्रह्मांड, जो खेलत सदाए।

ए ब्रह्मांड जो उपज्या, ऐसी रे अदाए।।४५।।

परब्रह्म के आदेश से यह नया ब्रह्माण्ड इतने चमत्कारिक ढंग से बना कि इसमें रहने वालों ने यही धारणा बना ली कि हम तो उसी पहले वाले ब्रह्माण्ड के ही रहने वाले हैं। हम तो इसमें बहुत पहले से रहते आ रहे हैं।

भावार्थ– उपरोक्त प्रसंग को पढ़कर मन में यह संशय पैदा होता है कि यह जो नया ब्रह्माण्ड बना उसमें जीव कहाँ से आये?

संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदिनारायण के संकल्प से प्रतिबिम्ब की तरह जीवों का प्रकटन होता है, जिन्हें आधुनिक वेदान्त की भाषा में चिदाभास कहते हैं। अहंकार से उत्पन्न होने वाली आकाश गंगाओं से अरबों की संख्या में तारे और ग्रह –

उपग्रह उत्पन्न होते हैं और पुनः लय होते हैं। प्रत्येक सौर मण्डल एक ब्रह्माण्ड का रूप है, जिसे ब्लैकहोल आसानी से अपने अन्दर लीन (निगल) सकता है।

इस प्रकार निश्चित है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुआ जीव, महाप्रलय तक, एक ब्रह्माण्ड से दूसरे ब्रह्माण्ड में भी जा सकता है या कारण प्रकृति में कुछ समय तक सुषुप्ति जैसी अवस्था का अनुभव कर पुनः उस ब्रह्माण्ड या अन्य किसी भी ब्रह्माण्ड में अपना तन धारण कर सकता है। विदित हो कि व्रज लीला के पश्चात् केवल व्रज मण्डल के ही जीवों को मुक्ति मिली। शेष अन्य जीव प्रलय के पश्चात् पुनः इस ब्रह्माण्ड में आ गये थे।

दोऊ ब्रह्मांडों बीच में, सेर राख्या सार।

खबर ना पड़ी कांहू को, बेहद का बार।।४६।।

सबलिक के कारण में अखण्ड होने वाले व्रज के ब्रह्माण्ड तथा प्रतिबिम्ब लीला वाले इस ब्रह्माण्ड के मध्य एक गोपनीय रहस्य छिपा हुआ है, जिसमें त्रिधा लीला का सार तत्त्व भी छिपा हुआ है। इस रहस्य को न जानने के कारण ही किसी को भी बेहद मण्डल का ज्ञान नहीं हो सका।

भावार्थ– इस चौपाई में सांकेतिक रूप से यह बात दर्शायी गयी है कि ब्रह्मात्माओं के साथ अक्षरातीत ने ११ वर्ष ५२ दिन तक जो लीला की है, वह बेहद मण्डल में अखण्ड रूप से विद्यमान है। इस संसार में ७ दिन गोकुल में तथा ४ दिन मथुरा में लीला करने वाला कोई और था, तथा द्वारिका की लीला करने वाला कोई और था। सबमें नाम तो श्री कृष्ण ही है, किन्तु स्वरूप अलग–अलग थे। तारतम ज्ञान से रहित होने के कारण संसार

के विद्वान इस गोपनीय रहस्य को जानने से वंचित ही रहे हैं। इसका विवरण आगे की चौपाइयों में दिया जा रहा है। चौपाई ३९ तथा ४६ में "सेर रखने" का भाव है– किसी गोपनीय रहस्य को उजागर न करना।

इत फेर उठे जाने प्रतिबिंब, यामें साथ पिउ।

खेल आए जाने हम नहीं, धोखा रह्या जिउ।।४७।।

इस नये ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्ब के स्वरूप बने, अर्थात् पूर्ववत् गोप–गोपियों एवं श्री कृष्ण जी जैसे ही तन प्रकट हुए। इनके हृदय में हमेशा ही इस बात का संशय बना रहा कि वास्तव में हम कौन हैं? यदि हम रास के लिये विरह में शरीर छोड़ने वाली सखियाँ हैं, तो इस समय हम जीवित कैसे हैं? हम तो कहीं और गयी थीं, किन्तु इस समय हम इस संसार में क्यों दिखायी पड़ रही हैं?

भावार्थ– महारास के लिये जब नित्य वृन्दावन में बांसुरी बजी थी, तो उस समय सभी गोपियों (ब्रह्म सृष्टियों और ईश्वरी सृष्टियों) ने अपना तन छोड़ दिया। ईश्वरी कुमारिका सखियाँ तो महारास में चली गयीं, किन्तु उनके जीव व्रज लीला में अखण्ड हो गये। जब वे प्रतिबिम्ब की सखियों के रूप में इस ब्रह्माण्ड में पुनः आये, तो उनके मन में यह संशय घर कर गया की व्रज में तो हमने विरह में अपना तन छोड़ दिया था और हमें ऐसा भी अनुभव हुआ था कि हम इस संसार को छोड़ कर किसी ऐसे स्थान में जा रही थीं, जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश था, प्रेम ही प्रेम था। हमने सभी सखियों को विरह में तन छोड़ते और घर वालों को उनका पीछा करते हुए देखा था। यदि हम वही सखियाँ हैं, तो हम सभी जीवित कैसे हो गयीं? इस ब्रह्माण्ड में एक रात्रि की

लीला करके हम चुपचाप अपने घर गयीं और अपने पतियों के कक्ष में सो गयीं। हमें जरा भी इस बात का पता नहीं चल पाया कि हम रात्रि के समय कहाँ पर थीं।

धोखा इनों का भी ना मिट्या, तो कहा करे और।

बेहद वानी के माएने, क्यों होवे दूजे ठौर।।४८।।

जब प्रतिबिम्ब की सखियों का ही संशय नहीं मिटा, तो भला अन्य क्या कर सकते हैं? ब्रह्मसृष्टियों के अतिरिक्त बेहद के गुह्य रहस्यों को और कौन जान सकता है?

यों साथ पिछला आइया, इत इन दरवाजे।

मूल साथ फेर आवसी, ए किया जिन काजे।।४९।।

व्रज में कुमारिका सखियों की इच्छा पूरी नहीं हो सकी थी, इसलिये उनके जीव इस नये ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्ब

की सखियों के रूप में खेले। इस ब्रह्माण्ड में परमधाम की आत्माओं को बाद में आना था। उनके लिये ही यह माया का खेल पुनः बनाया गया है।

क्यों जाने हद के जीवड़े, बेहद की बातें।

रास में खेले अखंड, इत उठे प्रभातें।।५०।।

इस संसार के जीव बेहद के गुह्य रहस्यों को समझने में पूर्णतया असमर्थ हैं। प्रतिबिम्ब की सखियाँ भ्रमवश यही मानती रहीं कि हमने ही रास में लीला की थी तथा इस प्रतिबिम्ब की लीला में भी हम ही लीला कर रहे हैं।

भावार्थ– इस चौपाई के चौथे चरण में कथित "प्रभात" शब्द से आशय इस नये ब्रह्माण्ड के प्रारम्भिक काल से है।

खेले पिछले साथ में, सात दिन तांई।

अक्रूर चल्या बुलाए के, पोहोंचे मथुरा मांहीं।।५१।।

प्रतिबिम्ब तथा वेदऋचा सखियों के साथ गोकुल में सात दिन तक प्रेम की लीला हुई। कंस के निर्देश पर श्री कृष्ण जी व बलराम जी को लेकर अक्रूर जी मथुरा में गये, जहाँ चार दिनों तक लीला हुई।

भावार्थ– २४००० कुमारिकाओं के जीव रूपी प्रतिबिम्ब की सखियों तथा १२००० वेद ऋचाओं के साथ श्री कृष्ण जी के जिस स्वरूप ने ११ दिन (७ दिन गोकुल में और ४ दिन मथुरा में) लीला की, उनमें विष्णु भगवान का जीव था तथा रास बिहारी का आवेश था।

यदि यह कहा जाये कि उस स्वरूप पर रास बिहारी का आवेश न होकर बाल मुकुन्द जी का आवेश था, तो यह उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि इस ब्रह्माण्ड का प्रारम्भ रास

की रात्रि से होता है। इस प्रकार की रास मात्र रास बिहारी का आवेश ही कर सकता है। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि यहाँ जिस रास बिहारी जी की बात की जा रही है, वे मात्र रास मण्डल के नूरमयी तन हैं। उनमें अक्षरातीत का कोई भी आवेश नहीं है।

प्रतिबिम्ब एवं वेदऋचा सखियाँ रास बिहारी को अपना आराध्य मानकर उनके विरह में तड़प सकती हैं, उसमें कोई दोष नहीं होगा। रास बिहारी को गोलोकी कहना भी उचित नहीं है क्योंकि गोलोक का आशय ही व्रज लीला के ब्रह्माण्ड से है।

तोलों भेख जो पिउ का, कुबलापील मारया।

चांडूल मुष्टक संघार के, जाए कंस पछाड़या।।५२।।

मथुरा में श्री कृष्ण जी ने कुबलयापीड़ हाथी तथा चाणूर

एवं मुष्टिक नामक योद्धाओं का वध किया। इसके उपरान्त उन्होंने अत्याचारी कंस का संहार किया। यहाँ तक ग्वालों का ही भेष धारण किये रहे।

टीका दिया उग्रसेन को, भए दिन चार।

छोड़ वसुदेव भेख उतारिया, या दिन थें अवतार।।५३।।

तदुपरान्त कारागार में बन्दी अपने माता –पिता वसुदेव–देवकी एवं नाना उग्रसेन को बन्धन मुक्त किया। जब उन्होंने उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाकर उनका राज तिलक किया, तो इस समय तक मथुरा में चार दिन व्यतीत हो गये थे। जब ग्वालों का भेष उतारकर उन्होंने राजसी वस्त्र धारण किया, तो बेहद (रास बिहारी) की शक्ति उनसे अलग हो गयी, तथा अब वे मात्र विष्णु के अवतार रूप ही रह गये।

अब इहां से लीला हद की, सोतो सारे केहेसी।

पर बेहद वानी हम बिना, दूजा कौन देसी।।५४।।

यहाँ से विष्णु रूपी श्री कृष्ण के द्वारा हद की लीला प्रारम्भ होती है, जिसका वर्णन सभी करते हैं। किन्तु बेहद मण्डल का ज्ञान हम ब्रह्मात्माओं के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता।

नरसैयां इन पेंडे खड़ा, लीला बेहद गाए।

बल करे अति निसंक, मिने पैठ्यो न जाए।।५५।।

नरसैंया ने बेहद की राह में खड़े होकर, अर्थात् श्रद्धा–विश्वास के साथ बेहद की प्रेममयी राह अपनाकर, वहाँ की लीला का वर्णन किया। उसने बेहद में जाने का बहुत अधिक प्रयास तो किया, किन्तु असफल रहा।

भावार्थ– नरसैंया का वास्तविक नाम नरसी मेहता है,

जिनका जन्म जूनागढ़ में (वि.सं. कहीं १४०९–१४६६ व कहीं १४१४–१४७१ का वर्णन है) हुआ था। ये पहले शिव जी के परम भक्त थे। उन्हीं के आशीर्वाद से नरसैंया ने अखण्ड व्रज लीला का दर्शन किया। उनकी वाणी से यह संकेत मिलता है कि उन्हें रास की भी झलक मिल गयी थी। इसके पश्चात् उनकी जीवन धारा बदल गयी तथा उन्होंने शिवजी की भक्ति छोड़कर राधा–कृष्ण की भक्ति में स्वयं को न्योछावर कर दिया। अब उनका नाम भी नरसी मेहता से नरसैंया हो गया, जिसका आशय होता है– शरीर से पुरुष होते हुए भी गोपी भाव की प्रेमाभक्ति में डूबे रहने वाला।

जो बल किया नरसैऐं, कोई करे ना और।

हद के जीव बेहद की, लीला देखी या ठौर।।५६।।

बेहद में जाने के लिये जितना प्रयास नरसैंया ने किया, उतना प्रयास (पुरुषार्थ) अन्य कोई भी दूसरा नहीं कर सकता। यद्यपि नरसैंया हद (इस ब्रह्माण्ड) के जीव ही थे, किन्तु उन्होंने अपने आराध्य के प्रति प्रेममयी भक्ति का मार्ग अपनाया और इसी संसार में रहते हुए उन्होंने वहाँ की लीला का मनोहर वर्णन भी कर दिया।

नरसैयां दौड़या रस को, वानी करे रे पुकार।

रस जाए हुआ अंदर, आड़े दरवाजे चार।।५७।।

नरसैंया ने बेहद का रस (आनन्द) पाने के लिये दौड़ लगायी अर्थात् अथक प्रयास किया। उनकी वाणी यह दर्शा रही है कि बेहद का रस उनके हृदय में आते–आते रुक गया, क्योंकि उनकी राह में चार दरवाजे (कारण) बाधक बन गये।

भावार्थ– यह तो सर्वविदित है कि प्रकृति (माया) मण्डल को पार करने के पश्चात् ही बेहद मण्डल का अनुभव हो सकता है। नरसैंया ने शिव जी की कृपा से अखण्ड व्रज के दृश्य की झलक तो देख ली थी, किन्तु स्वयं अपने ध्यान बल से देखने के लिये उन्हें प्रकृति के चारों रूपों– १. स्थूल (शरीर एवं सभी दृष्टिगोचर स्थूल पदार्थ) २. सूक्ष्म (महत्तत्व और अहंकार) ३. कारण (कारण प्रकृति) तथा ४. महाकारण (मोह तत्त्व)– से परे होना पड़ता। उन्होंने प्रयास तो बहुत किया, किन्तु तारतम ज्ञान न होने से वे प्रकृति के चारों बन्धनों को तोड़कर व्रज–रास के मण्डल में प्रवेश नहीं कर सके और जीवन भर विरह–प्रेम में तड़पते रहे।

आदिनारायण के प्रकट होने से पूर्व, प्रकृति का सूक्ष्मतम रूप मोह तत्त्व ही महाकारण कहलाता है। प्रकट

होने के पश्चात्, उसी में विक्षोभ होता है और वह कारण कहलाता है।

उपरोक्त घटनाक्रम से हमें यह विशेष शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार नरसैंया विरह–प्रेम में डूबकर भी बेहद के रस में पूर्ण रूप से नहीं डूब सके क्योंकि तारतम ज्ञान से रहित होने के कारण वे हद–बेहद के रहस्यों से अनभिज्ञ थे, उसी प्रकार हम सुन्दरसाथ भी यदि केवल युगल स्वरूप या मूल मिलावे के भावों में ही डूबे रहेंगे तथा अपने संकल्प से कालमाया और योगमाया से पार होने का भाव नहीं लेंगे, तो हमारी आत्मिक दृष्टि परमधाम के आनन्द को यथार्थ रूप से आत्मसात् नहीं कर पायेगी। सम्भव है, युगल स्वरूप की भावलीनता में डूबे रहने से कुछ पलों के लिये उनकी छवि की झलक भी मिल जाये, किन्तु अपनी आत्म–जाग्रति एवं

परमधाम के आनन्द में डुबकी लगाने के लिये बैठकर चितवनि करनी ही पड़ेगी तथा सुरता द्वारा कालमाया एवं योगमाया को पार करना ही पड़ेगा। कालमाया तथा योगमाया को पार करके परमधाम जाने का भाव, ज्ञान दृष्टि से विरह के भावों में ही होता है। प्रेम के भावों में डूबते ही ज्ञान दृष्टि समाप्त हो जायेगी तथा अपनी आत्मा के धाम हृदय में ही युगल स्वरूप सहित सम्पूर्ण परमधाम दृष्टिगोचर होने लगेगा, किन्तु उस समय अपने शरीर और संसार का कुछ भी आभास नहीं रहेगा।

द्वारने इन बेहद के, लेहेरें आवें सीतल।

सो इत खड़ा लेवहीं, रस की प्रेमल।।५८।।

बेहद के द्वार तक हृदय को शीतल कर देने वाली प्रेम और आनन्द के सागर की लहर आती रही। नरसैंया वहाँ

(उस अवस्था) तक पहुँचकर उसका रसपान करते रहे और उसमें भाव विभोर होते रहे।

भावार्थ– यद्यपि निराकार मण्डल (मोह तत्त्व) को पार करते ही बेहद का धाम प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु उपरोक्त चौपाई में बेहद का द्वार , निराकार या कोई स्थान विशेष नहीं है, बल्कि अवस्था विशेष है। बेहद में प्रवेश करने के लिये शरीर और संसार के मोह से परे होकर विरह–प्रेम की जिस अवस्था में जाना होता है, नरसैंया ने उसे प्राप्त कर लिया था। उन्हें केवल एक चरण और आगे बढ़ना था। यदि उन्हें तारतम ज्ञान से हद–बेहद का वास्तविक ज्ञान मिल गया होता, तो लक्ष्य को प्राप्त कर लेना उनके लिये कठिन नहीं रह गया था।

इन दरवाजे नरसैयां, प्रेमें लपटाना।

लीला पीछले साथ में, सुख ले समाना।।५९।।

बेहद के द्वार पर पहुँचकर नरसैंया प्रेम में विभोर हो गये। प्रतिबिम्ब तथा वेदऋचा सखियों के द्वारा होने वाली प्रेममयी लीला के सुख को उन्होंने आत्मसात् किया।

लीला सुकें बरनन करी, बृज रास बखाना।

बेहद की बानी बिना, ठौर ठौर बंधाना।।६०।।

शुकदेव जी ने व्रज तथा रास की प्रेममयी लीलाओं का मनोरम वर्णन तो किया, किन्तु उनके पास जाग्रत बुद्धि के ज्ञान की यह बेहद वाणी नहीं थी, इसलिये वे कई प्रसंगों में उलझ गये अर्थात् स्पष्ट रूप से न कह सके।

भावार्थ– शुकदेव जी महान योगेश्वर हैं एवं अक्षर ब्रह्म की वासना (सुरता) हैं। उन्होंने परब्रह्म के जोश

(जिबरील) के द्वारा महारास का वर्णन करने का प्रयास किया था, किन्तु परीक्षित के प्रश्न कर देने के कारण वे स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं कर सके। जोश जाने के पश्चात् उन्होंने जो कुछ वर्णन किया है वह बौद्धिक धरातल पर किया गया वर्णन है, इसलिये उसमें कहीं–कहीं विरोधाभास भी है।

तारतम वाणी परब्रह्म के आवेश स्वरूप के द्वारा कही गयी है और इसके प्रस्तुतीकरण में जोश, जाग्रत बुद्धि, आदि का भी योग है। तारतम वाणी के द्वारा बेहद और परमधाम का जो स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है, वैसा वर्णन जोश के द्वारा कहे गये भागवत, बीजक, माहेश्वर तन्त्र, तथा गीता में नहीं है। यही कारण है कि इस चौपाई में शुकदेव जी को स्थान–स्थान पर अटकता हुआ दर्शाया गया है।

ना तो ए क्यों ऐसे वरनवे, क्यों कहे पंच अध्याई।

ए रस छोड़ और वचन, मुख काढ्यो न जाई।।६१।।

यदि शुकदेव जी के पास जाग्रत बुद्धि के ज्ञान का प्रकाश होता, तो वे इस प्रकार संशयात्मक भाव से वर्णन नहीं करते और रास को मात्र पाँच अध्यायों में ही सीमित नहीं करते। उनके मुख से तो रास के अपार आनन्द के अतिरिक्त अन्य लौकिक बातों (राज्य की कहानियों) का वर्णन नहीं होता।

भावार्थ– श्रीमद्भागवत् १०/२९/१,२,३ में जहाँ योगमाया का वर्णन है, वहीं १०/३३/४,५ में महारास के अन्तर्गत देवताओं का अपनी पत्नियों सहित विमानों पर बैठकर आना तथा गन्धर्वों का गायन करना विरोधाभास प्रकट करता है। इसी प्रकार, जहाँ पहले १०/२९/११ में "जुहुः गुणमयं देहः" कहकर यह

दर्शाया गया है कि गोपियों ने परमात्मा के प्रेम में अपना शरीर छोड़ दिया, वहीं १०/३३/४० में विष्णु भगवान को रास लीला करने वाला कह दिया गया है– "विक्रीडितं व्रजवधुभिरिद् च विष्णोः।"

होवे अस्कंध द्वादस थें, इत कोट गुने।

पर क्या करे आग्या इतनी, बस नांहीं अपने।।६२।।

वर्तमान समय में भागवत में मात्र बारह स्कन्ध हैं। यदि शुकदेव जी के पास जाग्रत बुद्धि का ज्ञान होता तो रास के वर्णन में इससे करोड़ों गुना स्कन्ध बन जाते, किन्तु शुकदेव जी भी क्या कर सकते थे? इससे अधिक वर्णन करने के लिये परब्रह्म का आदेश ही नहीं था। इस अवस्था में स्वेच्छा से कुछ भी कर पाना उनके लिये सम्भव नहीं था।

ना हुई जाहेर या मुख, बेहद की बान।

धाख रही बोहोत हिरदे, कलप्या दुख आन।।६३।।

इस प्रकार, शुकदेव जी के मुख से बेहद की वाणी उजागर नहीं हो सकी, जिससे वे बहुत ही दुःखी हुए। उनके मन में बेहद की लीला का वर्णन करने की प्रबल इच्छा थी।

कंपमान होए कलप्या, रस गया याथें।

सोए दुख क्यों सेहें सके, रस जाए जाथें।।६४।।

परीक्षित के प्रश्न कर देने के कारण जोश चला गया था, जिसके कारण बेहद का वर्णन करने में उन्हें जो आनन्द आ रहा था, वह बन्द हो गया। इससे वे इतना व्यथित हुए कि बिलखते हुए काँपने लगे। जिसका हृदय अखण्ड के आनन्द से वंचित हो जाये, वह उसके दुःख को भला

कैसे सहन कर सकता है?

बेहद के सब्द कहे का, था हरख अपार।

दरवाजा ना खोलिया, रह्या रस सार।।६५।।

शुकदेव जी के हृदय में इस बात की बहुत अधिक (अपार) प्रसन्नता थी कि उनके द्वारा महारास के रूप में बेहद का ज्ञान अवतरित होगा। दुर्भाग्यवश उनसे बेहद का स्पष्ट वर्णन नहीं हो सका। इस प्रकार यह संसार बेहद के परम ज्ञान के आनन्द रस से वंचित रह गया।

भावार्थ– "दरवाजा न खोलिया" एक आलंकारिक कथन है। इसका तात्पर्य है– उसका वर्णन न कर पाना। वर्णन कर देने से संसार भी उसका लाभ उठा सकता था। ऐसा न हो पाने के कारण ही इस प्रकार का कथन किया गया है।

रास रात बरनन करी, देखो मन विचार।

नारायनजी की रात को, कोईक पावे पार।।६६।।

हे साथ जी! आप अपने मन में इस बात का विचार कीजिए कि शुकदेव जी ने रास की रात्रि का भी वर्णन कर दिया है। आदिनारायण की रात्रि कितनी लम्बी होती है, इसका पार (हिसाब) कोई विरला ही कर पाता है।

भावार्थ– यह सम्पूर्ण सृष्टि आदिनारायण के स्वप्न में ही चल रही है। स्वप्न तभी तक रहता है, जब तक रात्रि रूपी नींद रहती है। आदिनारायण के जाग्रत होते ही इस सम्पूर्ण सृष्टि का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। "भरम सो भरम भरमाना" (किरन्तन २/६) के इस कथन का अभिप्राय यह है कि सुमंगला पुरुष जब सृष्टि रचना के चिन्तन में डूब जाते हैं, तो वे स्वयं को भूल जाते हैं। उसे ही इस मायावी जगत में स्वप्न देखना कहते हैं। उनका

स्वाप्निक रूप ही आदिनारायण के रूप में मोहसागर में प्रकट होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सुमंगला पुरूष की जाग्रति पर ही आदिनारायण की जाग्रति निर्भर करती है। आदिनारायण या इस सृष्टि का अस्तित्व ही रात्रि का समय माना जा सकता है।

पौराणिक मान्यता के अनुसार ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों में चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड (सौर मण्डल) का लय हो जाता है। इस परिमाण से ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष अर्थात् एक पूर्ण दिन।

इस प्रकार ८६४०००००००x३०x१२x१०० रात्रि का समय सिद्ध होता है। असंख्यों आकाशगंगाओं वाली इस सृष्टि तथा आदिनारायण की रात्रि का भी यही समय निश्चित होता है। शुकदेव जी ने १०/३३/३९ में

"ब्रह्मरात्रि उपावृते" कहकर रास की रात्रि का वर्णन किया है।

पार नहीं रास रात को, ए तो बेहद कही।

तामें अखंड लीला रास की, पंच अध्याई भई।।६७।।

रास की लीला अभी भी निरन्तर हो रही है और अनन्त काल तक होती रहेगी। इस प्रकार उसे असीम (अनन्त) कहा गया है। किन्तु श्रीमद्भागवत में तो रास की अखण्ड लीला को समाप्त करके गोपियों के घर आने का भी वर्णन कर दिया गया है और उसे पाँच अध्यायों में सीमित कर दिया गया है।

देखो जाहेर याके माएने, चित ल्याए वचन।

रात ऐसी बड़ी तो कही, लीला बड़ी वृंदावन।।६८।।

हे साथ जी! रास के सम्बन्ध में कहे गये इन वचनों पर एकाग्रचित्त से विचार कीजिए कि इनका स्पष्ट अर्थ क्या है? वास्तविकता तो यह है कि नित्य वृन्दावन में होने वाली रास लीला की गरिमा बहुत अधिक (बड़ी) है क्योंकि यह स्वयं परब्रह्म के द्वारा अपनी आत्माओं के साथ की गयी है। इस दृष्टि से तथा अखण्ड होने के कारण, यह रात बहुत बड़ी कही गयी है।

ए पंच अध्याई होवे क्यों कर, मेरे मुनीजी की बान।

पर सार समें बीच अटक्या, रस आए सुजान।।६९।।

भला, मेरे शुकदेव मुनि जी के मुख से कही जाने वाली यह रास लीला मात्र पाँच अध्यायों में ही कैसे सीमित हो गयी? इसका रहस्य यह है कि जैसे ही शुकदेव जी ने अखण्ड धाम (बेहद) की लीला का वर्णन करना प्रारम्भ

किया, परीक्षित के द्वारा प्रश्न कर देने के कारण बीच में ही आनन्द का रस समाप्त हो गया, जबकि उन्हें अखण्ड का ज्ञान सुनाते समय बहुत अधिक रस (आनन्द) आने लगा था।

दुख हुआ बोहोत कलप्या, पर कहा करे जान।
पात्र बिना पावे नहीं, रस बेहद वान।।७०।।

इस अवस्था में शुकदेव जी बहुत ही व्यथित भावों में विलाप करने लगे। किन्तु कोई भी अब क्या कर सकता था? यह तो निश्चित है कि बिना पात्रता के बेहद की वाणी का रस किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकता।

पात्र बिना तुम पाइया, मुनीजी क्यों करो दुख।
आज लगे बेहद का, किन लिया है सुख।।७१।।

हे शुकदेव मुनि जी! आप इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं? यह तो विचार कीजिए कि आपसे जो बेहद का थोड़ा सा वर्णन कराया गया था, क्या सचमुच में आप इसके पात्र (योग्य) थे? भला, यह तो बताइये कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज दिन तक बेहद मण्डल का सुख किसने प्राप्त किया है?

एतो हमारा कागद, तुम साथे आया।

खबर हद बेहद की, देकर पठाया।।७२।।

यह भागवत ग्रन्थ प्रियतम के आदेश से हमारे लिये भेजा गया पत्र है, जो आपके हाथ से भिजवाया गया है। इसमें कालमाया तथा योगमाया के ब्रह्माण्ड की पहचान देकर आपको हमारे लिये ही भेजा गया है।

विध सारी कागद में, हम लिए विचार।

तुम साथे मुनीजी संदेसड़ा, आए समाचार।।७३।।

इस भागवत ग्रन्थ में हद–बेहद की जो वास्तविकता दर्शायी गयी है, उसे हमने ग्रहण कर लिया है। हे मुनि जी! आपके हाथ हमारे लिये बेहद का सन्देश आया है। इसमें रास लीला का सम्पूर्ण समाचार विद्यमान है।

या सुध कागद हम लई, समझे सब सार।

औरन को ए कोहेड़ा, ना खुले द्वार।।७४।।

इस ग्रन्थ के गोपनीय रहस्यों के भेद सहित सम्पूर्ण सार तत्त्व को हमने समझ लिया है। यह संसार के लोगों के लिये एक धुन्ध (कोहरे) के समान है। चाहे वे इसे कितना भी क्यों न पढ़ें, किन्तु अखण्ड धाम के बारे में वे कुछ भी नहीं जान पाते हैं।

और विचारे क्या जानहीं, जाने जाको होए।

हम बिना द्वार बेहद के, खोल ना सके कोए।।७५।।

बेचारे ये संसार के जीव बेहद की लीला के विषय में क्या जान सकते हैं? यह रास जिनकी लीला है, एकमात्र वे ही इसको जान सकते हैं। हम ब्रह्मात्माओं के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कोई भी ऐसा नहीं है , जो श्रीमद्भागवत् के गुह्य रहस्यों को खोलकर स्पष्ट कर सके।

लाख बेर देखो फेर, न पावे कड़ी कल।

पाई नहीं त्रिगुन ने, कर कर गए बल।।७६।।

यदि कोई लाख बार भी इस भागवत ग्रन्थ को पढ़े, तो भी इसके गुह्य रहस्यों को नहीं जान सकता। बेहद के रहस्यों को जानने के लिये तो ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिवादि मनीषियों ने बहुत प्रयास किया, किन्तु वे सफल न हो

सके।

ए तो कोहेड़ा हद का, बेहदी समाचार।

ए देखावें हम जाहेर, साथ को खोल द्वार।।७७।।

इस संसार के लोगों के लिये श्रीमद्भागवत् कुहरे के समान अन्धकारमय है, किन्तु इसमें बेहद मण्डल का समाचार भी दिया गया है। तारतम ज्ञान के प्रकाश में इसके गुह्य रहस्यों को मैं सुन्दरसाथ के समक्ष उजागर कर रही हूँ।

सुकजी इत ले आइया, बेहद के बोल।

फेर टालो अंदर का, देखो आंखां खोल।।७८।।

शुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध अध्याय २९ श्लोक १–३ के द्वारा बेहद का सांकेतिक एवं संक्षिप्त

वर्णन किया है। हे साथ जी! आप श्रीमद्भागवत् की इस साक्षी के सम्बन्ध में एकाग्रचित्त होकर (सावधानी से) विचार कीजिए तथा अपने संशय मिटाइये।

अस्कंध दूजा मुनिऐं कहया, चत्रश्लोकी जित।
ब्रह्मांड की जहां उतपन, अर्थ देखो तित।।७९।।

शुकदेव मुनि ने भागवत के दूसरे स्कन्ध में चार विशेष श्लोकों का वर्णन किया है। यदि आप इन श्लोकों के अर्थ पर चिन्तन करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इसमें इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का रहस्य छिपा हुआ है।

ए द्वार देखोगे जाहेर, होसी माया पेहेचान।
ए माएना नीके लीजियो, हिरदे में आन।।८०।।

हे साथ जी! आप अपने हृदय में इन चार श्लोकों के गुह्य

अर्थ को अच्छी प्रकार से ग्रहण कीजिए। इससे आप को माया की पहचान तो हो ही जायेगी, बेहद का भी भेद प्रत्यक्ष हो जायेगा।

भावार्थ– द्वार से ही लक्ष्य (निवास) तक जाया जाता है। निराकार (महामाया) से परे बेहद मण्डल कहाँ पर विद्यमान है, यह जानना ही "द्वार" को जानना है।

मोह तत्व कहया नींद को, सुरत अहंकार।

सुपन को कहया ब्रह्मांड, नाम धरे बेसुमार।।८१।।

मोह तत्त्व नींद को कहते हैं और उसमें प्रविष्ट होने वाली सबलिक सूरत को अहंकार कहते हैं। मोह सागर में प्रकट होने वाले स्वरूप (आदिनारायण) के स्वप्न को ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस प्रकार धर्मग्रन्थों में इनके बहुत से (अनन्त) नाम रखे गये हैं।

भावार्थ– अव्याकृत के महाकारण (सबलिक के स्थूल) में स्थित सुमंगला पुरुष ही अव्याकृत के स्थूल में रोधिनी शक्ति – प्रणव ब्रह्म हैं। जिस प्रकार, जब हम स्वप्न देखते हैं तो स्वप्न में हमारा स्थूल शरीर ही प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु स्वप्न का द्रष्टा तो जीव (महाकारण स्वरूप) ही होता है। इसी प्रकार मोह सागर में सबलिक का स्थूल जब ध्यान रूप से प्रकट होता है, तो उसे सबलिक सूरत कहते हैं। स्वयं को जब वह प्रणव (हिरण्यगर्भ, महाविष्णु, आदिनारायण, या ऊँकार) के रूप में देखता है, तो उसे अहंकार कहते हैं।

भ्रान्तिवश इस चौपाई के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि सत्स्वरूप अक्षर ब्रह्म का मन है तथा अव्याकृत अहंकार स्वरूप है, किन्तु ऐसा नहीं है।

प्रकट वाणी में महाविष्णु को अक्षर ब्रह्म के मन

(अव्याकृत) का प्रतिबिम्बित स्वरूप कहा गया है। यदि सत्स्वरूप को मन का स्वरूप माना जाये, तो महाप्रलय के पश्चात् महाविष्णु (आदिनारायण) का स्थान भी सत्स्वरूप ही होना चाहिए, जो कदापि सम्भव नहीं है।

तारतम वाणी में स्पष्ट कहा गया है–

ए ठौर माया ब्रह्म सबलिक, त्रिगुण की परआतम।।

किरंतन ६५/२०

इस आधार पर आदिनारायण का मूल स्थान सबलिक का स्थूल या अव्याकृत का महाकारण ही सिद्ध होता है। इस प्रकार निर्विवाद रूप से अव्याकृत को मन एवं सत्स्वरूप को अहंकार का स्वरूप माना जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भी यदि देखा जाये, तो "मनसस्तु परा बुद्धिः" (कठोपनिषद् ३/१०) कहा गया है, अर्थात् मन से परे बुद्धि है। किन्तु ऐसा तभी सम्भव होगा, जब

अव्याकृत को मन माना जाये। केवल ब्रह्म को बुद्धि का स्वरूप मानने पर अहंकार का स्वरूप सत्स्वरूप को ही मानना पड़ेगा।

पैड़ा बेहद वतन का, ए वतनी जाने।

हद का जीव बेहद का, द्वार क्यों पेहेचाने।।८२।।

बेहद मण्डल का अनुभव किस प्रकार किया जाये, इसे मात्र ब्रह्मसृष्टियाँ ही जानती हैं। भला, कालमाया का जीव बेहद की प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण कैसे कर सकता है?

देख्यो द्वार बेहद के, सुकजी बलवंत।

पर कल किल्ली क्यों पावहीं, जोर किया अनंत।।८३।।

शुकदेव जी महान योगेश्वर हैं। उन्हें बेहद की प्राप्ति के मार्ग का भी बोध हो गया था। उन्होंने बहुत अधिक

प्रयास तो किया, किन्तु सबके लिये वे बेहद का द्वार इसलिये नहीं खोल सके क्योंकि उनके पास न तो जाग्रत बुद्धि थी और न तारतम ज्ञान था।

भावार्थ– अक्षर ब्रह्म की वासना (सुरता) होने के कारण शुकदेव जी ध्यान द्वारा बेहद के आनन्द में तो डूबे ही रहते हैं, किन्तु द्वार खोलने का तात्पर्य अन्य लोगों के लिये बेहद का सुख उपलब्ध कराना है, जो उनके द्वारा सम्भव नहीं हो सका।

द्वार खोलने दौड़िया, सुकजी सपराना।

ले चल्या संग परीछित, सो तो बोझे दबाना।।८४।।

बेहद का द्वार खोलने के लिए शुकदेव जी तत्पर हुए। वे अपने साथ परीक्षित को भी बेहद का सुख देना चाहते थे, किन्तु परीक्षित बेहद में प्रवेश करने की परीक्षा के

बोझ से ही दब गया अर्थात् उसका लौकिक जीव भाव समाप्त नहीं हो सका। परिणाम स्वरूप, वह वहाँ का नाम मात्र भी सुख नहीं ले सका।

बल किया बलिऐं घना, द्वार द्वार पछटाना।

पर साथे संघाती हद का, इत सो उरझाना।।८५।।

महान योगेश्वर श्री शुकदेव जी ने बहुत अधिक प्रयास किया, किन्तु परीक्षित के कारण उन्हें बेहद के द्वार पर दुःखी होना पड़ा। उनके साथ हद का जीव परीक्षित था, जिसकी संगति ने शुकदेव जी को उसमें उलझा दिया।

रास लीला सुख अखंड, इत तो ना केहेलाना।

पाछल तान हुई घनी, अध बीच लेवाना।।८६।।

इस प्रकार रास लीला के अखण्ड सुख का वर्णन

शुकदेव जी नहीं कर सके। राजा परीक्षित ने उन्हें बीच में ही जोर से खींचा, जिससे शुकदेव जी बीच में ही रुक गये।

भावार्थ– बेहद (योगमाया) निर्विकार प्रेम की भूमिका है। उसे सत्व, रज, तम के बन्धन में फँसे जीव नहीं समझ सकते। शुकदेव जी ने परीक्षित से पहले ही कह दिया था कि तुम चुपचाप सुनते जाना, संशयात्मक भाव से प्रश्न नहीं करना। किन्तु बाँसुरी की ध्वनि सुनकर गोपियों के घरों से निकलने एवं रास क्रीड़ा करने पर परीक्षित का मन संशयग्रस्त हो गया कि परायी स्त्रियों के साथ श्री कृष्ण जी ने रास क्यों किया? प्रश्न सुनते ही शुकदेव जी का ध्यान टूटा और जोश चले जाने के कारण अखण्ड का वर्णन नहीं हो सका।

पात्र बिना रस क्यों रहे, आवत ढलकाना।

पात्र हुते तिन पाइया, भली भांत पेहेचाना।।८७।।

बिना पात्रता के बेहद का रस किसी के हृदय रूपी बर्तन में कैसे आ सकता है? यदि किसी विशेष कृपा से आ भी जाये, तो आते ही ढुलक जाता है। इस रस को पाने की क्षमता जिन ब्रह्मसृष्टियों और ईश्वरीसृष्टि में है, उन्होंने इस जागनी लीला में धाम धनी की पहचान की और उसका रसपान किया।

बरस असी लगे ए रस, सारी पेरे सचवाना।

लिया पिया साथ में, जिन जैसा जाना।।८८।।

८० वर्ष (वि.सं.१६५५-१७३५) तक यह रस सुन्दरसाथ के बीच में ही बँटता रहा। सुन्दरसाथ ने धाम धनी की जैसी पहचान की, उसके अनुसार उन्हें बेहद

का सुख मिला।

भावार्थ– लगभग १७ वर्ष की आयु में जब श्री देवचन्द्र जी हरिदास जी की सेवा में आए, उस समय से बेहद का रस आना प्रारम्भ हो गया था। इसके पहले ११ वर्ष की उम्र में उनके मन में स्वयं को तथा प्रियतम अक्षरातीत को जानने की इच्छा हुई थी। सनद ग्रन्थ के अवतरण से पहले सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी का वेद पक्ष का ज्ञान ही चलता रहा। इस प्रकार १६३८+१७+८०= १७३५ हुआ।

एक बूंद बाहेर न निकस्या, साथ मिने समाना।

जिन का था तिन बिलसिया, मिनो मिने बटाना।।८९।।

इन अस्सी बरसों में बेहद का रस केवल सुन्दरसाथ को ही प्राप्त होता रहा। जीव सृष्टि इस सौभाग्य से वंचित ही

रही। बेहद और परमधाम की जिन आत्माओं के लिये यह रस अवतरित हुआ था, उनमें वह बँटता रहा।

अब हम मिने थें ए रस, इत आए छलकाना।

छोल आई ज्यों सागर, अंग थें उभराना।।९०।।

हमारे अन्दर से बेहद का रस यहाँ वि.सं.१७३५ में छलक गया। जिस प्रकार सागर के अन्दर से लहरों का प्रवाह आता है, उसी तरह प्रियतम परब्रह्म के आदेश से मेरे हृदय धाम से बेहद का रस जीवों के लिये भी प्रवाहित हो गया।

भावार्थ– वि.सं.१७१८ में श्री जी जूनागढ़ पहुँचे थे, जहाँ हरजी व्यास को बेहद का रस प्राप्त हुआ। इसी प्रकार वि.सं.१७३५ में जीव सृष्टि ने भी हरिद्वार तथा अन्य स्थानों में इस अलौकिक ज्ञान को सुना।

जोर किया हम बोहोतेरा, रस रहया न ढपाना।

ए अब जाहेर होएसी, बाहेर प्रगटाना।।९१।।

यद्यपि मैंने बहुत प्रयास किया कि बेहद का रस संसारी जीवों में नहीं फैले , किन्तु धाम धनी के आदेश से यह छिपा नहीं रह सका। अब तो यह निश्चित है कि बेहद धाम की यह अनमोल निधि मेरे हृदय धाम से बाहर आ चुकी है तथा निकट भविष्य में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उजागर (प्रकट) हो जायेगी।

भावार्थ– ब्रह्माण्ड के सभी जीवों को वास्तविक बोध योगमाया के ब्रह्माण्ड में सातवें दिन की लीला में ही होगा। इस जागनी लीला में तो पृथ्वीवासियों में कुछ ही लोग जान पायेंगे।

ए रस आज के दिन लों, कित काहू न लखाना।

आवसी साथ इन विध, ए रस लपटाना।।९२।।

बेहद के इस अनुपम ज्ञान एवं आनन्द को आज दिन तक कहीं भी किसी ने नहीं पाया था। इस बेहद वाणी को आत्मसात् करके सुन्दरसाथ धाम धनी के चरणों में आयेंगे तथा बेहद के आनन्द रस में डुबकी भी लगायेंगे।

भावार्थ– ज्ञान लक्ष्य को दर्शाने वाला होता है तथा प्रेम लक्ष्य को प्राप्त कराने वाला। किसी एक के अभाव में लक्ष्य कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। बेहद की लीला का रसपान करने के लिये पहले बेहद का ज्ञान अनिवार्य है। सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी ने ज्ञान चर्चा के द्वारा बेहद तथा परमधाम का रस दिया, और आड़िका लीला से वहाँ की प्रत्यक्ष अनुभूति भी करायी। इसे ही बेहद का रस (ज्ञान एवं प्रेम से भरपूर) कहा गया है।

जान होए सो जानियो, ए क्योंकर रहे छाना।

क्यों कर ए छिपा रहे, सब सुनसी जहाना।।९३।।

इस समय जिसे भी बेहद का ज्ञान जानने की इच्छा हो, वह जान जाये। अब यह अनुपम ज्ञान भला छिपा हुआ क्यों रहे? इसे तो अब सारा संसार ही सुनेगा। इस समय इसे क्यों छिपाया जाये?

ए बानी बेहद प्रगटी, इंद्रावती मुख।

बोहोत विधें हम रस पिए, बेहद के सुख।।९४।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि धाम धनी के आदेश से मेरे मुख से यह बेहद वाणी प्रकट हुई है। प्रियतम की प्रेम भरी कृपा की छत्रछाया में बैठकर हम सब सुन्दरसाथ ने अनेकों प्रकार (ज्ञान, आड़िका लीला, एवं चितवनि आदि) से बेहद के सुखों का रसपान किया है।

या बानी के कारने, कई करे तपसन।

या बानी के कारने, कई पीवें अगिन।।९५।।

इस बेहद वाणी को प्राप्त करने के लिये अनेक तपस्वियों ने बहुत ही कठोर तपस्यायें की। कई हठयोगी तान्त्रिकों ने अग्नि की लपटों का पान भी किया , जिसके फलस्वरूप उन्हें बेहद का कुछ ज्ञान या प्रेम–आनन्द प्राप्त हो सके।

या बानी के कारने, कई दमे देह।

या बानी के कारने, कई करें कष्ट सनेह।।९६।।

इस बेहद वाणी को प्राप्त करने के लिये हठयोग की काया–कष्ट वाली साधनाओं से अपने शरीर को जर्जर कर दिया। इसी प्रकार बेहद के इस अलौकिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कइयों ने परमात्मा के प्रेम में अनेक

प्रकार के कष्टों को सहन किया।

भावार्थ– साधना काल में अति अल्पाहार करते हुए धूप, शीत, तथा वर्षा के कष्टों को सहन करना काया–कष्ट कहलाता है। राजकुमार सिद्धार्थ ने इसी प्रकार की साधना की थी, जिससे उनका शरीर मात्र हड्डियों का ढाँचा ही रह गया था।

या बानी के कारने, कई गले हेम।

या बानी के कारने, कई लेवे अंनसन नेम।।९७।।

इस बेहद वाणी को प्राप्त करने के लिये पाण्डव आदि ने बर्फ में अपने शरीर को गला दिया। कइयों ने भोजन न करने का नियम बनाया और शरीर रक्षा के लिये मात्र जल, वायु, एवं पत्तों का ही आहार किया।

या बानी के कारने, कई भैरव झंपावे।

या बानी के कारने, तिल तिल देह कटावे।।९८।।

बेहद के इस अनुपम ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कइयों ने पहाड़ की चोटी से छलाँग लगा दी। इसी प्रकार कइयों ने अपने शरीर को आरे से चिरवाया या छोटे–छोटे टुकड़े करवाये।

भावार्थ– जबलपुर के पास एक पर्वतीय स्थान है, जहाँ भैरव नामक काल्पनिक देवता, जो तान्त्रिकों के पूज्य माने जाते हैं, को प्रसन्न करने के लिये पहाड़ की चोटी से खाई में छलाँग लगाई जाती है। इस प्रक्रिया को भैरव झाँप कहते हैं।

इसी प्रकार काशी में भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिये अपने शरीर को आरे से चिरवाया जाता था या तलवार से टुकड़े–टुकड़े कटवाया जाता था। ऐसा अन्ध

विश्वास था कि ऐसा करने से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

इस प्रकार की आसुरी क्रिया अविद्या के अन्धकार में प्रचलित हो गयी। काशी के पण्डों ने इस अन्धपरम्परा में प्रचुर धन संग्रह किया। लम्बे अन्तराल से चली आ रही इस विनाशिनी कुप्रथा पर शाहजहाँ के शासन काल में रोक लग सकी।

या बानी के कारने, कई संधान सारे।

या बानी के कारने, कई देह जारे।।९९।।

बेहद के इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अनेकों ने स्वयं को अस्थि पञ्जर के रूप में परिवर्तित कर लिया, तो कइयों ने अपने शरीर को अग्नि की दहकती हुई लपटों में भस्मीभूत कर डाला।

भावार्थ– कठोर साधना एवं अति अल्पाहार के कारण

जब शरीर अतिशय दुर्बल हो जाता है, तो वह धीरे–धीरे हड्डियों के ढाँचे में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हड्डियों के जोड़ खुल गये हैं। उपरोक्त चौपाई के दूसरे चरण का यही आशय है।

या बानी के कारने, करें कई बिध ताब।

सो मुख थें केते कहूं, हुए जो बिना हिसाब।।१००।।

इस बेहद वाणी को प्राप्त करने के लिय असंख्य लोगों ने अनेक प्रकार के ऐसे कष्टों को सहन किया है, जिनका वर्णन इस मुख से हो ही नहीं सकता।

किन एक बूंद न पाइया, रसना भी वचन।

ब्रह्मांड धनियों देखिया, जो कहावें त्रैगुन।।१०१।।

बेहद की खोज करने वालों को बेहद के आनन्द रूपी

सागर की एक बूँद भी प्राप्त नहीं हो सकी और अपने मुख से वे इसके बारे में एक शब्द भी नहीं कह सके। इस ब्रह्माण्ड के स्वामी कहे जाने वाले ब्रह्मा, विष्णु, और शिव, जो तीनों गुणों के प्रतीकात्मक (विशिष्टतायुक्त) देवता कहे जाते हैं, ने भी बेहद की खोज की किन्तु उन्हें यथार्थ सफलता नहीं मिली।

भावार्थ– अक्षर ब्रह्म की सुरता होने के कारण विष्णु भगवान तथा शिव जी को तो इस ब्रह्माण्ड से परे बेहद मण्डल का संक्षिप्त ज्ञान अवश्य है, किन्तु तारतम ज्ञान के अभाव में वे कुछ भी व्यक्त नहीं कर पाते तथा मौन धारण किये रहते हैं।

और भी नाम अनेक हैं, पर लेऊँ कहा के।
ब्रह्मांड के धनियों ऊपर, लिए जाए न ताके।।१०२।।

इन तीनों देवों के अतिरिक्त और भी बहुत से लोग (ऋषि–मुनि) हैं, जिन्होंने बेहद की खोज की है, किन्तु उनमें से कितनों के नाम सुनाऊँ? ब्रह्माण्ड के स्वामी कहे जाने वाले इन तीनों देवताओं से श्रेष्ठ तो और कोई नहीं है। जब इन्हें बेहद की निधि नहीं मिली, तो अन्यों को कैसे मिल सकती थी?

सो रस सागर इत हुआ, लेहेरें उछले।

साथ सबे हम बिलसहीं, बाहेर पूर भी चले।।१०३।।

इस प्रकार धाम धनी ने मेरे हृदय को बेहद के ज्ञान का सागर ही बना दिया, जिसकी लहरों का जल उछल रहा है। इस ज्ञान सागर में सब सुन्दरसाथ ने तो आनन्दपूर्वक डुबकियाँ लगायी हीं, अन्य ईश्वरी सृष्टि तथा जीव सृष्टि में भी बेहद के ज्ञान सागर की लहरों ने क्रीड़ा की (ज्ञान

फैला)।

पेहेले बीज उदे हुआ, पुरी जहाँ नौतन।

सब पुरियों में उत्तम, हुई धंन धंन।।१०४।।

सबसे पहले नवतनपुरी (जामनगर) में अखण्ड धाम का आनन्द देने वाला तारतम ज्ञान प्रकट हुआ। इसे ब्रह्मवाणी रूपी वृक्ष के बीज का अँकुरित होना कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वकाल से चली आ रही सात श्रेष्ठ पुरियों (अयोध्या, काशी, मथुरा, हरिद्वार, अवन्तिका, द्वारिका, तथा काँची) से भी श्रेष्ठ कहलाकर नवतनपुरी धन्य–धन्य कहलायी।

भावार्थ– उपरोक्त सात पुरियों में हद (बैकुण्ठ–निराकार) तक का ही ज्ञान मिलता रहा है, किन्तु सृष्टि में सर्वप्रथम बेहद एवं परमधाम का ज्ञान नवतनपुरी में

प्रकट हुआ। यही कारण है कि नवतनपुरी को अन्य सात पुरियों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है।

उपरोक्त चौपाई के आधार पर यह भ्रान्ति बन गयी है कि नवतनपुरी की श्रेष्ठता पद्मावतीपुरी से भी अधिक है। इस सम्बन्ध में तारतम वाणी का कथन है–

भोम भली भरतखण्ड की, जहां आई निध नेहेचल।
और सारी जिमी खारी, खारे जल मोह जल।।
इनमें जो ठौर अव्वल, जाको नाम नौतन।
जहां आए उदय हुई, नेहेचल बात वतन।।

क. हि. १३/२,४

तिन भी ठौर अच्छी थें, जाए कहिए हिन्दुस्तान।
जहां मेंहेदी महंमद आए के, जाहिर किया फुरमान।।

सनद १३/५

अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी पर भारतवर्ष सबसे अधिक पवित्र है। भारतवर्ष में नवतनपुरी सर्वश्रेष्ठ है , क्योंकि वहीं से अखण्ड धाम के ज्ञान का प्रकटन हुआ। किन्तु नवतनपुरी से भी श्रेष्ठ पद्मावतीपुरी धाम है, जहाँ स्वयं अक्षरातीत ने श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप में प्रकट होकर परम सत्य (मारिफत) के ज्ञान के रूप में (खिल्वत, परिक्रमा, सागर, तथा श्रृंगार) की वाणी अवतरित की।

इसी प्रकार बीतक ३२/१ में भी कहा गया है–

हजरतें हज इत करी, लेने को मक्का।

फते करी दज्जाल की, कूच करे दारूल बका।।

जब युगल स्वरूप श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान हो गये, तो जिस पद्मावतीपुरी धाम में विराजमान होकर उन्होंने परमधाम के ज्ञान द्वारा जागनी लीला की, उसके समक्ष अन्य कोई भी स्थान नहीं हो

सकता। नवतनपुरी में तो मात्र बिहारी जी की गादी ही विद्यमान रही, जिससे किसी आत्मा को जागनी का प्रकाश नहीं मिला।

फेर कहूँ विध सकल, जासों सब समझाए।

संसा कोई साथ को, मैं राख्यो न जाए।।१०५।।

अब मैं ब्रह्मलीला के सभी तथ्यों (स्थान, अवस्था, तथा स्वरूप आदि) की वास्तविकता को उजागर करती हूँ, जिससे सभी को बोध हो जाये। मैं किसी भी सुन्दरसाथ के अन्दर किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहने देना चाहती।

जो रस गोकुल प्रगट्या, सो तो सुख अलेखे।

बिन जाने सुख बिलसिया, घर कोई न देखे।।१०६।।

गोकुल में प्रेम का जो रस प्रवाहित हुआ, वह किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता, किन्तु वह सुख हमने अनजानेपन में लिया। हमें यह मालूम नहीं था कि हम कौन हैं तथा श्री कृष्ण जी से हमारा इतना गहरा प्रेम क्यों है? हमें अपने परमधाम के विषय में भी कुछ नहीं पता था।

ए सुख सुपने बिलसिया, साथ पिउ संघाते।

घर देखे भागे सुपना, ना देखाय ताथे।।१०७।।

व्रज में हमने अपने प्रियतम के साथ सपने में सुख लिया। परमधाम देख लेने पर तो सपना ही समाप्त हो जाता है। इसलिये प्रियतम अक्षरातीत ने उस समय हमें परमधाम की पहचान नहीं दी।

सुपन भागे सुख क्यों होए, खेल क्यों देखाए।

जब सुख वतन लीजिए, नींद उड़के जाए।।१०८।।

स्वप्न (जगत) के समाप्त हो जाने पर हमें व्रज की लीला का सुख कैसे मिल सकता था तथा हम इस खेल को भी कैसे देख सकते थे? अखण्ड परमधाम का सुख पा लेने पर तो माया की नींद स्वतः ही समाप्त हो जाती है। यदि नींद नहीं, तो सपना नहीं, और जगत का मोह भी नहीं।

नींद उड़े भागे सुपना, तब फेर फेरा होए।

सुख सुपन और वतन, लिए जांए ना दोए।।१०९।।

नींद के हटते ही सपना समाप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में पुनः खेल देखने के लिये आना पड़ता, अर्थात् यदि व्रज में जाग्रति हो जाती तो परमधाम में

माया देखने की जो इच्छा थी, वह व्रज में पूरी नहीं हो पाती तथा पुनः व्रज का ब्रह्माण्ड बनाना पड़ता। स्वप्न का सुख तथा परमधाम के सुख दोनों एक साथ नहीं लिये जा सकते।

या विध साथ समझियो, सुख साथ को दियो।

यों बिन जाने बृजमें, सुख सुपने लियो।।११०।।

हे साथ जी! आप इस रहस्य को समझिये कि धाम धनी ने हमें व्रज में नींद में रखकर ही अपना सुख दिया। हमने व्रज में धाम धनी एवं निज घर को जाने बिना स्वप्नावस्था जैसी स्थिति में प्रियतम का सुख लिया।

अब सुख रास कहा कहूँ, जाने निज सुख होए।

ए सुख साथ पिउ बिना, न जाने कोए।।१११।।

अब मैं रास के सुख का वर्णन कैसे करूँ? रास के सुख भी हमारे अपने ही हैं। इस अपार सुख को हमारे तथा धाम धनी के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता है।

ए पिउ सरूप नौतन, नौतन सिनगार।

नेह हमारा नौतन, नौतन आकार।।११२।।

योगमाया के ब्रह्माण्ड में केवल ब्रह्म की भूमिका में प्रियतम अक्षरातीत ने जो अति सुन्दर किशोर स्वरूप धारण किया था, वह पूर्णतया नया था। उसका श्रृंगार भी नया ही था। हमने भी योगमाया में नये तन धारण किये थे। ५२ दिनों के वियोग की पीड़ा को समाप्त करने के लिये, हमारे हृदय में धाम धनी के प्रति एक विशेष प्रकार का कुछ नया ही प्रेम था।

ए बन सुंदर नौतन, नौतन वाओ वाए।

जल जमुना नौतन, लेहेरां लेवें बनराए।।११३।।

रास की क्रीड़ा के लिये प्रस्तुत नित्य वृन्दावन पूर्णतया नया था और अति सुन्दर था। अलौकिक सुगन्धि से भरी हुई नूतन वायु प्रवाहित हो रही थी। यमुना जी का दूध से भी उज्ज्वल जल प्रवाहित हो रहा था। उसके किनारे आये हुए वनों में वृक्षों की डालियाँ झूम रही थीं।

सुगंध बेलियाँ नौतन, जिमी रेत सेत प्रकास।

नेहेकलंक चंद्रमा नौतन, सकल कला उजास।।११४।।

वनों में सुगन्धि देने वाली लतायें नूतन शोभा से युक्त थीं। वहाँ की बिखरी हुई रेत से अति सुन्दर श्वेत प्रकाश निकल रहा था। अपनी सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित पूर्णमासी का नूतन चन्द्रमा उगा हुआ था, जिससे अति

शीतल चाँदनी छिटक रही थी।

नौतन रंग पसु पंखी, बानी नई रसाल।

नौतन वेन बजावहीं, नए सुख देवें लाल।।११५।।

उस मनोहर वृन्दावन में अनेक प्रकार के नवीन रंगों वाले पशु–पक्षी विचरण कर रहे थे और अत्यन्त मधुर वाणी बोल रहे थे। प्रियतम भी माधुर्यता के अलौकिक स्वरों में अपनी बाँसुरी बजा रहे थे तथा हम सभी को सुख दे रहे थे।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाइयों (११२–११५) में नूतन शब्द का प्रयोग यही दर्शा रहा है कि यह ब्रह्माण्ड कालमाया से भिन्न था तथा त्रिगुणातीत था। उसकी प्रत्येक वस्तु की शोभा जड़ता, त्रिगुणात्मिकता, तथा नश्वरता से रहित थी।

या रस सुख केते कहूँ, कई रेहेस प्रकार।

साथ पिउ संग विलास, हम किए अपार।।११६।।

इस महारास की लीला के आनन्द का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? इसमें प्रेम के आनन्द के कई गहन रहस्य छिपे हुए हैं। उस लीला में हमने अपने प्राणेश्वर के साथ अपार आनन्द की लीलायें की।

कई बातें या सुख की, जीव हिरदे जाने।

ए सुख पेहेले थे अलेखे, अति अधिकाने।।११७।।

महारास के सुख की बहुत सी बातें हैं, जिन्हें मेरे जीव का हृदय ही जानता है। पहले वाली व्रज की लीला की अपेक्षा रास की लीला का सुख इतना अधिक है कि उसे वाणी (जिह्वा) के द्वारा किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

तेज सबों में मूल का, सबहीं चेतन।

थिर चर चेतन ए लीला, ऐसी उतपन।।११८।।

यहाँ लीला करने वाले हमारे सभी तनों में मूल परमधाम का ही प्रेम सम्बन्ध (तेज) था। उनके अंग–प्रत्यंग सभी चेतन थे। वृन्दावन में ऐसी दिव्य लीला हुई कि वहाँ की सम्पूर्ण सामग्री, चाहे वह स्थावर (स्थित रहने वाली) हो या जंगम (चलने फिरने वाली), सभी चेतन ही थी।

पर ए सुख सबे सुपन में, नेठ नींद जो मांहें।

ए सुख जोग माया मिने, दृष्ट ना घर तांहें।।११९।।

किन्तु महारास का यह अनन्त सुख भी हमने गहन नींद की स्वप्नावस्था में ही लिया था। यह सुख हमने योगमाया के उस ब्रह्माण्ड में लिया, जिसमें हमें घर की कोई भी पहचान नहीं थी।

एक सुख कहे गोकुल के, और सुख रास सुपन।

सुख दोऊ क्यों होवहीं, विचारियो मन।।१२०।।

हमने व्रज (गोकुल) में भी प्रेम का सुख देखा तथा रास में भी देखा, किन्तु ये दोनों सुख सपने की अवस्था में ही देखे गये। हे साथ जी! आप अपने मन में इस बात का विचार कीजिए कि इन दोनों लीलाओं के सुख को वास्तविक सुख कैसे कहा जा सकता है?

भावार्थ– जिस प्रकार राजा जनक ने स्वप्न में स्वयं को एक दरिद्र भिक्षुक के रूप में देखा, किन्तु जाग्रत होने पर स्वयं को पूर्ववत् राजा के रूप में पाया। अष्टावक्र जी ने उन्हें समझाया कि स्वप्न में देखा गया दृश्य सत्य नहीं होता। इसी प्रकार परमधाम, धाम धनी, एवं स्वयं को भूल जाना ही नींद है। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार के सुख का अनुभव सत्य नहीं कहा जा सकता। यदि

झोपड़ी में सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में सोने के महल में स्वयं को चक्रवर्ती सम्राट के रूप में देखता है, तो क्या स्वप्न टूटने के बाद वह सचमुच चक्रवर्ती सम्राट बन जायेगा? यदि नहीं, तो व्रज–रास के सुखों को सत्य कैसे कहा जा सकता है?

उपरोक्त चौपाई के कथन पर उन सुन्दरसाथ को आत्ममंथन करना चाहिए, जो मात्र व्रज–रास के नाम, रूप, एवं लीला में ही खोये रहना चाहते हैं। उनके लिये सागर–श्रृंगार के ज्ञान एवं चितवनि की कोई महत्ता दिखायी नहीं देती, बल्कि रास लीला का अभिनय ही आत्म–जाग्रति का एकमात्र साधन प्रतीत होता है।

जब लीजे सुख सुपन, नहीं वतन दृष्ट।

जब सुख वतन देखिए, नहीं सुपन की सृष्ट।।१२१।।

हे साथ जी! यदि आप इस स्वप्नमयी जगत का सुख लेते हैं, तो परमधाम का साक्षात्कार नहीं होता। किन्तु यदि आप परमधाम के सुखों में स्वयं को डुबा देते हैं, तो आपको यह स्वप्नमयी जगत भी दिखायी नहीं देता।

यों सुख सुपने लिए, कछुए नहीं खबर।

इन दोऊ लीला मिने, सुध नाहीं घर।।१२२।।

व्रज और रास की इन दोनों लीलाओं में हमने नींद की स्वप्नावस्था जैसा सुख लिया। इन दोनों लीलाओं में हमें अपने मूल घर परमधाम की कोई भी पहचान नहीं थी।

या विध लीला दोऊ करी, सिधारे वतन।

ए ब्रह्मांड जो तीसरा, ले आए आपन।।१२३।।

इस प्रकार व्रज और रास की दोनों लीलायें करके

प्रियतम हमारे साथ परमधाम पहुँचे। उसके पश्चात् हमें इस जागनी के तीसरे ब्रह्माण्ड में अपने साथ लेकर आये हैं।

जो मनोरथ मूल का, हुआ नहीं पूरन।

बिन सुध विरह विलास किए, यों रही धाख मन।।१२४।।

परमधाम में सखियों के मन में यह जानने की हमेशा से इच्छा थी कि किसका प्रेम बड़ा है– हमारा, श्यामा जी का, या श्री राज जी का? इसी को लेकर सम्वाद भी होता रहता था। व्रज और रास में इसका निर्णय नहीं हो सका था, इसलिये इस सत्य को जानने की जिज्ञासा बनी रही कि वास्तव में किसका प्रेम बड़ा है? बिना परमधाम की सुधि हुए, हमने व्रज में माया देखी, तो रास में विरह तथा प्रेम के विलास का अनुभव किया।

धाख क्यों रहे अपनी, ए किया इंड फेर।

साथें आए पिउजी, इत दूजी बेर।।१२५।।

हमारे मन में कोई भी चाहना न रह जाये, इसलिये धाम धनी ने पुनः यह ब्रह्माण्ड बनाया है। इस जागनी ब्रह्माण्ड में वे हमारे साथ पुनः (व्रज की तरह) आये हुए हैं।

लीला दोऊ पेहेले करी, दूजे फेरे भी दोए।

बिना तारतम ए माएने, न जाने कोए।।१२६।।

पहली बार परमधाम से इस खेल में आने पर प्राणेश्वर अक्षरातीत ने दो लीलायें की– व्रज तथा रास। इस दूसरे आगमन में भी उन्होंने दो तनों में लीलायें की हैं – श्री देवचन्द्र जी के तन में और श्री मिहिरराज जी के तन में। किन्तु तारतम ज्ञान का प्रकाश पाये बिना कोई भी इस रहस्य को समझ नहीं सकता है।

एक में उपज्या तारतम, दूजे मिने उजास।

सब विध जाहेर होएसी, जागनी प्रकास।।१२७।।

श्री देवचन्द्र जी के तन से तारतम ज्ञान प्रकट हुआ, तो मिहिरराज जी के तन से वाणी अवतरण के रूप में उसका प्रकाश फैला। इस तारतम वाणी के द्वारा ही सर्वत्र जागनी लीला का प्रकाश फैलेगा, अर्थात् सबकी जागनी होगी।

तारतम जोत उद्दोत है, तिनथे कहा होए।

एक सुपन दूजा वतन, जीव देखे दोए।।१२८।।

अक्षरातीत के हृदय में विद्यमान ज्ञान की अनन्त ज्योति का इस संसार में श्री महामति जी के धाम हृदय में प्रकाशित होना ही तारतम है। प्रश्न यह है कि इससे क्या लाभ होता है? तो इसका उत्तर यह है कि इससे जीव भी

इस संसार को तथा परमधाम को भी जान जाता है।

वतन देखत जाहेर, दूजी दोए लीला जो करी।

ए सब याद आवहीं, इत दोए दूसरी।।१२९।।

तारतम वाणी के प्रकाश में प्रेममयी चितवनि के द्वारा परमधाम का साक्षात्कार होता है। इसके अतिरिक्त उन दो लीलाओं (व्रज एवं रास) का अनुभव होता है, जो बेहद मण्डल में अखण्ड हैं। इस जागनी ब्रह्माण्ड में दोनों स्वरूपों (सद्गुरू धनी श्री देवचन्द्र जी एवं श्री प्राणनाथ जी) के द्वारा होने वाली दोनों लीलाओं की छवि भी हृदय में बनी रहती है।

याद आवें सारे सुख, और जीव नैनों ही देखे।

तारतम सब सुख देवहीं, विध विध अलेखें।।१३०।।

इस प्रकार तारतम वाणी के प्रकाश में सभी लीलाओं (व्रज, रास, श्री देवचन्द्र जी, और श्री प्राणनाथ जी) के सुखों की याद बनी रहती है तथा जीव भी चितवनि के द्वारा अपनी अन्तर्दृष्टि को खोलकर प्रत्यक्ष रूप से उनका दर्शन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तारतम ज्ञान से अनेक प्रकार के अनन्त सुख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाइयों में यह बात दृढ़ता से दर्शायी गयी है कि तारतम ज्ञान (वाणी) के प्रकाश में श्री राज जी के द्वारा धारण किये गये सभी स्वरूपों (व्रज व रास के श्री कृष्ण, तथा सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी, एवं श्री प्राणनाथ जी) एवं उनके द्वारा की गयी सभी लीलाओं को चितवनि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है, किन्तु आजकल दुर्भाग्यवश समाज को चितवनि की राह से हटाकर माला के द्वारा मन्त्र–जाप की क्रिया सिखायी

जाती है। साथ ही यह भय पैदा कर दिया जाता है कि यदि तुम इसका मुख से उच्चारण कर दोगे तो इसकी शक्ति चली जायेगी। अपनी इस मिथ्या मान्यता की पुष्टि में, तारतम देते समय भी कान में फूँकने की अन्ध–परम्परा का पालन किया जाता है।

यह सर्वदा ही ध्यान रखना चाहिए कि अक्षरातीत के हृदय से प्रकट होने वाली तारतम की अमृतधारा भव बन्धन से छुड़ाने वाली है। उसको मुख से उच्चारित कर देने पर यदि उसकी शक्ति नष्ट होती है, तो यह परमधाम की सर्वोच्च निधि कैसे कही जा सकती है? ऐसी अवस्था में तो यह ब्रह्माण्ड की नश्वर वस्तु ही मानी जा सकती है।

चारों वेदों, ६ अंग (शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष, और व्याकरण), ६ उपांग (सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, मीमांसा, तथा वैशेषिक), ब्राह्मण,

आरण्यक, उपनिषद्, एवं वेदों की व्याख्यान स्वरूप ११२७ शाखाओं में कहीं पर भी इस प्रकार के अन्धविश्वास का वर्णन नहीं है कि इसका उच्चारण कर देने से इसकी शक्ति चली जायेगी, इसलिये इसे कान में कहकर फूँक मारनी चाहिए।

तारतम ज्ञान का मूल उद्देश्य है– अविद्या के अन्धकार को दूर करके सत्य का प्रकाश करना, जिससे जीवन के चरम लक्ष्य (प्रियतम के साक्षात्कार) को पाया जा सके। इसे कर्मकाण्डों एवं अन्धविश्वासों के बन्धन में बांधना दुर्भाग्यपूर्ण है।

या लीला की बातें इत, जुबां कही न जाए।

सुख दोऊ इत लीजिए, मनोरथ पुराए।।१३१।।

इस जागनी लीला की गरिमा इतनी अधिक है कि इसे

इस जिह्वा से शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। दोनों स्वरूपों के द्वारा होने वाली लीलाओं के सुख लेने तथा अपनी आत्मिक इच्छाओं को प्रियतम की प्रेममयी कृपा से पूर्ण करने का यही स्वर्णिम अवसर है।

या लीला को जो बल, वचन सब केहेसी।

वचन माएने देखके, सब सुख लेसी।।१३२।।

तारतम वाणी के वचनों में इन दोनों लीलाओं की गरिमा विद्यमान रहेगी। जो सुन्दरसाथ श्रीमुखवाणी के वचनों का गुह्य अर्थ विचारकर उन्हें आत्मसात् करेंगे, अर्थात् अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की पहचान करके उनके प्रेम में स्वयं को न्योछावर कर देंगे, वे निश्चय ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त करेंगे।

धंन धंन ब्रह्मांड ए हुआ, धंन धंन भरथखंड।

धंन धंन जुग सो कलजुग, जहां लीला प्रचंड।।१३३।।

यह ब्रह्माण्ड, भरत खण्ड, और यह २८वाँ कलियुग धन्य–धन्य है, जिसमें स्वयं पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द अपने आवेश स्वरूप से मानव तन में पधारे और अपनी आत्माओं के साथ अपार महिमा वाली ब्रह्मलीला की।

धंन धंन पुरी नौतन, जहां लीला उदे हुई।

केताक साथ आइया, दूजिऐं सब कोई।।१३४।।

वह नवतनपुरी धन्य–धन्य है, जहाँ जागनी ब्रह्माण्ड की ब्रह्मलीला (जागनी लीला के रूप में) प्रारम्भ हुई। सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के चरणों में मात्र ३१३ ब्रह्मसृष्टियाँ ही आयीं, किन्तु जब दूसरे स्वरूप श्री प्राणनाथ जी के द्वारा जागनी लीला प्रारम्भ हुई तो ब्रह्मसृष्टि, ईश्वरीय,

तथा जीवसृष्टि सभी उनके चरणों में आयीं।

धंन धंन धनी साथसों, धंन धंन तारतम।

पूरन प्रकास ल्याए के, सुख दिए हम।।१३५।।

अक्षरातीत श्री राज जी (श्री प्राणनाथ जी) के द्वारा होने वाली यह जागनी लीला धन्य–धन्य है। यह तारतम ज्ञान भी धन्य–धन्य है, जिसका पूर्ण प्रकाश लाकर धाम धनी ने हमारी आत्मा को जाग्रत किया है तथा हमें परमधाम का सुख दिया है।

तारतम रस बेहद का, सब जाहेर किया।

बोहोत विधें सुख साथ को, खेल देखते दिया।।१३६।।

तारतम ज्ञान की अमृतधारा ने योगमाया के ब्रह्माण्ड तथा परमधाम के सभी गुह्य रहस्यों को उजागर कर दिया

है। इसने माया का खेल देखने में मग्न सुन्दरसाथ को उससे निकाला है और परमधाम के सुख सागर में डुबो दिया है।

तारतम रस वानी कर, पिलाइए जाको।

जेहेर चढ़या होए जिमी का, सुख होवे ताको।।१३७।।

इस मायावी जगत का विष जिसके रोम–रोम में प्रवेश कर जाता है, अर्थात् जिसका हृदय केवल विषय–वासनाओं से भरा होता है, यदि उसे तारतम वाणी का अमृत रस पिला देते हैं, तो वह माया से दूर होकर अनुपम सुख की प्राप्ति करता है।

जो जीव नींद छोड़े नहीं, पिलाइए वानी।

ल्याए पिउ वतन थें, बल माया जानी।।१३८।।

जो जीव माया के बन्धनों (नींद) को नहीं छोड़ते हैं, उन्हें तारतम वाणी का अखण्ड रस पिलाना चाहिए। यह ब्रह्मवाणी सभी को माया से छुड़ाने वाली है, इसलिए तो धाम धनी इसे परमधाम से लेकर आये हैं, क्योंकि वे जानते थे कि माया की शक्ति भी अपार है।

जेहेर उतारने साथ को, ल्याए तारतम ।

बेहद का रस श्रवनें, पिलावें हम।।१३९।।

सुन्दरसाथ में प्रविष्ट हो चुके माया के विष को निकालने के लिये ही धाम धनी यह अमृतमयी ब्रह्मवाणी लेकर आये हैं। इस वाणी में परमधाम का अति मधुर रस भरा है, जिसे श्री इन्द्रावती जी सबके कानों (हृदय) तक पहुँचा रही हैं।

ए रस श्रवनों जाके झरे, ताए कहा करे जेहेर।

सुपन ना होवे जागते, देखी तां वैर।।१४०।।

धाम धनी के हृदय से बहने वाला यह रस जिसके कानों में पड़ जाये, भला मायावी विष उसकी क्या हानि कर लेगा? जाग्रत हो जाने पर तो यह स्वप्न का संसार रहता ही नहीं है। उस अवस्था में इसे देखने पर वैर भाव का अनुभव होता है।

भावार्थ– आत्म–जाग्रति तभी सम्भव है, जब हमारी सुरता पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे हो जाये। "लगी वाली और कछू न देखे, पिण्ड ब्रह्माण्ड वाको है री नाहिं" (किरंतन ९/४) का यह कथन इसी सन्दर्भ में है। जिस का ध्यान सर्वदा युगल स्वरूप के चरणों में होता है, उसे इस संसार की किसी भी वस्तु में आकर्षण नहीं होता। इसे ही उपरोक्त चौपाई के चौथे चरण में "वैर उपजना"

कहा गया है।

सुपन होवे नींद थें, कई इंड अलेखे।

जिन खिन आंखां खोलिए, तब कछुए ना देखे।।१४१।।

इस स्वप्नमयी जगत् की उत्पत्ति नींद (मोह) से होती है, जिसमें असंख्य लोक दिखायी देते हैं। यदि क्षण भर के लिये भी अपनी आँखें खोल ली जायें, तो कुछ भी दिखायी नहीं देता।

भावार्थ– जब तक नींद है, तभी तक सपना है, और तभी तक सपने में नाना लोकों का दृश्य दिखायी देता है। कदाचित् नींद टूट जाये, तो स्वप्न के न रहने से उसमें दिखायी देने वाले सभी दृश्यों का पूर्णतया अभाव हो जाता है। यह स्थिति आदिनारायण के लिये है तथा हमारे लिये भी है।

एही रस तारतम का, चढ़या जेहेर उतारे।

निरविख काया करे, जीव जागे करारे।।१४२।।

तारतम वाणी का अमृत रस हृदय में पहुँचकर माया के विष को पूर्णतया निकाल देता है। ऐसी अवस्था में अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण विष निकल जाता है, जिससे जीव अतिशीघ्र जाग्रत हो जाता है।

जागे सुख अनेक हैं, इतही अलेखे।

वतन सुख लीजिए, जीव नैनों भी देखे।।१४३।।

जाग्रत हो जाने पर इस नश्वर जगत में ही अनेक प्रकार के इतने सुख प्राप्त होते हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। हे साथ जी! आप यहीं बैठे–बैठे परमधाम के सभी सुखों का रसपान कीजिए तथा अपने जीव को भी

इस प्रकार जाग्रत कीजिए कि वह अपनी अन्तर्दृष्टि खोलकर वास्तविक सत्य को देख सके।

सुख बड़े तारतम के, क्यों जाहेर कीजे।

वानी माएने देखके, जीव जगाए लीजे।।१४४।।

तारतम ज्ञान को आत्मसात् करने से बहुत अधिक सुख प्राप्त होता है। उसे मुख के द्वारा व्यक्त करने से क्या लाभ है? आप तारतम वाणी के गुह्य अभिप्राय को जानकर अपने आचरण में उतारिये। इस प्रकार आप सरलतापूर्वक अपने जीव को जाग्रत कर लेंगे।

ए वचन साथ के कारने, मैं तो बाहेर पाड़े।

दरवाजे बेहद के, अनेक उघाड़े।।१४५।।

सुन्दरसाथ के आत्मिक लाभ के लिये ही मैंने बेहद

वाणी के इन वचनों को कहा है और आज दिन तक बेहद के जो भी अनसुलझे गुह्य रहस्य (बन्द दरवाजे) थे, उन्हें खोलकर सबके लिये प्रकट कर दिया।

आधे अखर का पाओ लुगा, कबूं ना बाहेर।

श्री धाम थें ल्याए धनी, तो हुए जाहेर।।१४६।।

कोई भी इस शब्दातीत बेहद के सम्बन्ध में किसी शब्द का चौथाई या किसी अक्षर का आधा अंश भी आज दिन तक व्यक्त नहीं कर सका है। स्वयं धाम धनी ही परमधाम से यह ब्रह्मवाणी लेकर आये हैं, जिससे बेहद एवं परमधाम उजागर हो सके हैं।

या खेल साथ देखहीं, जुदे जुदे होए।

तो सुख ऐसा पसरया, नाहीं सुख बिना कोए।।१४७।।

माया के इस खेल को सुन्दरसाथ अलग–अलग स्थानों में देख रहे हैं, अर्थात् ब्रह्मसृष्टियाँ भारतवर्ष में अलग–अलग स्थानों में प्रकट हुई हैं। तारतम वाणी की अमृतधारा ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि अब कोई भी आत्मिक सुख से वंचित नहीं रहा है। चारों ओर बेहद के सुख का ही फैलाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

ऐसा खेल छल का, छोड़ाए नहीं।

ब्रह्मांड की कारीगरी, सारी करी सही।।१४८।।

माया का यह मोहमयी खेल इस प्रकार छल से भरा हुआ है कि चाहकर भी इसे कोई छोड़ नहीं पा रहा है। अब इस बेहद वाणी के अवतरण ने इस ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण रचना को सार्थक (उचित, सही) सिद्ध कर दिया है।

भावार्थ– अविद्या (माया) के प्रभाव से दृश्यमान यह नश्वर जगत ही सत्य प्रतीत होता है। इन्द्रियों से अगोचर उस परब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में ही संशय खड़ा हो जाता है कि वह है अथवा नहीं।

बेहद वाणी के चिन्तन ने उस परम सत्य से सबको अवगत करा दिया है कि यह दृश्यमान जगत (सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणीवर्ग, आदि) स्वप्नवत् है। इसकी उत्पत्ति ही नींद से हुई है और परब्रह्म नींद से सर्वथा परे है। ब्रह्मसृष्टियों को वास्तविक सत्य का बोध कराने के लिये ही यह छलमयी संसार बनाया गया है।

कबूतर बाजीगर के, जैसे कंडिया भरिया।

तबहीं देखे फूंक देए के, तुरत खाली करिया।।१४९।।

जिस प्रकार एक बाजीगर (जादूगर) फूँक मारते ही

अपनी पिटारी को कबूतरों से भर देता है, किन्तु उसी क्षण फूँक मारकर खाली भी कर देता है।

भावार्थ– आदिनारायण ही वह बाजीगर है, जिसके संकल्प (फूँक मारने) "एकोऽहं बहुस्याम" से इस स्वप्नमयी जगत (पिटारी) की रचना होती है और उसमें सर्वत्र प्राणी ही प्राणी (नजर) आने लगते हैं। पुनः उसकी इच्छा मात्र से सारी सृष्टि अदृश्य हो जाती है।

ऐसी बाजी इन छल की, ब्रह्मांड जो रचियो।

देख बाजी कबूतर, साथ मांहें मचियो।।१५०।।

इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी रचा गया है, जिसमें स्वप्नमयी छल का ही साम्राज्य है। सुन्दरसाथ भी जीवों (कबूतरों) तथा छल के खेल को देखने में इतने तल्लीन हो गये हैं कि उन्हें इसके अतिरिक्त और कुछ सूझ ही

नहीं रहा है।

आंबो बोए जल सींचियो, तबहीं फूले फलियो।

बिध बिध की रंग बेलियां, बन ऊपर चढ़ियो।।१५१।।

बाजीगर आम का बीज धरती में बोता है, तो थोड़ी ही देर में वह अँकुरित होकर एक छोटे पौधे के रूप में दिखायी देने लगता है। जैसे ही वह उसे जल से सिंचित करता है, उसी क्षण वह वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तथा उसमें फूल (बौर) और फल दिखायी देने लगते हैं। उसके ऊपर अनेक रंगों की लतायें भी चढ़ी (लिपटी) हुई दिखायी देती हैं।

एह देख चित भरमिया, सुध नहीं सरीर।

विकल भई रंग बेलियां, चित नाहीं धीर।।१५२।।

यह दृश्य देखकर चित्त भ्रमित हो जाता है कि यह सब इतनी शीघ्रता से कैसे हो गया? उसे देखने में इतनी तन्मयता भी हो जाती है कि शरीर की नाममात्र भी सुधि नहीं रहती। वृक्ष से लिपटी हुई अनेक रंगों की लताओं के चमत्कारिक दृश्य को देखकर चित्त अपना धैर्य खो देता है और व्याकुल हो जाता है।

ततखिन कछू न देखिए, बाजीगर हाथ।

आंबो ना कछू बेलियां, या रंग बांध्यो साथ।।१५३।।

थोड़ी ही देर में, आँखों से देखने पर वहाँ बाजीगर के हाथ में कुछ भी दिखायी नहीं देता। न तो वहाँ आम का कोई वृक्ष ही दिखायी देता है और न उससे लिपटी हुई लतायें। इसी प्रकार सुन्दरसाथ भी इस भ्रममयी संसार में फँस गये हैं।

भावार्थ– जिस प्रकार जादूगर के संकल्प मात्र से आम के वृक्ष और लताओं का दृश्य उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार आदिनारायण के संकल्प से ही यह चराचर जगत दृष्टिगोचर होने लगता है। वस्तुतः यह स्वप्न मात्र है, फिर भी इसके मोहक आकर्षण में सभी जीव बँधे होते हैं।

बिसरी सुध सरीर की, बिसर गए घर।

चींटी कुंजर निगलिया, अचरज या पर।।१५४।।

इस मायावी जगत का आकर्षण इतना लुभावना है कि इसके मोह में फँसकर ब्रह्मसृष्टियों को अपने मूल तन (परात्म) तथा अपने मूल घर परमधाम की भी स्मृति नहीं रही है। यह तो महान आश्चर्य में डालने वाली ऐसी ही बात है, जैसे कोई यह कहे कि मैंने एक चींटी को

देखा जो हाथी को निगल रही थी।

भावार्थ– "हाथी" ब्रह्मसृष्टि का आलंकारिक (रूपक) पद है। उसे चींटी समान माया ने निगल लिया है, अर्थात् परब्रह्म की अर्धांगिनी ब्रह्मात्मायें इस झूठे संसार के मायावी दृश्यों को देखने में इतनी लीन हो गयी हैं कि विवश होकर रूपक अलंकार के द्वारा इस प्रकार का दृष्टान्त देना पड़ा है।

अचरज एक बड़ो सखी, देखो दिल मांहें।

वस्त खरी को ले गई, जो कछुए नांहें।।१५५।।

हे साथ जी! यदि आप अपने हृदय में विचार करके देखें, तो यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। जो माया कुछ है ही नहीं, उसने पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द की अंगरूपा आत्माओं (अखण्ड वस्तुओं) को भी अपने मोह जाल में

फँसा लिया है।

जोर हुई नींद साथ को, यों सुपन बाढ़या।

खेल मिने थें बल कर, न जाए काढ़या।।१५६।।

सुन्दरसाथ में माया की नींद (अज्ञानता) की अधिकता है, जिसके कारण संसार के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है। यही कारण है कि तीव्र इच्छाशक्ति लगाकर भी सुन्दरसाथ को इस मायावी खेल से बन्धन मुक्त नहीं किया जा सकता।

भावार्थ– दृश्यमान जगत् का आकर्षण ही स्वप्न में खोना है तथा इसके प्रति आकर्षित होने की भावना ही अज्ञान रूपी नींद है। जिस प्रकार नींद से ही स्वप्न उत्पन्न होता है, उसी प्रकार किसी पदार्थ की इच्छा करने पर ही आकर्षण या मोह की वृद्धि होती है।

ता कारन बानी बेहद, केहे नींद टालों।।

ना देऊं सुपन पसरने, चढ़या जेहेर उतारों।।१५७।।

इसलिये सुन्दरसाथ के हृदय में इस बेहद वाणी को विद्यमान कर, मैं इस मायावी नींद को हटा दूँगी और उनके अन्दर इस संसार के प्रति गहरा आकर्षण पैदा ही नहीं होने दूँगी। इस प्रकार उनके मन में जो माया का विष भर गया है, उसे भी मैं बाहर निकाल दूँगी।

कुंजर काढ़ों चींटी मुख, सुध आनो सरीर।

तारतम केहे जुदे जुदे, करों खीर और नीर।।१५८।।

मैं सुन्दरसाथ के हृदय में तारतम वाणी का प्रकाश करके, उन्हें माया के मुख से निकालूँगी और परात्म स्वरूप का बोध भी कराऊँगी। इस प्रकार उन्हें माया और परब्रह्म की अलग–अलग स्पष्ट पहचान हो जायेगी।

झूठे को झूठा करूं, सांचा सागर तारूं।

ए रस श्रवनों पिलाए के, साथ के कारज सारूं।।१५९।।

मैं बेहद वाणी का रस कानों के माध्यम से उनके हृदय में बसा दूँगी। इस प्रकार उन्हें यह बोध हो जायेगा कि इस झूठी माया को निरर्थक मानकर इसके मोह जाल में नहीं फँसना है। एकमात्र प्रियतम अक्षरातीत ही हमारे सर्वस्व हैं। उन्हीं से प्रेम करना हमारी प्राथमिकता है। इस प्रकार सुन्दरसाथ की जागनी का महान कार्य सिद्ध हो जायेगा।

मोह जेहेर ऐसा जान के, ल्याए तारतम।

सब विध का ए औखद, प्रकासे खसम।।१६०।।

यह सम्पूर्ण मोहमयी जगत् भयंकर विष है। इससे निवृत्ति के लिये ही धाम धनी इस अमृत स्वरूपा तारतम

वाणी को लेकर आये हैं। यह सभी प्रकार के भव रोगों को दूर करने वाली दिव्य औषधि है, जिसे प्रियतम ने इस जागनी ब्रह्माण्ड में प्रगट किया है।

सब किया उजाला खेल में, साथ देखन आया।

और जीव बंधाने या बिध, बिध बिध की माया।।१६१।।

माया के जिस खेल को देखने के लिये सुन्दरसाथ आया है, उसमें प्रियतम ने तारतम वाणी के द्वारा हद से लेकर परमधाम तक का सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट कर दिया है। फिर भी जीवसृष्टि तरह–तरह के मायावी बन्धनों में फँसे रहने में ही अपना गौरव समझती है।

दूजे तीजे मैं तो कहे, जो साथ को माया भारी।

तुम देखो सुपना सत कर, तो मैं कह्या विचारी।।१६२।।

हे साथ जी! आप इस संसार को सत्य माने बैठे हैं, इसलिये यह माया आप पर भारी पड़ रही है अर्थात् आप इसके अधीन होते हुए दिख रहे हैं। यही कारण है कि कुछ सोच–विचारकर मैंने आपके सम्बोधन में कहीं "ईश्वरी सृष्टि" तथा कहीं "जीव सृष्टि" शब्द का प्रयोग किया है।

भावार्थ– कीचड़ से आवृत्त हीरे को तब तक न तो हीरा कहा जा सकता है और न उसे हीरे के मूल्य पर बेचा जा सकता है, जब तक उसे कीचड़ से पूर्णतया रहित कर स्वच्छ न किया जाये। यही स्थिति ब्रह्मसृष्टियों के सन्दर्भ में भी है।

ब्रह्मसृष्टि जिस जीव पर विराजमान होकर इस मायावी खेल को देख रही है, जब तक वह जीव निर्मल होकर प्रियतम परब्रह्म के प्रति अटूट निष्ठा नहीं रखता, तब तक

आत्म–जाग्रति का प्रश्न ही नहीं है। ऐसी अवस्था में उसे उपहास के रूप में ईश्वरी सृष्टि या जीव सृष्टि वाले विशेषण दे दिये जाते हैं, जिससे वह ग्लानि का अनुभव करे और जागनी की राह पर तेजी से दौड़ लगाये। "वासना को तो जीव न कहिए, जीव कहे दुख लागे जी" का कथन इसी प्रसंग में है।

विचार के छल छोड़िए, तो होवे दोऊ पर।

सुपने भी सुख लीजिए, हरखें जागीए घर।।१६३।।

हे साथ जी! यदि आप तारतम ज्ञान के प्रकाश में चिन्तन करके माया को छोड़ देते हैं, तो आपको दोनों प्रकार का सुख प्राप्त होगा। एक तो आप इस स्वप्नमयी जगत में रहते हुए भी अपने हृदय में प्रियतम की छवि बसाकर परमधम का सुख ले सकते हैं, दूसरा लाभ यह

होगा कि परमधाम में आप अपनी परात्म में हँसते हुए उठेंगे।

तारतम पख दूजा कोई नहीं, बिना साथ सब सुपन।
जो जगाऊँ माया झूठी कर, धाख रहे जिन मन।।१६४।।

तारतम वाणी का मूल तत्त्व यही है कि सुन्दरसाथ के अतिरिक्त इस संसार में अन्य सब कुछ स्वप्न है। इसके विकल्प के रूप में तारतम वाणी में अन्य कुछ भी नहीं है। मैं श्रीमुखवाणी के प्रकाश में इस माया को झूठा सिद्ध करके आपको जगा रही हूँ, जिससे आपके मन में इस झूठे खेल को देखने की इच्छा शेष न रह जाये।

द्रष्टव्य– जब तक इस मायावी जगत की वास्तविकता नहीं समझी जायेगी कि भोगों के भोग करने में शान्ति और सुख नहीं है, बल्कि परब्रह्म के प्रेम में है, तब तक

इससे मन कदापि नहीं उबेगा।

हद के पार बेहद है, बेहद पार अछर।

अछर पार वतन है, जागिए इन घर।।१६५।।

हद (वैकुण्ठ–निराकार) से परे योगमाया का ब्रह्माण्ड है। उसके भी परे अक्षर धाम में अक्षर ब्रह्म हैं, जिनके परे अक्षरातीत का वह रंग महल है जिसके मूल मिलावे में हमारी परात्म प्रियतम के सम्मुख बैठी हुई है। हमें उसी तन में जाग्रत होना है।

ए दोऊ विध मैं तो कही, सुपन हरखें उड़ाऊँ।

कहे इंद्रावती उछरंगे, साथ जुगतें जगाऊँ।।१६६।।

श्री इन्द्रावती जी अत्यधिक आनन्द में भरकर कहती हैं कि हे साथ जी! मैंने तारतम ज्ञान के प्रकाश में इस

संसार तथा परमधाम दोनों की यथार्थता दर्शा दी है। अब मैं आपके हृदय से मायावी जगत को हटा दूँगी तथा युक्तिपूर्वक (प्रेममयी चितवनि के द्वारा) जाग्रत कर दूँगी।

भावार्थ– लौकिक भोगों, प्रतिष्ठा, एवं सगे–सम्बन्धियों से आसिक्त का बन्धन ही वास्तविक रूप से सूक्ष्म जगत है, जो हमारे हृदय में विद्यमान होता है। इसे निकाले बिना संसार का त्याग सम्भव ही नहीं है। श्रीमुखवाणी के प्रकाश में चितवनि के द्वारा ही यह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। इसे ही दूसरे चरण में स्वप्नमयी जगत को उड़ा देना कहा गया है।

प्रकरण ।।३१।। चौपाई ।।९५४।।

दूध पानी का निबेरा – राग सामेरी

इस प्रकरण में ब्रह्म और माया का निरूपण किया गया है। दूध का आशय है ब्रह्म और पानी अर्थात् माया।

हो वतनी बांधो कमर तुम बांधो, सुरत पिआसों साधो।
तीनों कांडों बड़ा सुकदेव, ताकी बानी को कहूँ भेव।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे परमधाम के सुन्दरसाथ जी! आप अपनी आत्मा की जाग्रति के लिये तैयार हो जाइए। अपनी सुरता को प्रियतम के स्वरूप में केन्द्रित कीजिए। ज्ञान, कर्म, एवं उपासना के क्षेत्र में शुकदेव जी अग्रगण्य माने जाते हैं। उनकी वाणी (श्रीमद्भागवत्) के एक रहस्य की ओर मैं आपका ध्यान खींचती हूँ।

बिन पूछे कहूँ विचार, निज वतनी जो निरधार।

जिन कोई संसे तुमें रहे, सो मेरी आतम ना सहे।।२।।

मेरे परमधाम के सुन्दरसाथ जी! निश्चित रूप से आपके पूछे बिना ही मैं अपने कुछ विचार रख रही हूँ। मैं ऐसा इसलिये कर रही हूँ कि मेरी आत्मा को यह सहन नहीं है कि आपके मन में किसी भी प्रकार का संशय रह जाये।

एक वचन इत यों सुनाए, चींटी पाँउ कुंजर बंधाए।

तिनके पर्वत ढांपिया, सो तो काहूँ न देखिया।।३।।

पहेलियों के रूप में ये बातें इस प्रकार कही जाती हैं कि चींटी के पैर में हाथी बँध गया। इसी प्रकार एक छोटे से तिनके ने पर्वत को ढक लिया। किन्तु आज तक इन घटनाओं को किसी ने भी प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं है।

भावार्थ– पहेलियों के रूप में अध्यात्म के गूढ़ तत्वों को

व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार की पहेलियाँ वेदों में भी है। जैसे–

१. सोने का बेत जल में खड़ा है। जो इसे जानता है, वह गुह्य प्रजा का स्वामी है। (अथर्ववेद १०/७/४१)

२. एक बैल है, जिसके चार श्रृंग (सींग) हैं, दो शिर, और सात हाथ हैं। तीन से बाँधा हुआ वह निरन्तर उपदेश देता है। (ऋग्वेद ४/५८/३)

३. परब्रह्म में पाँच विद्यमान है तथा पाँच में परब्रह्म है। (यर्जुवेद २३/५२)

४. एक चक्र में १२ पुट्ठियाँ हैं, तीन नाभि हैं, और ३६० कीलें चल–अचल रूप में लगी हैं। इसका रहस्य क्या है? (अथर्ववेद १०/८/४)

कबीर जी द्वारा कही गई इसी प्रकार की पहेलियों को उलटवासियाँ कहा जाता है, अर्थात् उल्टा कथन करने

वाली उक्तियाँ, जैसे– बरसे कम्बल भीगे पानी। किन्तु इस प्रकार के कथन गहन आध्यात्मिक रहस्य लिये होते हैं।

अधिक जानकारी के लिये "सत्याञ्जलि" एवं "ज्ञान मंजूषा" ग्रन्थ का अवलोकन करें।

चींटी हस्ती को बैठी निगल, ताकी काहूँ ना परी कल।
सनकादिक ब्रह्मा को कहे, जीव मन दोऊ भेले रहे।।४।।

चींटी ने हाथी को निगल लिया है। किन्तु किसी को भी इस पहेली का बोध नहीं हो पाया कि इसका गुह्य आशय क्या है? सनक, सनन्दन, सनातन, तथा सनत्कुमार ने ब्रह्मा जी से पूछा कि जब जीव और मन दोनों ही साथ रहते हैं, तो प्रश्न यह है कि।

ए भेले हुए हैं आद, के भेले हैं सदा अनाद।

कहे ब्रह्मा भेले नाहीं तित, ए आए मिले हैं इत।।५।।

ये दोनों सृष्टि के प्रारम्भ में मिले हैं या अनादि काल से मिले हैं? यह सुनकर ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया कि ये दोनों अनादि काल से नहीं मिले हैं, बल्कि सृष्टि रचना के समय ही मिले हैं।

भावार्थ– सांख्य दर्शन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "महादख्यं कार्यं तन्मनः" अर्थात् महत्तत्व से मन, बुद्धि, आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही जीव और मन का मिलन होगा। इनका सम्बन्ध अनादि नहीं है, क्योंकि प्रलय अवस्था में अंतस्करण और इन्द्रियों का अस्तित्व नहीं रहता, और ये अपने कारण रूप कारण प्रकृति में विलीन हो गये होते

हैं।

तब सनकादिके फेर यों कह्यो, तो ए जुदे करके देओ।
फेर ब्रह्मांऐं करी फिकर, तब देखे वचन विचार चित धर।।६।।

तब सनकादिक ने पुनः ब्रह्मा जी से पूछा कि यदि ये मिले हैं, तो इन्हें अलग करके दिखाइये। इस प्रकार का प्रश्न सुनकर ब्रह्मा जी चिन्तित हो गये और अपने चित्त में इस विषय पर गहन विचार करके बोले।

ए समझ मुझसे ना होए, क्यों कर करों जुदे मैं दोए।
तब सरन विष्णु के गए, अंतरगतें वचन कहे।।७।।

मुझसे इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता। मैं जीव और मन को किस प्रकार से अलग करूँ? तब चारों ऋषि (सनक, सनन्दन, सनातन, और सनत्कुमार) भगवान

विष्णु के पास गये और उनसे अपने मन की जिज्ञासा बताई।

बैकुंठ नाथे सुने वचन, हंस होए आए ततखिन।
हंसे रूप धरयो सुंदर, लिए सनकादिक के चित हर।।८।।

विष्णु भगवान ने उनकी बात सुनी और उसका समाधान करने के लिये उसी क्षण उन्होंने अति सुन्दर हँस के रूप में दर्शन दिया। अपने सुन्दर रूप से उन्होंने सनकादिक ऋषियों के चित्त को हर लिया।

जीवें हंससों करी पेहेचान, चारों चरन लगे भगवान।
फेर मनें यों कियो विचार, ले नजरों देख्या आकार।।९।।

सनकादिक ऋषियों के जीव ने हँस रूप में आये हुए विष्णु भगवान की पहचान कर ली। इसके पश्चात् चारों

ऋषियों ने भगवान विष्णु के चरणों में प्रणाम किया। पुनः जब उनके मन ने उस हँस के सम्बन्ध में विचार किया, तो बहिर्मुखी दृष्टि के कारण हँस के बाह्य शरीर को देखकर उन्हें संशय हो गया।

जो जीवें करी पेहेचान, सो मनने तबही दई भान।
फेर सनकादिके यों पूछिया, तुम कौन हो यों कर कह्या।।१०।।

जीव ने हँस स्वरूपधारी विष्णु भगवान के जिस स्वरूप की पहचान की थी, उसे मन ने समाप्त कर दिया। इसके पश्चात् सनकादिक ऋषियों ने उस हँस से पूछा कि इस प्रकार का हँस रूप धारण किये हुए आप कौन हैं?

तब हंसे कियो जवाब, समझे सनकादिक भान्यो वाद।
चित किये चारों के धीर, पर ना हुए जुदे खीर नीर।।११।।

तब हँस स्वरूप विष्णु भगवान ने जो उत्तर दिया, उससे सनकादिक ऋषियों को उनके प्रश्न का उत्तर मिल गया और उनके संशय का समाधान हो गया। यद्यपि भगवान विष्णु ने चारों ऋषियों के चित्त को संतुष्ट अवश्य कर दिया, किन्तु वे जीव और मन को अलग–अलग करके स्पष्ट रूप से न दर्शा सके।

भावार्थ– श्रीमद्भागवत् के ग्याहरवें स्कन्ध के १३वें अध्याय में यह प्रसंग वर्णित है कि किस प्रकार विष्णु भगवान ने हँस रूप धारण कर सनकादिक को समझाया था।

इस घटनाक्रम में यह विशेष बात आती है कि जब मन हँस के अनुपम सौन्दर्य में लीन हो गया , तो जीव से उसका सम्बन्ध टूटा। परिणाम स्वरूप समाधि जैसी अवस्था प्राप्त हो गयी। कूटस्थ जीव ने विष्णु भगवान की

सरलतापूर्वक पहचान कर ली। किन्तु जब मन सौन्दर्य में लीन होने के स्थान पर तर्क–वितर्क के जाल में फँस जाता है, तो समाधि जैसी अवस्था प्राप्त नहीं होती। ऐसी अवस्था में जीव अपने आत्म–स्वरूप में स्थित नहीं हो पायेगा और परमात्मा की पहचान से वंचित रहना पड़ेगा।

अन्तःकरण के चार घटक हैं– मन, चित्त, बुद्धि, तथा अहंकार। ये इन्द्रियों के माध्यम से कर्म–फल तथा भोग में जीव को फँसाये रखते हैं। यदि अन्तःकरण तथा इन्द्रियों से जीव का सम्बन्ध टूट जाये, तो प्रकृति से अलग होते ही आत्म–दर्शन एवं ब्रह्म–साक्षात्कार हो जाता है।

मन बहिर्मुखी है। वह जीव को संसार में भटकाना चाहता है। यदि उसे परब्रह्म के ज्ञान द्वारा प्रेममयी चितवनि में लगा दिया जाये, तो संसार से सम्बन्ध टूट

जायेगा और प्रियतम का साक्षात्कार हो जायेगा।

आओ हंस या और कोए, पर कोई जुदे कर ना देवे दोए।
दोऊ के जुदे बासन, यों कबहूं ना किए किन।।१२।।

विष्णु भगवान या अन्य कोई भी देव, चाहे हँस रूप धारण करके आयें या कोई और रूप धारण करें, तारतम ज्ञान से रहित होने पर जीव और मन को स्पष्ट रूप से अलग-अलग नहीं दर्शा सकते। दोनों के मूल घर अलग-अलग हैं, इसलिये कोई भी इन्हें अलग-अलग विवरण करके आज तक नहीं बता सका है।

अब याकी कहूं समझन, जुदे कर देऊं जीव और मन।
समझ के पेहेचानों जिउ, निज वतन जो अपना पिउ।।१३।।

अब मैं जीव और मन को अलग-अलग करके इनकी

वास्तविकता को प्रकट करती हूँ। इसे जानकर आप जीव की पहचान तो करेंगे ही, अपनी आत्मा के मूल घर परमधाम तथा अपने प्राण प्रियतम की भी पहचान कर लेंगे।

नहीं राखों तुमें संदेह, इन चारों का अर्थ जो एह।

जो कोई साध पूछे क्यों, ताए सास्त्र सब केहेवे यों।।१४।।

मैं आपके अन्दर किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहने देना चाहती। पूर्व में कही गयी चारों पहेलियों (१. चींटी का हाथी को निगल लेना, २. चींटी के पैर में हाथी का बँध जाना, ३. तिनके से पर्वत का ढक जाना, ४. चींटी के मुख में कुम्हड़े का समा जाना) का अभिप्राय मैं बताती हूँ। यदि आपसे कोई साधू व्यक्ति पूछे कि इस प्रकार का उत्तर कैसे दिया गया है, तो आप उनसे

बताइये कि सभी शास्त्र ऐसा ही कहते हैं।

अकल अगम बैकुंठ का धनी, ए थोड़ी अजूं करे घनी।

इन करते सब कछू होए, पर ए अर्थ ना देवे कोए।।१५।।

विष्णु भगवान अगाध बुद्धि के स्वामी हैं। वे थोड़े शब्दों में ही बहुत अधिक समझा देते हैं। यदि वे चाहें तो धर्मग्रन्थों के सभी आशय स्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु वे किसी को बताते नहीं हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई से दो संशय उत्पन्न होते हैं–

१. यदि भगवान विष्णु के लिये सब कुछ सम्भव है, तो उन्होंने लक्ष्मी जी को यह क्यों नहीं बता दिया कि वे कहाँ का ध्यान करते हैं?

२. वे ज्ञान को छिपाते क्यों हैं?

इनका समाधान संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है–

१. अक्षर ब्रह्म की सुरता होने के कारण भगवान विष्णु को हद–बेहद से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान है किन्तु, बिना जोश (जिबरील) के, वाणी द्वारा व्यक्त कर पाना उनके लिये या अन्य किसी के भी लिये सम्भव नहीं है। यही कारण है कि वे चाहकर भी लक्ष्मी जी को स्पष्ट रूप से यह नहीं बता सके कि वे कहाँ (अव्याकृत के महाकारण) का ध्यान करते हैं? यह समझाने के लिये उन्हें नाटक का सहारा लेना पड़ा।

२. जिस प्रकार ऊसर भूमि में बीज बोना निष्फल होता है, उसी प्रकार पात्रहीन व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान नहीं देना चाहिए।

माहेश्वर तन्त्र २०/९ में भगवान शिव उमा से कहते हैं कि हे उमा! जो ज्ञान मैं तुम्हें बता रहा हूँ, उसे तुम गणेश तथा कार्तिकेय को भी नहीं बताना। १००० व्यक्तियों की

हत्या का जो पाप होता है, वही पाप किसी पात्रहीन व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान देने से होता है।

वेद–शास्त्रों का ज्ञान तो संसार में सर्वसुलभ है ही, किन्तु शब्द ज्ञान में निहित गुह्य आशय को समझे बिना ब्रह्मज्ञान के द्वार तक नहीं पहुँचा जा सकता। यही कारण है कि मनीषी जन ब्रह्मज्ञान का दान करने से पहले पात्र की योग्यता की परख करते हैं।

यों धोखा रह्या सब मांहें, समझ काहूं ना परी क्यांहें।
अब समझाऊं देखो बानी, दूध विछोड़ा कर देऊँ पानी।।१६।।

इस प्रकार गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध में सबके मन में संशय बना रहा और किसी को भी किसी प्रकार से वास्तविक बोध नहीं हो सका। हे साथ जी! अब आप देखिए, मैं आपको तारतम वाणी से समझाती हूँ तथा दूध

और पानी को अलग–अलग कर देती हूँ, अर्थात् परब्रह्म और माया की स्पष्ट रूप से पहचान करा देती हूँ।

जो तुमें साख देवे आतम, तो सत माएने जानो तारतम।
इन अंतर देखो उजास, या जीव को बड़ो प्रकास।।१७।।

हे साथ जी! यदि आपकी अन्तरात्मा साक्षी दे, तो तारतम ज्ञान से इनके वास्तविक अर्थ को समझिए। तारतम ज्ञान के उजाले में जीव तथा मन का भेद जानिए। तारतम वाणी से जीव को बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त होता है।

चौदे लोक उजाला करे, जो निज वतन दृष्टें धरे।
याको नूर सदा नेहेचल, नेक कहूँगी याको आगे बल।।१८।।

तारतम वाणी के प्रकाश में यदि जीव अपनी दृष्टि को

परमधाम में बनाये रखता है, तो वह १४ लोकों में भी अपने ज्ञान का उजाला करने में समर्थ हो सकता है। प्रियतम की छत्रछाया में इसके अन्दर ज्ञान का प्रकाश सर्वदा अखण्ड धाम का ही होता है, जिसके बल का वर्णन मैं आगे करूँगी।

ए उजाला इंड न समाए, सो इन जुबां कह्यो न जाए।

या मन को नाहीं कछू मूल, याथे बड़ा कहिए आक का तूल।।१९।।

जब जीव के अन्दर तारतम ज्ञान का अखण्ड उजाला हो जाता है, तो वह इतना अधिक होता है कि इस ब्रह्माण्ड में नहीं समा पाता है। उसकी गरिमा को इस जिह्वा से व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत इस मन का तो कोई मूल ही नहीं है। इससे बड़ा तो आक (मदार) का तूल (रूई का रेशा) होता है।

भावार्थ– ज्ञान का ब्रह्माण्ड में न समा पाना एक आलंकारिक वर्णन है, जिसका आशय है कि इस ज्ञान की उपमा में अन्य कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता।

तूल का भी कोटमा हिसा, मन एता भी नहीं ऐसा।
सो ए गया जीव को निगल, यों सब पर बैठा चंचल।।२०।।

मन का परिमाण रुई के एक रेशे के करोड़वें भाग के बराबर भी नहीं होता है। इतना छोटा सा चञ्चल मन सभी जीवों के ऊपर अपना वर्चस्व बनाये रखता है और उन्हें निगल लेता है अर्थात् पूर्णतया अपने अधीन किये रहता है।

यों तिनके पर्वत ढांपिया, यों गज चींटी पाँउ बांधिया।
जो जीव करे उजास, तो मन को आगे ही होए नास।।२१।।

इसी प्रकार मन रूपी तिनके ने पर्वत रूपी जीव को ढक लिया है, और हाथी की तरह शक्तिशाली जीव, चींटी के पैर से भी करोड़ों गुना सूक्ष्म मन के बन्धन में बँध गया है। यदि जीव अपने अन्दर परमधाम के ज्ञान का उजाला कर लेता है, तो सब पर आधिपत्य बनाये रखने वाला यह मन शीघ्र ही अस्तित्वहीन जैसा हो जाता है।

अब या पर एक कहूं दृष्टांत, देखो आप में वृतांत।
सुकजी के कहे प्रवान, सात सागर को काढ़यो निरमान।।२२।।

अब इस सम्बन्ध में मैं एक दृष्टान्त देती हूँ, जिसकी वास्तविकता जानिये। शुकदेव जी के वचनों (भागवत) में सातों सागरों के विस्तार की गणना की गयी है।

भव सागर को नाहीं छेह, सुकजी यों मुख जाहेर कहे।
पेहेले पाँउ भरे तुम जेह, कर सांचा मूल सनेह।।२३।।

शुकदेव जी अपने मुख से स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस भवसागर की कोई सीमा ही नहीं है, यह अनन्त विस्तार वाला है। व्रज से रास में जाते समय आपके हृदय में परमधाम के मूल सम्बन्ध का सच्चा प्रेम था, जिसके कारण आपने इस अनन्त भवसागर को गाय के बछड़े के खुर से बने हुए गड्ढे के समान मानकर सरलता से पार कर लिया था।

सखी बेन सुन ना रही कोई पल, देखियो एह जीव को बल।
इन आड़ा था मन संसार, पर जीव निकस्या वार के पार।।२४।।

हे साथ जी! आप इस बात का विचार कीजिए कि यह जीव के बल का ही प्रभाव था कि बाँसुरी की ध्वनि को

सुनने के पश्चात् कोई भी सखी पल भर के लिये भी व्रज में नहीं रुकी। इनके मन के सामने भी संसार का आवरण (पर्दा) था, किन्तु जीव प्रेम में स्वयं को न्योछावर कर चुका था, इसलिये वह भवसागर से पार होकर बेहद में पहुँच गया।

देखो पाँउ जीवने भरे, भव सागर ए क्यों कर तरे।

जाको ना निकस्यो निरमान, सुकजीकी वानी प्रमान।।२५।।

हे साथ जी! आप इस बात पर विचार कीजिए कि जीव ने प्रेम का बल पाकर कितनी सरलता से इस अनन्त भवसागर को भी पार कर लिया, जबकि शुकदेव जी की वाणी की यह साक्षी है कि यह भवसागर अथाह है।

सो फेर कह्यो गौपद बछ, यों भवसागर होए गयो तुछ।

एता भी ना दृष्टें आया, पर लिखने को नाम धराया।।२६।।

पुनः यह भी कहा गया है कि गोपियों के लिये यह अथाह भवसागर भी इतना छोटा रह गया, जैसे कि गाय के बछड़े के खुर से बना हुआ छोटा सा गड्ढा । सत्य तो यह है कि विरह–प्रेम में डूबी हुई गोपियों के लिये वह गड्ढे के समान भी प्रतीत नहीं हुआ, अपितु ऐसा लगा जैसे भवसागर नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। किन्तु वास्तविकता को दर्शाने के लिये भवसागर को गाय के बछड़े के खुर के समान वर्णित किया गया है।

भव सागर क्यों एता भया, जो जीव खरे जीवनजी ग्रह्या।

यों मन जीवथें जुदा टल्या, तब झूठा मन झूठे में मिल्या।।२७।।

प्रश्न यह है कि गोपियों के लिये अनन्त भवसागर इतना

छोटा कैसे हो गया? इसका मूल कारण यह है कि सखियों के जीव ने प्रियतम अक्षरातीत की पहचान कर ली, उनके प्रेम में स्वयं को डुबो दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मन जीव से अलग हो गया। झूठा मन झूठी माया में ही रह गया।

खीर नीर देखो विचार, एक धनी दूजा संसार।

दोऊ बासन में दोऊ जुदे, यों नीके कर देखो हिरदे।।२८।।

हे साथ जी! आप अपने हृदय में इस बात का अच्छी तरह से विचार कीजिए कि दूध और पानी क्या है? वस्तुतः दूध धाम धनी हैं, और पानी है यह मायावी संसार। जब जीव के प्रेम रूपी पात्र (बर्तन) में धनी के चरण कमल पड़ते हैं, तो मन की इच्छा (तृप्ति) रूपी बर्तन में संसार बसता है।

भावार्थ– उपरोक्त कथन का आशय यह है कि यदि हम मन की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये लौकिक सुखों के पीछे भागते रहे, तो इस मायावी संसार से हमारा छुटकारा कभी भी नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि हम अपने जीव में प्रियतम का पवित्र प्रेम भर लें, तो गोपियों की तरह हमें अवश्य ही साक्षात् धनी के चरण कमल मिल जायेंगे।

अंतरगत बैठे हैं सही, अंतर उड़ावने बानी कही।
विचार देखो तो इतहीं पिउ, सागर तबहीं तूल करे जिउ।।२९।।

यह पूर्णतः सत्य है कि प्राणेश्वर अक्षरातीत मेरे धाम हृदय में विराजमान हैं। आपके और धाम धनी के मध्य यह माया का जो आवरण (परदा) आ गया है, उसे हटाने के लिये ही उन्होंने यह तारतम वाणी कही है। यदि

आप विचारपूर्वक देखें तो यह स्पष्ट होगा कि अपने जीव में प्रियतम का प्रेम भर लेने पर यह भवसागर आपको रुई के एक रेशे के समान तुच्छ सा प्रतीत होगा और आप इसी संसार में अपनी आत्मा के धाम हृदय में अपने प्राणवल्लभ का साक्षात्कार कर सकते हैं।

तब इतहीं जो वतन पिउ पार, सखी भाव भजिए भरतार।
आतम महामत है सूरधीर, प्रेमें देखाए जुदे खीर नीर।।३०।।

हे साथ जी! आप स्वयं को अंगना मानकर अपने प्राणधन अक्षरातीत को अपने हृदय में बसाइये। इस प्रकार जो परमधाम बेहद से भी परे है, वह आपको अपनी आत्मा के धाम हृदय में ही दृष्टिगोचर होने लगेगा। मेरे प्राणेश्वर ने मेरी आत्मा को महामति की शोभा दी है। निश्चित ही यह प्रेम–युद्ध की वीरांगना है, जिसने प्रेम के

द्वारा अपने आराध्य को अपने हृदय के सिंहासन पर विराजमान किया है। इसका फल यह निकला है कि जीव और मन को भी अलग–अलग निरूपित किया जा सका है। मेरे जीव ने धनी के चरणों को अपने अन्दर आत्मसात् कर लिया है तथा मन को संसार देखने के लिये छोड़ दिया है।

भावार्थ– इस चौपाई को पढ़कर उन सुन्दरसाथ को आत्म–मन्थन करना चाहिये, जो यह मानते हैं कि या तो इस संसार में आत्मा है ही नहीं, या है भी तो इस संसार में प्रियतम का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी भूल है– अपनी आत्मा के धाम हृदय में परमधाम और धाम धनी को, मूल सम्बन्ध से सूक्ष्म रूप में, न मानना।

प्रकरण ।।३२।। चौपाई ।।९८४।।

श्री भागवत को सार

इस प्रकरण में भागवत के सार तत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

सुनियो साथ कहूं विचार, फल वस्त जो अपनों सार।
सो ए देखके आओ वतन, माया अमल से राखो जतन।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी ! मैं श्रीमद्भागवत् के सार तत्त्व रूपी अपने कुछ विचार व्यक्त कर रही हूँ, उसे आप सुनिए और उन्हें आत्मसात् कीजिए। तत्पश्चात् माया के नशे से स्वयं को दूर रखते हुए परमधाम आइए।

इन अमल को बड़ो विस्तार, सो ए देखना नहीं निरधार।
पेहेले आपन को बरजे सही, श्री मुख बानी धनिऐं कही।।२।।

माया के इस नशे का बहुत अधिक विस्तार है, इसलिये इसकी ओर नाम मात्र भी आकर्षित नहीं होना चाहिए। धाम धनी ने परमधाम में ही हमें माया देखने से मना किया था और इस जागनी ब्रह्माण्ड में हमें माया से छुड़ाने के लिये ही उन्होंने यह तारतम (श्री मुख) वाणी कही है।

तिन कारन तुमें देखाऊं सार, मूल वतन के सब प्रकार।
धनी अपनों धनी का विलास, जिनथें उपज अखंड हुओ रास।।३।।

इसलिये मैं आपको सम्पूर्ण ज्ञान के सार रूप मूल परमधाम की सारी वास्तविकता को दर्शा रही हूँ। उस परमधाम में हमारे प्राणवल्लभ श्री राज जी और उनकी प्रेममयी लीला का आनन्द है। उन्हीं के द्वारा योगमाया के ब्रह्माण्ड में महारास खेली गयी थी, जो आज भी अखण्ड

है।

ए सुनियो आतम के श्रवन, सो नाहीं जो सुनिए ऊपर के मन।
वेद को सार कहयो भागवत, ए फल उपज्यो सास्त्रों के अंत।।४।।

हे साथ जी! मेरे द्वारा कही हुई बातों को आप अपनी आत्मा के कानों से सुनिये। यह सामान्य वाणी नहीं है, जिसे आप बाह्य इन्द्रियों एवं मन से सुन सकें। लोकरीति में वेद का सार भागवत कहा जाता है। सभी शास्त्रों की रचना हो जाने के पश्चात् सबके सार (फल) रूप में इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

भावार्थ– पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से भोगे जाने वाले विषय मन के द्वारा ही अनुभव में आते हैं। तारतम वाणी शब्दातीत परमधाम की वाणी है, इसलिये इसके गुह्यतम रहस्यों को अन्तःश्रवण के माध्यम से ही यथार्थ रूप में जाना जा

सकता है। बाह्य श्रवण या बाह्य पठन–पाठन जीव की सामान्य बुद्धि द्वारा निर्देशित होते हैं, अतः ये परम तत्त्व तक नहीं पहुँचा सकते।

यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में ब्रह्म को "तमसस्परस्तात्" अर्थात् प्रकृति से परे कहा गया है और उसे पाने का साधन प्रेम है, जिसका वर्णन सामवेद (उपासना काण्ड) में है। सामवेद के पहले ही मन्त्र में कहा गया कि "अग्ने आ याहि वीतये" अर्थात् हे प्रकाश स्वरूप परब्रह्म! मेरे हृदय मन्दिर में विराजमान होइए।

इस प्रकार वेद के इस सार तत्त्व को शुकदेव जी ने व्रज से योगमाया के ब्रह्माण्ड में जाने तथा अनन्य प्रेम के द्वारा रास करने के माध्यम से वर्णित किया है। इसलिये इसे वेदों का सार रूपी ग्रन्थ कहते हैं।

सो फल सार सुकजीऐं लियो, सींच के अमृत पकव कियो।
ए फल सार जो भागवत भयो, ताको सार दसम स्कंध कहयो।।५।।

वेदों के फलरूप सार तत्त्व को शुकदेव जी ने ग्रहण किया तथा उसे बेहद के अमृत रस से सींचकर परिपक्व किया। ज्ञान का यह फल रूपी सार तत्त्व श्रीमद्भागवत् के रूप में प्रकट हुआ, जिसका सार दशम् स्कन्ध कहा गया है।

भावार्थ– वेदों में बेहद धाम (चतुष्पाद विभूति के रूप में) प्रसिद्ध है। अक्षर ब्रह्म की वासना होने के कारण श्री शुकदेव जी को यह रहस्य विदित था। वेदों के शब्द ज्ञान में छिपे बेहद के रहस्य को उन्होंने उजागर किया, इसे ही अमृत रस से सींचना कहा गया है। दशम स्कन्ध में व्रज और रास का वर्णन होने से इसे सम्पूर्ण भागवत का सार कहते हैं।

दसम के नब्बे अध्या, तिनका सार भी जुदा कहया।

ताको सार अध्याय पैंतीस, जो बृजलीला करी जगदीस।।६।।

दसवें स्कन्ध में ९० अध्याय हैं। इनका सार भी अलग ही है, अर्थात् ३५ अध्याय, जिसमें श्री कृष्ण जी के द्वारा की गयी व्रज एवं रास लीला का वर्णन है।

विशेष– रास लीला का प्रारम्भ २९वें अध्याय से होता है। २९वें अध्याय में व्रज से रास जाते समय का वर्णन है। रास की समाप्ति ३३वें अध्याय के ४०वें श्लोक "विक्रिडितं व्रजवधुभिरिदं च विष्णोः" के साथ हो जाती है। ३४वें अध्याय में सुदर्शन तथा शंखचूड़ के उद्धार, तथा ३५वें अध्याय में युगलगीत, और ३६वें अध्याय में कंस के द्वारा अक्रूर को भेजने का वर्णन है। इस प्रकार ३४–३५ अध्याय व्रज लीला के अन्तर्गत हैं।

जगदीस नाम विष्णु को होए, यों न कहूँ तो समझे क्यों कोए।

ए जो प्रेम लीला श्री कृष्णजीऐं करी, सो गोपन में गोपियों चित धरी।।७।।

जगदीश विष्णु का नाम होता है, मेरे द्वारा ऐसा कहे बिना यह समझ में नहीं आता कि यहाँ जगदीश किसे कहा गया है? श्री कृष्ण जी ने ११ वर्ष ५२ दिन तक जो प्रेमभरी व्रज लीला की है, उसे गोप लोगों में गोपियों ने अपने हृदय में धारण किया।

भावार्थ– "जगदीश" का शाब्दिक अर्थ होता है– जगत का स्वामी। तारतम वाणी में जगदीश विष्णु भगवान को भी कहा गया है और अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी को भी।

वेदों कह्या आवसी, बुध ईश्वरों का ईस।

मेट कलजुग असुराई, मुक्त देसी सबों जगदीस।।

खुलासा १२/३१

विष्णु भगवान (जगदीश) ने व्रज लीला में जो तन

धारण किया था, उसका नाम श्री कृष्ण अवश्य था, किन्तु लीला करने वाला स्वरूप अक्षरातीत का था। आगे की ८वीं चौपाई में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि व्रज लीला अक्षरातीत ने ही की है।

ए ब्रह्म लीला भई जो दोए, ब्रज लीला रास लीला सोए।

उपरोक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकरीति में भले ही विष्णु भगवान के द्वारा व्रज लीला करने की बात कही जाती है, किन्तु व्रज लीला करने वाले मूलतः धाम धनी ही थे।

प्रकाश गुजराती में इसी प्रकरण की ५वीं चौपाई में यह बात कही गयी है कि "जगदीस वचन एणे न केहेवाय", अर्थात् इन श्री कृष्ण को विष्णु रूप जगदीश नहीं मान लेना चाहिए जैसा कि संसार में माना जाता है।

ए ब्रह्म लीला भई जो दोए, बृज लीला रास लीला सोए।

तामे तीस अध्याय जो बाल चरित्र, ए ब्रह्म लीला उत्तम पवित्र।।८।।

व्रज लीला और रास लीला दोनों ही ब्रह्मलीला हैं, जिनमें श्री कृष्ण जी के तन में अक्षरातीत ने अपने आवेश स्वरूप से लीला की है। दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों में ३० अध्याय बाल लीला के हैं। इन अध्यायों में धाम धनी के द्वारा की गयी अति उत्तम एवं पवित्र ब्रह्मलीला का वर्णन है।

भावार्थ– व्रज लीला का वर्णन अध्याय १ से २८ तथा ३४,३५ में है। मध्य के २९–३३ अध्याय रास लीला से सम्बन्धित हैं। अध्याय १–३० व्रज लीला के तथा ३१–३५ तक रास लीला मानना अनुचित है।

पंच अध्यायी ताको जो सार, किसोर लीला जोगमाया विस्तार।
बृज लीला को जो ब्रह्मांड, रात दिन जित होत अखंड।।९।।

दशम् स्कन्ध के ३५ अध्यायों का सार पञ्चाध्यायी रास है। यह महारास केवल ब्रह्म की आनन्द योगमाया के ब्रह्माण्ड में खेली गयी थी। इसमें किशोर स्वरूप की लीला है। योगमाया के ब्रह्माण्ड (सबलिक के कारण) में जो व्रज लीला अखण्ड है, वह रात–दिन अबाध गति से चल रही है।

जोग माया जो लीला रास, रात अखंड सब चेतन विलास।
ए लीला सुकें आवेस में कही, राजा परीछितें सही ना गई।।१०।।

योगमाया के ब्रह्माण्ड में जो रास लीला खेली गयी थी, वह पूर्णतया रात्रि के अन्तर्गत है और अखण्ड रूप से हो रही है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु चैतन्य तथा आनन्दमयी

है। इस लीला को शुकदेव जी ने अक्षर ब्रह्म के आवेश, अर्थात् धनी के जोश, में कहा है जिसे राजा परीक्षित सहन नहीं कर सके थे।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में आवेश का वर्णन है। चौपाई १२ में जोस का वर्णन है– "सुक को जोस दियो तिन भान।" चौपाई २० में भी "तब भागे जोस कही पंच अध्यायी" कहा है। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि आवेश और जोश एक ही पदार्थ है?

इनमें केवल भाषा–भेद है। "आवेश" शब्द संस्कृत या हिन्दी का है, जबकि "जोश" शब्द अरबी का है। इस प्रकार तारतम वाणी में अनेक स्थानों पर प्रेम –इश्क, वन–जंगल, पशु–जानवर, तथा आशा–उमेद का प्रयोग हुआ है।

इस कथन की विवेचना इस प्रकार है–

परमधाम में मात्र चिद्घन स्वरूप अक्षरातीत की लीला होती है, जबकि बेहद के ब्रह्माण्ड में सत् अंग अक्षर ब्रह्म की, और कालमाया के ब्रह्माण्ड में अक्षर ब्रह्म के स्वाप्निक रूप आदिनारायण की लीला होती है।

यद्यपि अंग और अंगी आन्तरिक रूप से एक ही होते हैं, किन्तु लीला रूप में उन्हें अलग–अलग ही माना जाता है। श्री राज श्यामा जी, सखियाँ, अक्षर ब्रह्म, और महालक्ष्मी– ये पाँचों स्वरूप एक ही अक्षरातीत पूर्ण ब्रह्म के अंग हैं। अक्षर ब्रह्म अक्षरातीत के सत् अंग हैं, किन्तु उनकी लीला को अक्षरातीत की लीला नहीं कह सकते। अंग और अंगी आन्तरिक रूप से एक होते हुए भी लीला की दृष्टि से भिन्न माने जाते हैं। न तो अक्षर ब्रह्म अक्षरातीत की लीला कर सकते हैं और न ही अक्षरातीत आदिनारायण की लीला कर सकते हैं। इसी प्रकार

आदिनारायण भी अक्षर या अक्षरातीत की लीला नहीं कर सकते। यहाँ तक कि सखियाँ भी अक्षर ब्रह्म की लीला करने में असमर्थ हैं।

इसे एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि आम की छाल, पत्तियों, और फलों में समान सुगन्धि होती है , किन्तु क्या इन तीनों को एक कहा जा सकता है? एक ही मनुष्य के हाथ, पैर, मुख, आदि अनेक अंग होते हैं। सभी के मिलने से ही एक मनुष्य का पूर्ण व्यक्तित्व सामने आता है। किन्तु क्या एक ही मनुष्य के अंग होने से हाथ, पैर, और मुख आदि को एक ही जाना जा सकता है और इनकी लीला एक ही हो सकती है?

नवरंग स्वामी कृत रोशननामा २/३५ में इस प्रकार का कथन है–

असराफील फिरस्ता निरधार, अक्षर ब्रह्म की बुद्धि बुध अवतार।

जबराईल फिरस्ता जेह, अक्षर का इश्क आवेश रूप तेह।।

खुलासा १२/४५ में कहा गया है कि "जबराईल जोस धनीय का।" इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि जिबरील श्री राज जी का जोश है, तो अक्षर का आवेश।

जिबरील के द्वारा बेहद का विस्तृत एवं परमधाम का सांकेतिक ज्ञान अवतरित होता है।

जेते पैगंमर भए, जिनों पोहोंचाया हक पैगाम।

पाई जबराईल से बुजरकी, जो पोहोंच्या नूर मुकाम।।

छोटा कयामतनामा १/२

का कथन यही सिद्ध करता है। कबीर, शुकदेव, शिव, और योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने इसी जिबरील (अक्षर के आवेश) के द्वारा अखण्ड बेहद का ज्ञान दिया है, किन्तु युगल स्वरूप के नख से शिख तक की शोभा का वर्णन

जिबरील (अक्षर का आवेश) नहीं कर सकता। इसके लिये अक्षरातीत का आवेश चाहिए।

जो जिबरील यमुना जी को भी पार नहीं कर सकता, वह रंगमहल के मूल मिलावे में विराजमान श्यामा जी के नख से शिख तक की शोभा का वर्णन कैसे कर सकता है?

अतः शुकदेव जी के द्वारा महारास के वर्णन के सम्बन्ध में कहीं जोश तो कहीं आवेश का जो वर्णन है, उसे धनी के जोश या अक्षर ब्रह्म के आवेश के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

जिस प्रकार किसी के द्वारा मुख से भोजन किये जाने पर उस व्यक्ति के द्वारा ही भोजन करना माना जाता है और उस व्यक्ति का ही नाम आता है, मुख का नाम नहीं आता, उसी प्रकार परब्रह्म के जोश द्वारा जो कार्य

सम्पादित किये जाते हैं, उनमें श्री राज जी का ही नाम आता है, जैसे "राते मारा तमाचा राज ने" (बीतक २६/२५), किन्तु इसे ब्रह्मलीला नहीं कह सकते। ब्रह्मलीला वह है, जिसमें स्वयं अक्षरातीत का आवेश ही लीला करे, जैसे व्रज, रास, एवं जागनी लीला बिना अक्षरातीत के आवेश के नहीं हो सकती।

यदि यह संशय किया जाये कि यदि आवेश ही लीला करता है, जोश नहीं, तो यह क्यों कहा गया–

"जब जोस लियो खैंच कर, तब चित्त चौंक भई अक्षर।"

यहाँ यह क्यों नहीं कहा गया कि "जब आवेश लियो खैंच कर?"

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि जहाँ अक्षरातीत का आवेश होगा, वहाँ अक्षरातीत का जोश अवश्य होगा। धाम धनी का आवेश मात्र वहाँ होगा, जहाँ

ब्रह्मसृष्टियाँ होगी। ब्रह्मसृष्टियों के साथ अक्षरातीत जो भी क्रीड़ा करेंगे, उसे ब्रह्मलीला कहेंगे, जैसा कि व्रज, रास, एवं जागनी ब्रह्माण्ड में हुआ है।

किन्तु ब्रह्मसृष्टियों के अभाव में जो कुछ भी होगा, उसे मात्र ब्राह्मी कार्य तो कहेंगे, किन्तु ब्रह्मलीला नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ– व्रज–रास में अक्षर ब्रह्म की आत्मा जो धनी के आवेश–जोश के साथ लीला कर रही थी, अरब में आने पर उसने मात्र जोश के साथ लीला की, इसलिये उसे संदेशवाहक के रूप में जाना गया। उस समय ब्रह्मसृष्टियों के न होने के कारण अरब में जो कुछ भी ब्राह्मी कार्य हुआ, उसे ब्रह्मलीला की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि ब्रह्मलीला में आनन्द अंग की उपस्थिति अनिवार्य है।

यह ध्यान रखने योग्य विशेष तथ्य है कि अक्षरातीत का

आवेश मात्र परमधाम के स्वरूपों (श्यामा जी, सखियों, अक्षर ब्रह्म, एवं महालक्ष्मी) पर ही आ सकता है, ईश्वरी सृष्टि पर नहीं। यही कारण है कि चाहे गीता का अवतरण हो, या कुरआन, बीजक, माहेश्वर तन्त्र, या महारास का अवतरण, सबमें राज जी के जोश स्वरूप जिबरील ने ही कार्य किया है, आवेश स्वरूप ने नहीं।

जिस समय गीता, बीजक, या शुकदेव जी के द्वारा महारास का अवतरण हुआ, उस समय ब्रह्मात्माओं के न होने से आवेश नहीं था। यदि जोश को ही आवेश मानें, तो योगेश्वर श्री कृष्ण जी, कबीर जी, और शुकदेव जी को भी अक्षरातीत पूर्ण ब्रह्म का स्वरूप मानना पड़ेगा , जिसकी स्वीकृति तारतम वाणी, बीतक, या वेद–शास्त्र नहीं देते।

यदि सनद का उद्धाहरण देकर यह कहा जाये कि जोश

और आवेश एक ही हैं, क्योंकि आशिक (श्री राज जी) और मासूक (मुहम्मद) के बीच सन्देश लाने वाला कोई दूसरा नहीं बल्कि "नूर जोस हक अंग का जान", तो इसका उत्तर यह है कि मुख भी तो शरीर का ही अंग होता है, किन्तु क्या शरीर का नाम भी मुख का ही नाम हो सकता है। इतना अवश्य होगा कि मुख में चोट लगने पर उस व्यक्ति को चोट लगना तो कहा जायेगा, किन्तु मुख को सर्वदा मुख ही कहा जायेगा, उस व्यक्ति के नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य में हद के चेतन को जीव तथा परमधाम के चेतन को आत्मा कहते हैं, किन्तु अरबी साहित्य में रूह से ही जीव तथा आत्मा दोनों का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार आवेश शब्द संस्कृत का है। इसके स्थान पर जो जोश शब्द प्रयुक्त होता है, वह

आवेश एवं जोश दोनों के लिये ही प्रयुक्त होता है। इसलिये यहाँ वन–जंगल, आशा–उमेद, एवं प्रेम–इश्क का उदाहरण देना उचित नहीं है। यदि जोश को ही आवेश मानें, तो इन प्रश्नों का क्या उत्तर होगा–

१. श्यामा जी के जिस स्वरूप को स्वयं अक्षर ब्रह्म ने नहीं देखा, उसे जिबरील ने कैसे देख लिया? बिना देखे उसने सागर ग्रन्थ में श्यामा जी के श्रृंगार का दो बार वर्णन कैसे कर दिया?

२. क्या जिबरील ने श्याम जी के मन्दिर में श्यामा जी को दर्शन देकर कहा था कि मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ और तुमने मेरे साथ इश्क–रब्द किया था? मैं ही तुम सबको साथ लेकर परमधाम जाऊँगा?

३. हब्शे में श्री इन्द्रावती जी को किसने दर्शन दिया, क्या जिबरील ने? बीतक में कहा गया है कि "दिल बैठे

सुन्दर रूप अनूप", तो क्या श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में श्यामा जी के बगल में जिबरील ही बैठा था?

४. जब श्री जी के द्वारा होने वाली चर्चा में सुन्दरसाथ को युगल स्वरूप के दर्शन होते थे, तब यदि ऐसा कहा जाये कि जिबरील ही श्री राज जी का स्वरूप धारण कर दर्शन देता था, तो प्रश्न यह है कि श्यामा जी का स्वरूप कौन धारण करता था?

ए लीला क्यों सही जाए, बैकुंठ को अधिकारी राए।

सुक के अंग हुओ उलास, जानूं बरनन करूंगो रास।।११।।

राजा परिक्षित की योग्यता केवल वैकुण्ठ प्राप्त करने की थी। ऐसा व्यक्ति भला बेहद की लीला का बोझ कैसे सहन कर सकता था? शुकदेव जी के हृदय में इस बात का बहुत अधिक उत्साह था कि अब मैं महारास की

लीला का वर्णन करूँगा।

या समें प्रश्न कियो राजान, सुक को जोस दियो तिन भान।

प्रस्न चूक्यो भयो अजान, रास लीला ना बरनवी प्रवान।।१२।।

रास वर्णन के प्रारम्भ में ही राजा ने प्रश्न कर दिया, जिससे शुकदेव जी का ध्यान भंग हो गया, और परब्रह्म का जो जोश वर्णन कर रहा था, वह भी न रहा। प्रश्न करने के कारण जोश चले जाने से शुकदेव जी रास के प्रति अनभिज्ञ जैसे हो गये और उनसे वर्णन भी नहीं हो सका।

भावार्थ– बाँसुरी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपना शरीर छोड़ने लगी थीं। इसका वर्णन सुनकर परीक्षित ने यह कहा कि वे तो श्री कृष्ण में ब्रह्म भावना नहीं, अपितु पति भावना रखती थीं। यह प्रसंग भागवत् १०/२९/१२ में

वर्णित है।

तब हाथ निलाटें दियो सही, सुकें दुख पाए के कही।

मैं जोगी तें राजा भयो, रास को सुख न जाए कहयो।।१३।।

तब अपने मस्तक पर हाथ मारकर अत्यन्त दुःखी स्वर में शुकदेव जी ने कहा– परीक्षित! मैं योगी हूँ और तू राजा है। हम दोनों की मानसिकता का मेल न होने से रास का वर्णन नहीं हो पायेगा।

भावार्थ– गहन निराशा एवं दुःख के क्षणों में मस्तक पर स्वभाविक रूप से हाथ लग जाता है, इसे मस्तक पर हाथ मारना कहते हैं। इसका आशय यह होता है कि लक्ष्य प्राप्ति में घोर निराशा हुई है। राजा संशयात्मक और विषयासक्त होता है, जबकि योगी निर्विकार और निद्वन्द्व। रास का श्रोता निर्विकार एवं प्रेममयी होना चाहिये।

परीक्षित में इन गुणों का अभाव था, इसलिये शुकदेव जी ने ये बातें कहीं।

ए वानी मेरे मुख थें ना परे, ना तेरे श्रवना संचरे।

ए जोग आपन नाहीं दोए, तो इन लीला को सुख क्यों होए।।१४।।

अब बेहद मण्डल में स्थित अखण्ड महारास का वणन न तो मेरे मुख से कहा जा सकता है और न तुम्हारे कानों में उसे सुनने का सामर्थ्य है। हम दोनों ही इस लीला का रसपान करने के योग्य नहीं हैं, तो भला हमें इसका सुख कैसे मिल सकता है?

याके पात्र होसी इन जोग, या लीला को सो लेसी भोग।

केसरी दूध ना रहे रज मात्र, उत्तम कनक बिना जो पात्र।।१५।।

इस लीला के रस की अनुभूति मात्र वे ब्रह्मात्मायें ही

करेंगी। केवल उनमें ही इसका अनुभव करने की पात्रता है, अन्य में नहीं। सिंहनी का अति अल्प दूध भी मात्र स्वर्ण के बर्तन में ही रखा जा सकता है, अन्य में नहीं।

एह वचन सुनके राए, पड़्यो भोम खाए मुरछाए।
कंपमान होए कलकल्या, रोवे बोहोत अंतस्करन गल्या।।१६।।

शुकदेव जी के मुख से इस प्रकार का कथन सुनते ही राजा परीक्षित मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। वे इतने दुःखी हो गये कि विलख-विलख कर रोने लगे तथा काँपने लगे।

तलफ तलफ दुख पावे मन, अंग मांहें लागी अगिन।
तब सुकजिऐं दिलासा दिया, आंसूं पोंछ के बैठा किया।।१७।।

उनका हृदय पश्चाताप की अग्नि में जलने लगा और वे

मन ही मन तड़प–तड़पकर दुःखी होने लगे। तब शुकदेव जी ने उन्हें सान्त्वना दी और उन्हें आँसू पोंछकर बैठाया।

सुनहो राजा द्रढ़ कर मन, अंतरगत केहेता वचन।
सो केहेने वाला उठके गया, मैं अकेला बैठा रहया।।१८।।

शुकदेव जी कहने लगे– हे राजा परीक्षित! अपने मन को दृढ़ कर मेरी बात सुनो। मेरे अन्दर विराजमान होकर ब्रह्म का जो स्वरूप (अक्षर का आवेश या परब्रह्म का जोश) महारास का वर्णन कर रहा था, वह अब मेरे अन्दर से चला गया है। मैं इस समय नितान्त अकेला हूँ।

अब राजा पूछत मोहे कहा, तुझ सरीखा मैं हो रहया।
तब परीछित चरन पकड़ के कहे, स्वामी ए दाझ जिन अंग में रहे।।१९।।

हे राजा! इस समय तुम मुझसे क्या पूछते हो, अर्थात् मुझे रास का वर्णन करने के लिये क्यों कहते हो? अब मुझमें तथा तुम्हारे में कोई भी अन्तर नहीं है। जोश के चले जाने से मैं तुम्हारे जैसा ही हो गया हूँ। तब परीक्षित ने शुकदेव जी के चरणों को पकड़ कर प्रार्थना की कि हे स्वामी जी! मेरे हृदय में रास का श्रवण करने की जो प्रबल चाहना है, वह अपूर्ण नहीं रहनी चाहिए।

भावार्थ– इस चौपाई में परीक्षित ने शुकदेव जी को "स्वामी" कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार प्रकरण २९ चौपाई ४३,४८ में ब्रह्मा जी और क्षीर सागर ने भगवान विष्णु को "स्वामी जी" कहा है। स्पष्ट है कि यह शब्द आदरसूचक है और प्रियतम के भाव में प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतः अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी को "स्वामी प्राणनाथ" कहना उनकी गरिमा को कम करना

है। स्वामी शब्द का प्रयोग करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे भी स्वामी शंकराचार्य और स्वामी विवेकानन्द आदि की तरह ही कोई सन्यासी हैं।

मुनीजी मैं बोहोत दुख पाऊँ, एह दाझ जिन लिए जाऊँ।
तब भागे जोस कही पंच अध्याई, रास बरनन ना हुआ तिन तांई।।२०।।

हे मुनि जी! मैं इस समय बहुत ही दुःखी हूँ। मैं श्रृंगी ऋषि के श्राप के कारण तक्षक नाग के डँसे जाने से तो मरूँगा ही, किन्तु उसके पहले मैं रास लीला का वर्णन सुन लेना चाहता हूँ। राजा परीक्षित की प्रार्थना को पूर्ण करने के लिये शुकदेव जी ने, जोश (अक्षर–आवेश) के चले जाने पर, अपने बुद्धि बल से पञ्चाध्यायी रास का वर्णन किया। इस प्रकार वास्तविक रास का वर्णन नहीं हो सका।

भावार्थ– जोश के द्वारा यदि रास का वर्णन हो गया होता, तो उसमें भ्रान्तियाँ नहीं होती। केवल ब्रह्म की भूमिका में होने वाली महारास में देवी –देवताओं और गन्धर्वों का पहुँचना, तथा विष्णु भगवान को रास विहारी (१०/३३/४०) कहा जाना हास्यास्पद लगता है।

ना तो पंच अध्यायी क्यों कहे सुक मुन, रासलीला अखंड बरनन।
ए लीला क्यों अध बीच रहे, एकादस द्वादस स्कंध कहे।।२१।।

अन्यथा, शुकदेव मुनि जी अखण्ड रास के वर्णन में मात्र पाँच अध्याय ही क्यों कहते? रास लीला का वर्णन बीच में ही छोड़कर, उन्होंने ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्ध का वर्णन क्यों किया?

ए रास लीला को छोड़ के सुख, आधा लुगा न निकसे मुख।
पर ए केहेवाए धनी के जोस, सो उतर गया वचन के रोस।।२२।।

रास का सुख अनन्त है। इसे छोड़कर यदि कोई व्यक्ति हद के किसी अन्य सुख का वर्णन करना चाहे, तो उसके मुख से आधा अक्षर भी नहीं निकल सकता। श्री राज जी के जोश के द्वारा रास का वर्णन हो रहा था, किन्तु परीक्षित के प्रश्न करने के कारण शुकदेव जी का ध्यान भंग हो गया, परिणाम स्वरूप जोश चले जाने से रास का वर्णन नहीं हो सका।

क्या करे अधबीच में लिया, अखंड सुख पूरा केहेने ना दिया।
दोष नहीं राजा को इत, ब्रह्मसृष्टी बिना न पोहोंचे तित।।२३।।

इसमें शुकदेव जी भी क्या कर सकते थे? अधबीच में ही परीक्षित ने प्रश्न कर दिया और महारास के अखण्ड

सुख का पूर्ण वर्णन नहीं होने दिया। बेचारे राजा को भी क्यों दोषी माना जाये? ब्रह्मसृष्टियों के अतिरिक्त अन्य कोई महारास के सुख को ले ही नहीं सकता।

जाको जाना बैकुंठ बास, सो क्यों सहे अखंड प्रकास।
तो पार दरवाजे मूंदे रहे, हद के संगिए खोलने ना दिए।।२४।।

जिसे अन्ततोगत्वा बैकुण्ठ लोक ही जाना है, भला वह अखण्ड लीला का सुख कैसे ले सकता है? यही कारण है कि बेहद का ज्ञान अब तक छिपा ही रहा। हद (बैकुण्ठ–निराकार) से आगे न जा सकने वाला परीक्षित, बेहद के सुख के प्रकाशित (उजागर) होने में बाधक बन गया।

अब सुकजी की केती कहूँ बान, सार काढ़ने ग्रह्यो पुरान।
सबको सार कह्यो ए जो रास, ए जो इंद्रावती मुख हुओ प्रकास।।२५।।

अब मैं शुकदेव जी की वाणी (रास वर्णन) के सम्बन्ध में कितना बताऊँ? उसका सार तत्त्व बताने के लिये मैं आपको श्रीमद्भागवत् की ओर ले चलती हूँ। सम्पूर्ण भागवत का सार रास ग्रन्थ है, जिसे धाम धनी ने मेरे द्वारा कहलवाया है।

अब कहूं इन रास को सार, जो तारतम वचन है निरधार।
तारतम सार जागनी विचार, सबको अर्थ करसी निरवार।।२६।।

अब मैं आपको रास का सार तत्त्व बताती हूँ। निश्चित रूप से तारतम के वचन ही रास ग्रन्थ के सार तत्त्व के रूप में अवतरित हुए हैं। तारतम ज्ञान को ग्रहण करने का सार है– आत्म–जाग्रति के सम्बन्ध में विचार करना।

आत्मा की जाग्रति ही सभी ग्रन्थों के रहस्यों को प्रकाश में लाती है।

निराकार के पार के पार, तारतम को जागनी भयो सार।
अछर पार घर अछरातीत, धाम के यामें सब चरित्र।।२७।।

तारतम ज्ञान का सार है जागनी, अर्थात् निराकार के परे बेहद है, उसके परे अक्षर है, तथा अक्षर के भी परे पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द अक्षरातीत का जो परमधाम है, वही हमारा मूल घर है। उसकी शोभा एवं लीला में डूब जाना ही जागनी है।

विशेष– शोभा में डूबने का आशय है, अपने धाम हृदय में उसे बसा लेना।

इत ब्रह्मलीला को बड़ो विस्तार, या मुखथें कहा कहूँ प्रकार।
ए तारतम को बड़ो उजास, धनी आएके कियो प्रकास।।२८।।

इस जागनी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मलीला का बहुत अधिक विस्तार होगा, जिसकी गरिमा का वर्णन मैं इस मुख से कैसे करूँ? मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर प्रियतम अक्षरातीत ने तारतम ज्ञान का बहुत अधिक प्रकाश कर दिया है।

संसे काहूं ना रेहेवे कोए, ए उजाला त्रैलोकी में होए।
प्रगट भई परआतमा, सो सबको साख देवे आतमा।।२९।।

श्रीमुख (तारतम) वाणी के अवतरण से अब किसी के मन में किसी भी प्रकार का (अध्यात्म सम्बन्धी) संशय नहीं रहेगा। इसका ज्ञान तीनों लोकों अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सौर मण्डल) में होगा। सभी लोगों को

ब्रह्मात्मायें इस बात की साक्षी देंगी कि आत्मा के मूल स्वरूप परात्म का ज्ञान इस संसार में प्रकट हो चुका है।

भावार्थ– जीव और आत्मा के सम्बन्ध में चर्चा तो प्रायः सर्वत्र ही होती है, किन्तु इनके स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ रूप से कोई भी नहीं बताता , लक्षण अवश्य बताते हैं। तारतम ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप के साथ–साथ उसके मूल स्वरूप का भी बोध होता है।

उड़्यो अंधेर काढ़्यो विकार, निरमल सब होसी संसार।
ए प्रकास ले धनी आए इत, साथ लीजो तुम मांहें चित।।३०।।

हे साथ जी! अब तारतम वाणी के प्रकाश में अज्ञानता का अन्धकार समाप्त हो जायेगा। इस वाणी को आचरण में लाने पर सभी विकार समाप्त हो जायेंगे तथा संसार के सभी लोगों का हृदय भी निर्मल हो जायेगा। तारतम वाणी

का यह अनुपम ज्ञान धाम धनी परमधाम से लेकर इस संसार में आये हैं। आप इसे अपने हृदय में आत्मसात् कीजिए।

इन घर बुलावे ए धनी, ब्रह्मसृष्ट जो है अपनी।
खेल किया सो तुम कारन, ए विचार देखो प्रकास वचन।।३१।।

यदि आप इस प्रकाश वाणी के वचनों का विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि प्रियतम अक्षरातीत अपनी ब्रह्मसृष्टियों को परमधाम बुला रहे हैं। यह मायावी खेल भी आपकी इच्छा को पूर्ण करने के लिये ही बनाया गया है।

देख्यो खेल मिल्यो सब साथ, जागनी रास बड़ो विलास।
खेलते हंसते चले वतन, धनी साथ सब होए प्रसंन।।३२।।

हे साथ जी! देखिए, इस जागनी रास का आनन्द बहुत

अधिक है। इस खेल में सभी सुन्दरसाथ तारतम वाणी के द्वारा धनी के चरणों में आकर एकत्रित होंगे। तत्पश्चात् प्रियतम के प्रेम में हँसते–खेलते परमधाम पहुँचेंगे। वहाँ परात्म में जाग्रत होंगे और स्वयं को साक्षात् धनी के सम्मुख पाकर अति आनन्दित होंगे।

भावार्थ– जो सुन्दरसाथ तारतम वाणी के चिन्तन एवं युगल स्वरूप की चितवनि में लगे रहेंगे, वे इस मायावी संसार के प्रपञ्चों से दूर रहकर सदा आनन्द का ही अनुभव करेंगे। इसे ही उपरोक्त चौपाई में हँसना–खेलना कहा गया है।

इतहीं बैठे जागे घर धाम, पूरन मनोरथ हुए सब काम।
उड़्यो अग्यान सबों खुली नजर, उठ बैठे सब घर के घर।।३३।।

इस जागनी लीला में प्रेममयी चितवनि के द्वारा हमें ऐसा

प्रतीत होगा, जैसे कि भले ही हम यहाँ बैठे हैं किन्तु परमधाम में अपने मूल तन में जाग्रत से हो गये हैं। हमने परमधाम में जो भी इच्छायें की थीं, वे सभी पूर्ण हो गयी हैं। इस जागनी लीला के पूर्ण होने पर जब यह संसार लय हो जायेगा और हम सभी सुन्दरसाथ अपने मूल तनों में जाग्रत होंगे , तो उस समय हमारी अन्तर्दृष्टि (परात्म की दृष्टि) खुल जायेगी तथा हमें ऐसा अनुभव होगा कि कालमाया में जिस अज्ञानता का हमने अनुभव किया था, वह अब हमारे अन्दर नाममात्र के लिये भी नहीं है।

द्रष्टव्य– उपरोक्त चौपाई की पहली पंक्ति में आत्मा की जाग्रत अवस्था का वर्णन है तथा दूसरी पंक्ति में परात्म के जाग्रत होने की स्थिति का वर्णन है।

हांसी ना रहे पकरी, धनिऐं जो साथ पर करी।

हंसते ताली देकर उठे, धनी महामत साथ एकठे।।३४।।

श्री महामति जी की आत्मा कहती है कि परमधाम में हम सभी सुन्दरसाथ प्रियतम के सम्मुख एकसाथ ताली बजाकर हँसते हुए उठेंगे। धाम धनी ने हमें हँसी का यह खेल दिखाया है, इसलिये जब परमधाम में उठेंगे तो एक दूसरे की भूलों पर इतना अधिक हँसेंगे कि उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

भावार्थ– ताली बजाते हुए उठने को किसी "क्रिया" से नहीं जोड़ना चाहिए। वस्तुतः प्रसन्नता के आवेग को प्रकट करने के लिये यहाँ ताली बजाने का कथन किया गया है।

प्रकरण ।।३३।। चौपाई ।।१०१८।।

पख पुष्ट मरजाद प्रवाह

इस प्रकरण में १०८ पक्षों का वर्णन किया गया है। पक्ष का तात्पर्य होता है– स्तर या भाग। हद से लेकर परमधाम पहुँचने के मार्ग में जो विभिन्न स्तर आते हैं, उन्हें १०८ भागों में दर्शाया गया है।

अब कहूं सो हिरदे रख, अठोत्तर सौ जो हैं पख।

एक विचार सुनियो प्रवान, याको सार काढ़ूं निरवान।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! अब मैं आपसे १०८ पक्षों के सम्बन्ध में अपने विचार कहती हूँ। आप इसे सुनिये तथा अपने हृदय में धारण कीजिए। इसके पश्चात् इसका सार तत्त्व भी आपको बताती हूँ।

माया जीव कोई है समरथ, दौड़ करत है कारन अरथ।
निसंक आपोपा डारया जिन, निहकर्म पैंडा लिया तिन।।२।।

जो मायावी जीव शारीरिक, मानसिक, एवं बौद्धिक दृष्टि से अधिक सामर्थ्यवान् होते हैं, वे आध्यात्मिक ज्ञान की कमी के कारण मात्र अर्थोपार्जन में ही लगे रहते हैं। किन्तु जो जीव धर्मग्रन्थों में निहित तत्त्व ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं और अपने अहम् का परित्याग कर देते हैं, वे निष्काम कर्म योग का मार्ग अपनाते हैं।

पुष्ट मरजाद जो प्रवाह पख, याको सार बताऊं लख।
ताके हिसे किए नौं, चढ़े सीढ़ी भगत जल भौं।।३।।

भक्ति का मार्ग– पुष्टि, मर्यादा, और प्रवाह– इन तीन पक्षों से होकर गुजरता है। मैं इन पक्षों का सार तत्त्व बताती हूँ। इस भवसागर से पार होने के लिये भक्त लोग

नवधा भक्ति का आश्रय लेते हैं और माया के विभिन्न स्तरों को भक्ति की सीढ़ियों द्वारा पार करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार तीनों पक्षों में प्रत्येक के नौ भाग करने पर।

भावार्थ– नवधा भक्ति इस प्रकार है–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनं।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्म निवेदनं।।

इनके प्रमुख आचार्य क्रमशः इस प्रकार माने जाते हैं– परीक्षित, शुकदेव, प्रह्लाद, लक्ष्मी, पृथु, अक्रूर, हनुमान, अर्जुन, और राजा बलि। इस चौपाई के अन्तिम चरण में कथित "जल भौं" का तात्पर्य है– भवसागर।

भी ताके बांटे किए सताईस, चढ़े ऊंचे सुरत बांध जगदीस।

सो बांटे किए असी और एक, पोहोंचे बैकुंठ चढ़े या विवेक।।४।।

सताइस भाग होते हैं। इनमें सत्व, रज, तथा तम के भेद से प्रत्येक के तीन भाग करने पर ८१ भाग होते हैं। इस प्रकार विवेकपूर्वक विष्णु भगवान की भक्ति करते हुए उच्चावस्था को प्राप्त होते हैं तथा वैकुण्ठ की प्राप्ति करते हैं।

तहां चार विध की कही मुगत, करनी माफक पावे इत।
इतथें जो कोई आगे जाए, निराकार से ना निकसे पाए।।५।।

इन ८१ पक्षों के अन्तर्गत् अपनी भक्ति के अनुकूल वैकुण्ठ धाम में चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं – सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, और सायुज्य। यदि कोई वैकुण्ठ से आगे जाने का प्रयास करता है, तो भी निराकार को पार नहीं कर पाता है।

भावार्थ– पौराणिक मान्यता के अनुसार चारों प्रकार की

मुक्तियों का विवरण इस प्रकार है–

१. सालोक्य– अपने आराध्य के लोक को प्राप्त होना।

२. सामीप्य– भगवान के पास रहकर निवास करना।

३. सारूप्य– पुरुष का विष्णु के रूप में और महिला का लक्ष्मी के स्वरूप को प्राप्त होना।

४. सायुज्य– उनके स्वरूप में विलीन हो जाना।

पख बयासिमां जो कहया, वल्लभाचारज तहां पोहोंचिया।
स्यामा वल्लभियों करी बड़ी दौर, ए भी आए रहे इन ठौर।।६।।

इनके ऊपर जो ८२वाँ पक्ष आता है, वहाँ तक वल्लभाचार्य जी पहुँचे। राधा–वल्लभ मत के अनुयायियों ने बहुत प्रयास किया। वे भी यहाँ तक पहुँचे।

भावार्थ– वल्लभाचार्य ने राधा–कृष्ण को अपना आराध्य

माना है। इन्हीं के अनुकूल श्यामा–वल्लभी मत है। इन्हें ही राधा–वल्लभी भी कहते हैं।

छेद इंड में कियो सही, पर अखंड दृष्टें आया नहीं।
आड़ी सुंन भई निराकार, पोहोंच ना सके ताके पार।।७।।

इन्होंने वैकुण्ठ से परे अनन्य परा प्रेम की राह तो अवश्य पकड़ी, किन्तु इन्हें यह बोध नहीं हो सका कि अखण्ड व्रज और रास की लीला कहाँ पर हो रही है? इनके सामने निराकार का आवरण (पर्दा) आ गया, जिसको पार करके ये बेहद मण्डल में नहीं पहुँच सके।

इनों की तो एह सनंध, पीछे फेर पकड़या प्रतिबिंब।
और साध अलेखे केते कहूं, निसंक दौड़ करी जिनहूँ।।८।।

इनकी यही वास्तविकता है। जब इन्हें बेहद की अखण्ड

लीला का बोध नहीं हुआ, तो उन्होंने पुनः वापस लौटकर इस नश्वर जगत में होने वाली व्रज और रास की लीला को पकड़ लिया। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से साधु-महात्मा हुए हैं, जिन्होंने परमात्मा पर अटूट भाव लेकर बेहद में जाने का प्रयास किया, परन्तु वे सफल नहीं हो सके। उनका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ?

ग्यानी अनेक कथें बहु ग्यान, ध्यानी कई बिध धरें ध्यान।
पर ए सबही सुन्य के दरम्यान, छूट्या न काहूँ संसे उनमान।।९।।

बहुत से ज्ञानीजन हुए हैं, जो अपनी विद्वता के बल पर धर्मशास्त्रों के ज्ञान की गहन चर्चा करते रहे हैं। योगाभ्यास की राह पर चलने वाले अनेक प्रकार से ध्यान करते रहे हैं, किन्तु ये सभी शून्य-निराकार में ही रह गये। न तो ये उससे बाहर निकल सके और न दृढ़ता

से सत्य को पारिभाषित ही कर सके। इनमें परब्रह्म के विषय में अनुमान से कहने की प्रवृत्ति बनी ही रही।

उपासनी निरगुन या निरंजन, किन उलंघ्यो न जाय विष्णु को कारन।
या सास्त्र या साधू जन, द्वैत सबे समानी सुंन।।१०।।

परब्रह्म को निर्गुण और निरञ्जन (निराकार) मानकर उपासना करने वाले मोह तत्त्व को पार नहीं कर सके। चाहे शास्त्रों का आधार लेकर चलने वाले ज्ञानीजन हों या साधू–सन्त, सभी इस द्वैत (जीव+माया) मण्डल में ही भटकते रहे और शून्य–निराकार से आगे नहीं जा सके।

भावार्थ– सामान्यतः परब्रह्म को प्रकृति की तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध) से रहित माना जाता है। इसे ही निर्गुण कहते हैं। वस्तुतः जीव, ब्रह्म,

और प्रकृति तीनों ही सगुण हैं और तीनों ही निर्गुण हैं , क्योंकि तीनों में कुछ न कुछ गुण हैं और कुछ का अभाव है। जैसे– ब्रह्म सत्य, चेतन, और आनन्दमयी है, किन्तु उसमें प्रकृति के गुण सत्व , रज, एवं तम नहीं हैं। इसी प्रकार प्रकृति में ब्रह्म के सत् , चित्, और आनन्द गुण नहीं हैं। जीव में भी न तो प्रकृति का जड़त्व गुण है और न ब्रह्म की अनन्तता एवं आनन्दमयता का गुण है।

"निरंजन" का अर्थ होता है– अवयव (आकृति या अंग विशेष) से रहित। उपरोक्त चौपाई में "विष्णु" से तात्पर्य महाविष्णु (आदिनारायण) से है, जिनका प्रकटन मोह तत्त्व से हुआ है। इसलिये मोह तत्त्व कारण स्वरूप है तथा उनका महाकारण स्वरूप सुमंगला पुरूष है। यदि आदिनारायण का मूल सुमंगला पुरूष है, तो प्रकृति का मूल भी सुमंगला पुरूष को ही मानना पड़ेगा। इस

सम्बन्ध में तारतम वाणी का कथन है–

प्रकृति पैदा करे, ऐसे कई इंड आलम।
ए ठौर माया ब्रह्म सबलिक, त्रिगुन की परआतम।।

किरंतन ६५/१०

"माया ह जज्ञे मायया" अथर्ववेद ८/९/५ का कथन भी यही सिद्ध करता है कि अनादि माया से माया (कारण प्रकृति) उत्पन्न होती है।

परम्परागत रूप से सात शून्यों को कारण प्रकृति तथा मोहसागर को महाकारण प्रकृति मानने की भूल चली आ रही है। शून्य अवयवविहीन–अतिसूक्ष्म पदार्थ है। उसे एक–के–ऊपर–एक कहना, तथा सात रंगों एवं सात स्वरों की उत्पत्ति करने वाला कहना, अनुचित है। जब अहंकार से पञ्च तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध) की उत्पत्ति होती है, तो कारण प्रकृति को सात

शून्यों में मानकर उन्हें शब्द और रूप से युक्त बताना वेद–शास्त्रों की मान्यता के विपरीत है।

वस्तुतः आदिनारायण की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति का सूक्ष्मतम् रूप महाकारण कहलाता है, तथा आदिनारायण के प्रकटन के पश्चात् वही कारण कहलाता है, क्योंकि इसके पश्चात् ही सभी प्राणियों एवं सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

मूल प्रकृती मोह अहं थे, उपजे तीनों गुन।

किरंतन २१/२

अर्थात् सुमंगला शक्ति की इच्छा ही मूल प्रकृति है। "जाकी इच्छा मूल प्रकृत" से भी यही सिद्ध होता है कि सुमंगला की इच्छा शक्ति (मूल प्रकृति) से मोह तत्त्व की रचना हुई है, जो कारण प्रकृति है।

कारज कारन महाकारन से, न्यारी हों इन पिउ की नार।

किरंतन ५५/२२

अर्थात् कार्य (स्थूल जगत), कारण (मोह तत्त्व, कारण प्रकृति), तथा महाकारण (सुमंगला पुरूष) से परे, परमधाम से ब्रह्मसृष्टियाँ आयी हैं। दूसरे शब्दों में कार्य (हद), कारण (बेहद), तथा महाकारण (अक्षर) भी कह सकते हैं।

इन ऊपर पख है एक, सुनियो ताको कहूं विवेक।

पुरूख प्रकृती उलंघ के गए, जाए अखंड सुख माहें रहे।।११।।

इस मोह तत्त्व से परे भी एक पक्ष है। उसके बारे में मैं आपसे बता रही हूँ। आप विवेक दृष्टि से उसका श्रवण करें। अक्षर ब्रह्म की पञ्च वासनाओं ने आदिनारायण एवं कारण प्रकृति (पुरुष प्रकृति) को पार करके इस बेहद

मण्डल की प्राप्ति की है।

त्रासिमा पख प्रवान, जो वासना पांचों लिया निरवान।
ए पांचो कहूँ अपनायत कर, देखाऊं सब्दातीत घर।।१२।।

यह ८३वाँ पक्ष है, जहाँ अक्षर ब्रह्म की पाँचों वासनायें (सुरतायें) पहुँची हैं। अपनेपन की भावना से ही मैं इन पाँचों के विषय में बताने जा रही हूँ तथा इसके पश्चात् मैं शब्दातीत परमधाम की भी पहचान बताऊँगी।

ना तो प्रबोध काहे को कहूँ, चरन पिया के प्रेमें ग्रहूँ।
पर साथ कारन कहूँ फेर फेर, ए पांचो नाम लीजो चित धर।।१३।।

अन्यथा मैं आपको इस प्रकार क्यों समझाती ? मैं अकेली ही प्रियतम के चरणों का सुख लेती रहती। किन्तु आपको जगाने के लिये ही मैं बारम्बार ऐसा कह रही हूँ।

हे साथ जी! आप इन पाँचों के नाम को अपने चित्त में बसा लीजिए।

एक भगवानजी बैकुंठ को नाथ, महादेवजी भी इनके साथ।
सुकजी और सनकादिक दोए, कबीर भी इत पोहोंच्या सोए।।१४।।

एक तो वैकुण्ठ के स्वामी विष्णु भगवान हैं। दूसरे भगवान शिव जी हैं। शुकदेव जी, सनकादिक (सनक, सनन्दन, सनातन, और सनत्कुमार), एवं कबीर जी बेहद मण्डल में पहुँचे हैं।

लखमी नारायन जुदे ना अंग, सो तो भेले विष्णु के संग।
ए पांचो कहे मैं तिन कारन, चित ल्याए देखो याके वचन।।१५।।

लक्ष्मी और नारायण को विष्णु भगवान से अलग नहीं समझना चाहिए, अपितु ये एक ही स्वरूप हैं। इन पाँचों

का नाम मैंने इसलिये कहा है कि जिससे आप इनके कहे हुए वचनों को चित्त में ग्रहण करें और उन पर विचार करें।

भावार्थ– "बैकुण्ठ मिने नारायण जी, जिन मुख स्वांसा वेद" के कथन के आधार पर नारायण और विष्णु एक ही नाम हैं। भागवत के कथनों में एकरूपता लाने के लिये चौपाई में इस प्रकार का कथन किया गया है।

देखो सब्द इनों की रोसनी, पर जानेगा बड़ी मत का धनी।
पख पचीस या ऊपर होय, तारतम के वचन हैं सोए।।१६।।

हे साथ जी! इन पञ्चवासनाओं द्वारा कहे गये ज्ञान के प्रकाश की गरिमा को देखिये। जिनके पास जाग्रत बुद्धि होगी, एकमात्र वे ही इनके ज्ञान की महत्ता को समझ सकते हैं। इनके द्वारा कहे गये बेहद के ज्ञान से परे

परमधाम के पच्चीस पक्ष हैं, जिनका वर्णन तारतम के वचनों में है।

इन वचनों में अछरातीत, श्री धाम धनी साथ सहीत।
ए देखो तारतम को उजास, धनी ल्याए कारन साथ।।१७।।

तारतम वाणी के वचनों में अक्षरातीत श्री राज जी के युगल स्वरूप एवं सुन्दरसाथ की पहचान दी गयी है। हे साथ जी! आप तारतम वाणी के ज्ञान की महिमा को देखिए। आपको जाग्रत करने के लिये ही प्रियतम इसे परमधाम से लेकर आये हैं।

तुम आपको ना करो पेहेचान, बाहोत ताए कहिए जो होए अजान।
तुम जो हो इन घर के प्रवान, सुनते क्यों ना होत गलतान।।१८।।

फिर भी आप अपनी पहचान क्यों नहीं कर रहे हैं ?

बहुत अधिक उसे कहा जाता है, जो अज्ञानी हो। आप तो निश्चित रूप से परमधाम के रहने वाले हैं। इस वाणी को सुनते ही प्रियतम के प्रेम में गलितगात क्यों नहीं हो जाते हैं?

भावार्थ– जब प्रेम भाव की विह्वलता के कारण शरीर में रोमाञ्च हो जाये तथा प्रियतम पर सर्वस्व न्योछावर करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न सूझे, उसे गलितगात होना कहते हैं।

सनेहसों सेवा कीजो धनी, घर की पेहेचान देखियो अपनी।
तुम प्रेम सेवाएँ पाओगे पार, ए वचन धनी के कहे निरधार।।१९।।

हे साथ जी! इस तारतम वाणी के प्रकाश में अपने प्राणेश्वर, अपने सर्वस्व, धाम धनी की पहचान करके अति प्रेमपूर्वक उनकी सेवा कीजिए। इसके अतिरिक्त

अपने मूल घर को भी जानिये कि वह कैसा है। प्रियतम ने तारतम वाणी में यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि अनन्य प्रेम एवं सेवा के द्वारा ही इस भवसागर से सरलतापूर्वक पार होएंगे।

पीछला साथ आवेगा क्योंकर, प्रकास वचन हिरदे में धर।
चरने हैं सो तो आए सही, पर पीछले कारन ए बानी कही।।२०।।

यदि यह कहा जाये कि जो सुन्दरसाथ अभी माया में फँसे हैं, वे धाम धनी के चरणों में कैसे आयेंगे ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रकाश वाणी के वचनों को अपने हृदय में धारण करने पर प्रियतम की पहचान हो जायेगी। जो भी सुन्दरसाथ अभी तक धाम धनी के चरणों में आ चुके हैं, उनका तो सौभाग्य है, किन्तु जो अभी तक माया में हैं, उन्हें जाग्रत करने के लिये ही प्रियतम ने इस

तारतम वाणी का अवतरण किया है।

आवसी साथ ए देख प्रकास, अंधकार सब कियो नास।
एह वचन अब केते कहूं, इन लीला को पार ना लहूं।।२१।।

तारतम वाणी के उजाले ने अज्ञानता के सम्पूर्ण अन्धकार का विनाश कर दिया है। इस प्रकार इस वाणी के उजाले में ही परमधाम की आत्मायें जाग्रत होंगी। श्रीमुखवाणी की महिमा के विषय में मैं क्या कहूँ? इस अलौकिक ज्ञान के प्रकाश में होने वाली जागनी लीला की गरिमा का मैं पार नहीं जान पा रही हूँ।

या वानी को नाहीं पार, साथ केता करसी विचार।
तिन कारन बोहोत कहयो न जाए, ए तो पूर बहे दरियाए।।२२।।

इस ब्रह्मवाणी की महिमा की कोई सीमा ही नहीं है? मेरे

हृदय में विराजमान होकर धाम धनी इस वाणी का अवतरण इस प्रकार कर रहे हैं कि जैसे सागर की लहरों का बहाव हो। ऐसी अवस्था में भला सुन्दरसाथ इस संसार की बुद्धि से इस का कितना चिन्तन कर पायेगा? इसलिये उन्होंने इस वाणी का बहुत अधिक विस्तार न करके थोड़े ही शब्दों (चौपाइयों) में सीमित कर दिया है।

याको नेक विचारे जो एक वचन, ताए घर पेहेचान होवे मिने खिन।
जो वासना होसी इन घर, सो एह वचन छोड़े क्यों कर।।२३।।

यदि कोई सुन्दरसाथ इस तारतम वाणी के एक वचन का भी थोड़ा सा विचार कर ले, तो उसे एक क्षण में ही अपने मूल घर (परमधाम) की पहचान हो जायेगी। जो भी परमधाम की आत्मा होगी, वह प्रियतम के इन अमृतमयी वचनों को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ेगी।

ए वचन सुनते बाढ़े बल, सोई लेसी तारतम को फल।

तारतम फल जागिए इन घर, कहे महामती ए हिरदे धर।।२४।।

श्री महामति जी की आत्मा कहती हैं कि हे साथ जी! इस बात को आप अपने हृदय में बसा लीजिए कि तारतम वाणी को आत्मसात् करने का फल यही है कि हम इस संसार को छोड़कर अपने मूल घर परमधाम में जाग्रत हो जायें। किन्तु इस लक्ष्य रूपी फल को मात्र वही ब्रह्मात्मा प्राप्त करेगी, जो इसके अमृतमयी वचनों को सुनते ही प्रेमावेश की वृद्धि का अनुभव करेगी।

भावार्थ– बल बढ़ने का तात्पर्य बौद्धिक या शारीरिक बल का बढ़ना नहीं है, बल्कि प्रेम के बल का बढ़ना है। इसे ही प्रेमावेश कहा गया है। इस जागनी ब्रह्माण्ड में आत्माओं की जागनी होगी, जबकि परमधाम में परात्म

के तनों की जागनी एक साथ होगी।

प्रकरण ।।३४।। चौपाई ।।१०४२।।

गुनन की आसंका

इस प्रकरण में प्रियतम के गुणों के प्रति होने वाली शंका को पूर्णतया निर्मूल (नष्ट) करके सर्वस्व न्योछावर करने का निर्देश दिया गया है।

अब कछुक मैं अपनी करूं, ना तो तुमे बोहोतक ओचरूं।
भी एक कहूं वचन, तुमको संसे रेहेवे जिन।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! मैंने आपकी आत्म–जाग्रति के लिये आपसे बहुत कुछ कह दिया है। अब मुझे अपने सम्बन्ध में (अपनी आत्म–जाग्रति के लिये) भी कुछ करना है। आपके मन में किसी भी प्रकार का संशय न रह जाये, इसलिये आपसे एक बात भी कह रही हूँ।

भावार्थ– इस चौपाई का पहला चरण भी खिल्वत की

उस चौपाई के पहले चरण के ही समान है, जिसमें यह कहा गया है– "रे रूह तूं करे ना कछु अपनी, के तूं उरझी उम्मत मांहें।" इसका आशय यह है कि ज्ञान दृष्टि से बहुत ऊँचाई पर पहुँचने के बाद भी प्रेममयी चितवनि का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए, अन्यथा आत्म–जाग्रति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में तो अक्षरातीत विराजमान ही हैं। उन्हें आत्म–जाग्रति के लिये अब कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, फिर लोक शिक्षा के लिये अपने प्रति इस प्रकार का कथन कहकर उन्होंने सब सुन्दरसाथ को चितवनि के लिये प्रेरित किया है।

मैं धाम धनी गुन लिखे सही, एक आसंका मेरे मन में रही।
मैं गेहेरे सब्द कहे निरधार, सो साथ क्यों करसी विचार।।२।।

मैंने अपने प्राण प्रियतम के गुणों का वर्णन अवश्य किया है, किन्तु मेरे मन में यह संशय बना रहता है कि गुणों को वर्णन करते समय मैंने इतने गहरे भाव वाले शब्दों का प्रयोग किया है कि सुन्दरसाथ उनका सरलतापूर्वक चिन्तन कैसे कर सकेंगे।

भावार्थ– कितने कागजों पर, कितनी बार, एवं कितने समय तक कितने गुणों की गणना की गयी, यह पूर्व के प्रकरण १२ में दर्शाया जा चुका है। यह इतनी जटिल प्रक्रिया है कि सामान्य सुन्दरसाथ को बहुत बोझ सी लगने लगती है। उपरोक्त चौपाई के तीसरे चरण का यही भाव है।

जोलों आतम ना देवे साख, तोलों प्रबोध भले दीजे दस लाख।
पर सो क्योंए ना लगे एक वचन, जोलों ना समझे आतम बुध मन।।३।।

जब तक आत्मा की ओर से सत्यता की साक्षी नहीं मिल जाती, तब तक किसी को लाख बार समझाने से भी कोई लाभ नहीं होता। किन्तु प्रश्न यह होता है कि उसे इतना समझाने पर, एक बात (वचन) का भी प्रभाव क्यों नहीं पड़ता? इसका मुख्य कारण यह है कि जब तक आत्मा, मन, एवं बुद्धि में विवेक दृष्टि जाग्रत नहीं होती तथा सत्य ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, तब तक उसे कितना भी क्यों न समझाया जाए, परन्तु कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ताथें यों दिल आई हमको, जिन कोई संसे रहे तुमको।
एक प्रवाही वचन यों कहे, मुखथें कहे पर अर्थ ना लहे।।४।।

इसलिये मेरे हृदय में यह बात आयी कि आपके मन में किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिये। तारतम

ज्ञान से रहित लोग भी अनजानेपन में अपने मुख से कई बड़ी–बड़ी बातें तो कह जाते हैं, किन्तु वे उनका जरा सा भी अर्थ नहीं जानते।

सूई के नाके मंझार, कुंजर कई निकसे हजार।
ए अर्थ भी होसी इतहीं, तारतम आसंका राखे नहीं।।५।।

उदाहरण के लिये एक कथन है– सुई के छिद्र में से हजारों हाथी निकल जाते हैं। तारतम ज्ञान के समक्ष किसी भी प्रकार का संशय नहीं रह सकता। अतः इसका भी अभिप्राय अभी स्पष्ट करना उचित होगा।

मैं गुन लिखते कही लेखन अनी, ए आसंका जिन होसी घनी।
कथुए के पाँऊ प्रवान, कलमे गढ़िया हाथ सुजान।।६।।

अपने प्राणेश्वर के गुणों का वर्णन करते समय, मैंने

लेखनी की महीन नोंक के विषय में बताया था। इस सम्बन्ध में किसी को भी अधिक संशय न हो, इसलिये मैं यह स्पष्ट कर देती हूँ कि मैंने कथुए के पाँव से भी अधिक बारीक नोंक वाली लेखनी (कलम) अपने हाथों से बनायी थी।

तिनकी भी मैं करी चीर, गुन जेती उतारी लीर।

अब जिन किनको संसे रहे, तारतम संसे कछू ना सहे।।७।।

उतनी बारीक नोंक को भी चीरकर जितने गुण थे, मैंने उतने भाग कर दिये। ऐसा मैंने इसलिये किया कि जिससे किसी के मन में संशय न रह सके। तारतम ज्ञान की उपस्थिति में तो किसी भी प्रकार का संशय रहना ही नहीं चाहिए।

या पर एक कहूं विचार, सुनियो ब्रह्मसृष्ट सिरदार।

ए चौद भवन देखो आकार, याके मूल को करो विचार।।८।।

ब्रह्मसृष्टियों में भी प्रमुख सुन्दरसाथ जी ! इसके अतिरिक्त मैं अपना एक और विचार रखती हूँ, उसे सुनिये। आप चौदह लोकों के इस ब्रह्माण्ड की विशालता को देखिए कि यह कितना बड़ा है? आप इसके मूल पर भी विचार कीजिए कि यह किससे बना है?

याको सास्त्र सुपनांतर कहे, कोई याको जीव याको ना लहे।

ए सुपन मूल तो है समरथ, याके मूल को देखो अर्थ।।९।।

शास्त्रों के कथनानुसार यह ब्रह्माण्ड स्वप्न से बना हुआ है। इस रहस्य को कुछ जीव तो समझते हैं, किन्तु कुछ नहीं भी समझते। निश्चय ही सपने का मूल तो सामर्थ्यवान है। अब आप स्वप्न के मूल का आशय

समझिए।

सुपन मूल तो नींद जो भई, जब जाग उठे तब कछुए नहीं।
याको पेड़ कछू ना रह्यो लगार, कथुए के पाँउ का तो मैं कहया आकार।।१०।।

स्वप्न का मूल नींद है। जब जाग्रत होते हैं तो नींद के न रहने से कुछ भी नहीं रहता, अर्थात् स्वप्न के न होने से उसमें बना हुआ यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लय को प्राप्त हो जाता है। कथुए के पैर का तो मैंने बहुत छोटा सा आकार भी कह दिया है, किन्तु इस जगत् के मूल स्वप्न का तो कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

बिना पेड़ देखो विस्तार, एता बड़ा किया आकार।
एतो पेड़ कहया आकार, तो ताको क्यों ना होए विस्तार।।११।।

हे साथ जी! विचार करके देखिए कि जब बिना मूल रूप

वाली इस नींद से इस स्वप्नमयी जगत् का इतना बड़ा विस्तार है कि यह विस्तृत ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर हो रहा है, तो कथुए के शरीर का तो कुछ आकार होता है। उसके द्वारा गणना का आधार बनाकर प्रियतम के गुणों को गिनने का विस्तार क्यों नहीं हो सकता?

भावार्थ– स्वप्न का मूल नींद है और नींद की कोई आकृति या रूप नहीं होता, मात्र लक्षणों से ही नींद की पहचान होती है। जब बिना रूप वाली नींद (माया) से इतना बड़ा ब्रह्माण्ड बन सकता है, तो कुछ लघु रूप वाले कथुए से गुणों को गिनने का विस्तार क्यों नहीं हो सकता?

यों सूई के नाके मांहें, कई लाखों ब्रह्मांड निकसे जाएं।
अब ए नीके लीजो अर्थ, गुन लिखने वालो समरथ।।१२।।

इसी प्रकार सुई के छिद्र (जिसमें धागा डाला जाता है) से लाखों ब्रह्माण्ड निकल जाते हैं। अब इसके आशय को अच्छी प्रकार से ग्रहण कीजिए। मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर जिस अक्षरातीत ने मुझसे गुण गिनवाये हैं, वे सर्वसामर्थ्यवान् हैं।

भावार्थ– यद्यपि गुण गिनने का कार्य श्री इन्द्रावती जी ने स्वयं किया है, किन्तु वे तो केवल माध्यम हैं। गिनने वाले स्वयं श्री राज जी ही हैं। उपरोक्त चौपाई का गुह्य रहस्य यह है कि जब बहुत छोटे से सुई के छिद्र से लाखों ब्रह्माण्ड निकल सकते हैं, तो मेरा मुख तो बहुत बड़ा है और गिनने वाला भी सर्वशक्तिमान है।

अब केता कहूँ तुमको विस्तार, एक एह सब्द लीजो निरधार।
फेर फेर कहूँ मेरे साथ, नीके पेहेचानो प्राण को नाथ।।१३।।

मेरे सुन्दरसाथ जी! अब मैं आपको अपने प्राणवल्लभ के गुणों का कितना विस्तार बताऊँ? अब आप केवल एक ही शब्द (पहचान) को दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लीजिए। मैं बार-बार आपसे एक ही बात कह रही हूँ कि अपने जीवन के आधार, अपने सर्वस्व, अपने आराध्य प्राणनाथ जी की पहचान कर लीजिए।

गुन लिखने वालो सो एह, आपन मांहें बैठा जेह।

इंद्रावती कहे दिल दे रे दे, जिन गुन किए सो ए रे ए।।१४।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि हे साथ जी! पूर्व के १२वें प्रकरण में जिसने गुणों को गिना है, वे स्वयं अक्षरातीत ही तो हैं जो मेरे (हमारे) धाम हृदय में विराजमान होकर लीला कर रहे हैं। उन्होंने हमारे ऊपर अपार प्रेममयी कृपा की है। मेरे जीव! तुम अपने हृदय का सम्पूर्ण प्रेम

अपने प्राणेश्वर के लिये दे दो, अर्थात् अपना हृदय ही समर्पित कर दो।

तेरे केहेना होए सो केहे रे केहे, लाभ लेना होए सो ले रे ले।
तारतम केहेत है आ रे आ, हजार बार कहूं हां रे हां।।१५।।

मेरे जीव! यदि तुम्हें इस विषय में कुछ कहना हो, तो कह सकते हो। यदि तुम्हें प्रियतम के चरणों की सान्निध्यता का लाभ लेने की इच्छा हो, तो ले लो। ब्रह्मवाणी तो तुझे बारम्बार पुकार रही है कि अक्षरातीत के चरणों की छाँव तले आ जाओ। मैं भी हजार बार तुमसे यही बात कहूँगी कि अवश्य ही तुम्हें प्रियतम अक्षरातीत के चरणों में ही रहना चाहिए।

मायासों कीजो ना रे ना, नाबूद फेरा जिन खा रे खा।
धनी के चरने जा रे जा, ऐसा न पावे दा रे दा।।१६।।

रे जीव! तुम माया से पूर्णतया किनारा कर लो और व्यर्थ में आवागमन के चक्र में न भटको। तुझे पुनः ऐसा स्वर्णिम अवसर कभी भी नहीं मिलने वाला है। अतः तुम पूर्ण समर्पण के साथ प्रियतम अक्षरातीत के चरणों में चले जाओ।

जो चूक्या अबको ता रे ता, तो सिर में लगसी घा रे घा।
संसार में नहीं कछू सा रे सा, श्री धामधनी गुन गा रे गा।।१७।।

मेरे जीव! यदि तूने इस समय प्रियतम के चरणों में प्रेम करने के इस सुनहरे अवसर को गँवा दिया तो याद रख, तुम्हे प्रायश्चित के दण्ड की भयंकर चोट लगेगी अर्थात् तुझे हमेशा ही प्रायश्चित के आँसू बहाने पड़ेंगे। इस

मायावी संसार में कुछ भी सार तत्त्व नहीं है, इसलिये तू इसमें न फँस और एकमात्र प्रियतम के गुणानुवाद में ही लगा रह।

लीजो मूल को भाओ रे भाओ, जिन छोड़े अपनो चाहो रे चाहो।
प्रेमें पकड़ पिउ के पाए रे पाए, ज्यों सब कोई कहे तोको वाहे रे वाहे।।१८।।

परमधाम के प्रेम रस की भावना को तू अपने हृदय मन्दिर में बसा। तेरी चाहत में एकमात्र प्रियतम के चरण कमल ही होने चाहिए। तुझे उनसे पल भर के लिये भी अलग नहीं होना चाहिए। तुम अपने हृदय में प्रेम भरकर अपने आराध्य श्री राज जी के चरण कमलों को बसा लो, जिससे हर कोई तुम्हें शाबासी दे (वाह–वाह) कहे।

प्रकरण।।३५।। चौपाई ।।१०६०।।

इस प्रकरण में प्रियतम के प्रेम का मनोहारी चित्रण किया गया है।

गुन केते कहूँ मेरे पिउ जी, जो हमसों किए अनेक जी।
ए बुध इन आकार की, क्यों कहे जुबां विवेक जी।।१।।

मेरे प्राणेश्वर! आपने हमारे ऊपर जो अनेक प्रकार की प्रेमभरी कृपाओं की वर्षा की है, उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? मेरी बुद्धि भी इस नश्वर तन की है तथा मेरी जिह्वा एवं विवेक की शक्ति भी अति अल्प है। ऐसी अवस्था में आपकी अनन्त प्रेममयी कृपा का वर्णन कैसे हो सकेगा?

माया मांगी सो देखाए के, भानी मन की भ्रांत जी।
सब सुख दिए जगाए के, कई विध के द्रष्टांत जी।।२।।

परमधाम में हमने आपसे माया का जो खेल माँगा था, आपने उसे दिखाया, तथा हमारे मन में प्रेम के विषय में जो भी संशय थे, उन्हें दूर कर दिया। श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान होकर आपने हमें अनेक प्रकार के दृष्टान्त देकर जगाया तथा हमारी आत्मा को सभी प्रकार का सुख दिया।

भावार्थ– स्वलीला अद्वैत परमधाम में एकमात्र श्री राज जी का स्वरूप (मारिफत) ही सभी रूपों (हकीकत) में क्रीड़ा कर रहा है। इस प्रकार, उन्हीं का प्रेम सभी स्वरूपों में विद्यमान होकर लीलामग्न है। ऐसी अवस्था में यदि श्यामा जी और सखियाँ यह कहें कि श्री राज जी का प्रेम छोटा है और केवल हमारा ही बड़ा (श्रेष्ठ) है, तो यह उनकी भ्रान्ति ही कही जायेगी। यद्यपि परमधाम में भ्रान्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वलीला अद्वैत है ,

परन्तु प्रेम करने वाले के द्वारा अपने प्रेम को सर्वोपरि कहना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि अपने सर्वस्व को मिटाकर ही तो प्रेमी (आशिक) अपने प्रेमास्पद (मासूक) से प्रेम करता है। वस्तुतः परमधाम में सभी एक–दूसरे से अनन्त गुना प्रेम करते हैं और अपने प्रेम को ही बड़ा मानते हैं, किन्तु इस जागनी ब्रह्माण्ड में तारतम वाणी ने वास्तविक सत्य को सबके समक्ष प्रकट कर दिया है।

बृज के सुख इत आए के, हमको अलेखे दिए जी।
रास के सुख इत देएके, आप सरीखे किए जी।।३।।

आपने इस जागनी ब्रह्माण्ड में पहले तन से होने वाली लीला में व्रज लीला के अपार सुखों का अनुभव कराया। रास लीला के सुखों की प्रत्यक्ष अनुभूति कराकर आपने

हमारे मन में यह भावना भर दी कि हम आपके साथ लीला करने वाली ब्रह्मात्मायें हैं और आपकी अंगरूपा हैं। हममें–आपमें कोई भेद नहीं है।

कई विध विध के सुख धाम के, जो हमको दिए इत जी।
तारतम करके रोसनी, कई बिध करी प्राप्त जी।।४।।

आपने परमधाम के अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव भी इस संसार में कराया है। मेरे धाम हृदय में प्रत्यक्ष रूप (आवेश स्वरूप) से विराजमान होकर, आपने अनेकों प्रकार से (प्रसंगानुसार) तारतम वाणी का उजाला किया है।

सेहेजल सुख में झीलते, काहूं दुख ना सुनिया नाम जी।
सो माया में इत आए के, सुख अखंड देखाया धाम जी।।५।।

परमधाम में हम सभी आत्माओं ने कभी भी "दुःख" शब्द सुना तक नहीं था, सर्वदा ही अखण्ड सुख में विहार किया करती थीं। किन्तु आपका हमारे प्रति इतना प्रेम रहा है कि इस माया में आने पर भी आपने हमें परमधाम के अखण्ड सुखों का अनुभव कराया है।

कहे इंद्रावती अति उछरंगे, हमको लाड़ लड़ाए जी।

निरमल नेत्र किए जो आतम के, परदे दिए उड़ाए जी।।६।।

श्री इन्द्रावती जी अत्यधिक आनन्द में भरकर कहती हैं कि मेरे प्राणवल्लभ! आपने इस मायावी जगत में भी हमसे अपार प्रेम (लाड) किया है। आपने तारतम वाणी का अवतरण करके अज्ञानता के सभी बन्धनों को नष्ट कर दिया है तथा हमारे हृदय में प्रेम भरकर हमारी आत्मिक दृष्टि को अत्यन्त पवित्र बना दिया है।

आप पेहेचान कराई अपनी, लई अपने पास जगाए जी।

बड़ी बड़ाई दई आपथें, लई इंद्रावती कंठ लगाए जी।।७।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरे प्राण प्रियतम! आपने अपनी प्रेमभरी कृपादृष्टि से स्वयं ही अपनी पहचान करायी तथा तारतम वाणी के प्रकाश में मुझे जाग्रत कर अपने समीप कर लिया अर्थात् मेरे धाम हृदय में विराजमान हो गये। आपने मुझे गले लगाकर अटूट प्रेम दिया तथा इस खेल में मुझे अपने से भी बड़ी शोभा दे दी।

भावार्थ– परमधाम में चिद्घन स्वरूप श्री राज जी अपनी आनन्द स्वरूपा श्यामा जी एवं आत्माओं के साथ लीला करते हैं। किन्तु उनके सत अंग अक्षर ब्रह्म अपने अक्षर धाम में रहते हैं तथा जोश की शक्ति जिबरील एवं जाग्रत बुद्धि की शक्ति इस्राफील सत्स्वरूप में रहते हैं। परमधाम

के रंगमहल में जिबरील और इस्राफील तो जा नहीं सकते, स्वयं अक्षर ब्रह्म भी रंगमहल एवं अष्ट प्रहर की लीला में सहभागी नहीं बन सकते, किन्तु इस जागनी लीला में श्री महामति जी के धाम हृदय में पाँचों (श्री राज जी, श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म, जिबरील, एवं इस्राफील) एक साथ विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री महामति जी के धाम हृदय को परमधाम से भी अधिक एवं उनकी आत्मा को श्री राज जी ने अपने से भी बड़ी शोभा दे रखी है।

प्रकरण ।।३६।। चौपाई ।।१०६७।।

श्री प्रगटवानी

यह प्रकटवाणी श्री महामति जी के धाम हृदय से प्रकट होने वाली वह वाणी है, जिसमें परमधाम के प्रेम सम्वाद से लेकर व्रज, रास, जागनी के ब्रह्माण्ड, एवं बेहद में सभी प्राणियों की होने वाली अखण्ड मुक्ति का वर्णन किया गया है।

निजनाम श्री जी साहिब जी, अनादि अछरातीत।

सो तो अब जाहेर भए, सब विध वतन सहीत।।१।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि जो अनादि हैं और अक्षर से भी परे अक्षरातीत हैं, वे वैदिक परम्परा में अनन्त शोभा से सम्पन्न "श्री जी" हैं तथा कतेब परम्परा में सबके स्वामी "साहेब जी" हैं। वे ही मेरे धाम हृदय में परमधाम की सम्पूर्ण निधियों (ज्ञान, प्रेम, तथा कृपा

आदि) के साथ प्रकट हुए हैं।

"निजनाम श्री कृष्ण जी" के सम्बन्ध में–

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि जो अनादि हैं एवं अक्षर से भी परे अक्षरातीत हैं, जिन्होंने व्रज और रास में श्री कृष्ण नाम से लीला की है, अब वे ही मेरे धाम हृदय में परमधाम की सम्पूर्ण निधियों (ज्ञान, प्रेम, कृपा आदि) के साथ प्रकट हुए हैं।

श्री स्यामाजी वर सत्य हैं, सदा सत सुख के दातार।
विनती एक जो वल्लभा, मो अंगना की अविधार।।२।।

श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि श्यामा जी के प्रियतम श्री राज जी परम सत्य हैं और सर्वदा ही अखण्ड सुख को देने वाले हैं। आपकी प्रियतमा मुझ इन्द्रावती की यही प्रार्थना है कि मुझे अपनी अंगना (अर्धांगिनी) मानकर

स्वीकार (ग्रहण) कीजिए।

वानी मेरे पिउ की, न्यारी जो संसार।

निराकार के पार थें, तिन पार के भी पार।।३।।

आपकी यह तारतम वाणी निराकार के परे बेहद, और उससे भी परे अक्षर, तथा सबसे परे विराजमान अक्षरातीत का वर्णन करती है। यह संसार के ज्ञान से पूर्णतया अलग है।

अंग उत्कण्ठा उपजी, मेरे करना एह विचार।

ए सत वानी मथ के, लेऊँ जो इनको सार।।४।।

मेरे मन में यह प्रबल चाहना पैदा हुई है तथा मैंने इस सम्बन्ध में गहन विचार करके यह निर्णय भी ले लिया है कि मैं परमधाम की इस ब्रह्मवाणी का मन्थन (चिन्तन–

मनन) करके इसके सार तत्त्व को ग्रहण करूँ।

इन सार में कई सत सुख, सो मैं निरने करूँ निरधार।
ए सुख देऊँ ब्रह्मसृष्ट को, तो मैं अंगना नार।।५।।

ब्रह्मवाणी के इस सार तत्त्व में परमधाम के कई प्रकार (प्रेम, ज्ञान, शोभा, आनन्द आदि) के सुख छिपे हुए हैं, इसलिये मैंने दृढ़तापूर्वक यह निर्णय किया है कि मैं परमधाम की ब्रह्मात्मा कहलाने की अधिकारिणी तभी हूँ, यदि मैं यह सुख अन्य ब्रह्मसृष्टियों तक भी पहुँचा देती हूँ।

जब ए सुख अंग में आवहीं, तब छूट जाएं विकार।
आयो आनन्द अखण्ड घर को, श्री अछरातीत भरतार।।६।।

जब परमधाम के सुखों का अनुभव ब्रह्मसृष्टियों को अपने हृदय में होने लगता है, तब माया के विकार स्वतः

ही दूर हो जाते हैं तथा प्राणेश्वर अक्षरातीत के अखण्ड परमधाम के अनुपम आनन्द की वर्षा होने लगती हैं।

अब लीला हम जाहेर करें, ज्यों सुख सैयां हिरदे धरें।
पीछे सुख होसी सबन, पसरसी चौदे भवन।।७।।

अब मैं ब्रह्मसृष्टियों के साथ होने वाली अक्षरातीत की उस लीला को प्रकट कर रही हूँ, जिसे सुनकर आत्मायें अपने हृदय में अपार सुख का अनुभव करेंगी। बाद में तो इस लीला का ज्ञान चौदह लोक के इस ब्रह्माण्ड में फैल जायेगा तथा सभी प्राणियों को अखण्ड मुक्ति का सुख प्राप्त होगा।

अब सुनियो ब्रह्मसृष्ट विचार, जो कोई निज वतनी सिरदार।
अपनो धनी श्री स्यामा स्याम, अपना वासा है निज धाम।।८।।

परमधाम के रहने वाले प्रमुख सुन्दरसाथ जी! अब आप मेरी यह बात सुनिये। हम सभी परमधाम के वासी हैं तथा हमारे प्रियतम युगल स्वरूप श्री राजश्यामा जी हैं।

सोई अखंड अछरातीत घर, नित्य बैकुंठ मिने अछर।
अब ए गुझ करूं प्रकास, ब्रह्मानंद ब्रह्मसृष्ट विलास।।९।।

उसी स्वलीला अद्वैत अखण्ड परमधाम में सच्चिदानन्द अक्षरातीत का निवास है तथा अक्षर धाम (नित्य वैकुण्ठ) में अक्षर ब्रह्म विराजमान हैं। अब मैं परब्रह्म की आनन्द स्वरूपा श्यामा जी एवं सखियों की, अक्षरातीत के साथ होने वाली, गुह्य प्रेममयी लीला को उजागर कर रही हूँ।

ए बानी चित दे सुनियो साथ, कृपा करके कहें प्राणनाथ।

ए किव कर जिन जानो मन, श्री धनीजी ल्याए धामथें वचन।।१०।।

हे साथ जी! मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर प्राणेश्वर अक्षरातीत अपार कृपा करके इस दिव्य वाणी को कह रहे हैं, इसलिए आप सभी एकाग्र चित्त से इसका श्रवण करें। आप अपने मन में ऐसा कभी न सोचें कि यह एक काव्य ग्रन्थ है। स्वयं अक्षरातीत ही परमधाम से इसके अमृतमयी वचनों को लेकर प्रकट हुए हैं।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई के दूसरे चरण में "प्राणनाथ" शब्द का प्रयोग यहीं दर्शा रहा है कि वे कोई कवि, गुरु, शिष्य, सन्त, या महापुरूष नहीं है, बल्कि सच्चिदानन्द परब्रह्म का आवेश स्वरूप ही इस जागनी ब्रह्माण्ड में श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप में लीला कर रहा है।

सो केहेती हूं प्रगट कर, पट टालूं आड़ा अंतर।

तेज तारतम जोत प्रकास, करूं अंधेरी सबको नास।।११।।

अब मैं उस अनुपम लीला को इस तारतम वाणी के द्वारा प्रकट कर रही हूँ। सुन्दरसाथ तथा धाम धनी के मध्य जो माया का आवरण (पर्दा) आ गया है, उसे मैं इसके द्वारा हटा देती हूँ। तारतम ज्ञान की निर्मल ज्योति का प्रकाश फैलाकर मैं सबके हृदय में विद्यमान अज्ञानता के अन्धकार को नष्ट कर देती हूँ।

अब खेल उपजे के कहूं कारन, ए दोऊ इछा भई उतपन।

बिना कारन कारज नहीं होए, सो कहूं याके कारन दोए।।१२।।

अब माया के इस खेल के उत्पन्न होने के कारण पर मैं प्रकाश डालती हूँ। अक्षर ब्रह्म तथा आनन्द स्वरूपा सखियों में एक–दूसरे की लीला देखने की इच्छा हुई।

इन दोनों की इच्छा ही इस मायावी खेल का कारण बनी। विशेष तथ्य यह है कि बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता।

भावार्थ– अक्षर ब्रह्म अनादि हैं, इसलिये उनकी लीला भी अनादि काल से चल रही है तथा अनन्त काल तक चलती रहेगी। इस चौपाई में माया का खेल बनने का जो कारण दिया गया है, वह वर्तमान सृष्टि से सम्बन्धित है। इसी प्रकरण में यह प्रसंग दर्शाया गया है कि सखियों के अन्दर माया का खेल देखने की इच्छा उत्पन्न होने से पहले भी अक्षर ब्रह्म करोड़ों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति एवं लय किया करते थे।

ए उपजाई हमारे धनी, सो तो बातें है अति घनी।
नेक तामें करूं रोसन, संसे भान देऊं सबन।।१३।।

हम दोनों के अन्दर इस प्रकार की इच्छा भी श्री राज जी ने ही उत्पन्न की। यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें हैं, किन्तु उनमें से कुछ बातों को मैं उजागर कर रही हूँ, जिससे सभी के संशय समाप्त हो जायें।

अब सुनियो मूल वचन प्रकार, जब नहीं उपज्यो मोह अहंकार।
नाहीं निराकार नाहीं सुन्य, ना निरगुन ना निरंजन।।१४।।

हे साथ जी! अब आप परमधाम में घटित होने वाली मूल बातों की वास्तविकता को जानिये। यह उस समय का प्रसंग है, जब मोह तत्त्व या अहंकार की उत्पत्ति नहीं हुई थी। आकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, तथा अवयव से रहित शून्य भी नहीं था।

भावार्थ– मोह तत्त्व, निराकार, शून्य, निर्गुण, एवं निरञ्जन आदि सभी शब्द एकार्थवाची हैं। कलस

हिन्दुस्तानी २४/१९ में कहा गया है–

मोह अग्यान भरमना, करम काल और सुंन।

ये नाम सारे नींद के, निराकार निरगुन।।

आकार से रहित पदार्थ निराकार कहलाता है। पञ्च सूक्ष्मभूत ही पाँच तत्वों के गुण हैं– जैसे– शब्द–आकाश का, स्पर्श–वायु का, रूप–अग्नि का, रस–जल का, एवं गन्ध–पृथ्वी का गुण है। इनका अनुभव न होने के कारण मोह तत्त्व को निर्गुण भी कहा जाता है। हाथ–पैर आदि अवयव न होने से इसे ही निरञ्जन भी कहते हैं।

ना ईस्वर ना मूल प्रकृती, ता दिन की कहूँ आपा बीती।

निज लीला ब्रह्म बाल चरित्र, जाकी इछा मूल प्रकृत।।१५।।

मैं उस समय की आपबीती (अपने ऊपर घटित होने वाली) बात बताती हूँ, जब न तो आदिनारायण की

उत्पत्ति हुई थी और न मूल प्रकृति की। अक्षर ब्रह्म की लीला उस बालक के समान है, जो ब्रह्माण्ड रूपी खिलौनों को बनाता है और लय करता है। उनके अन्दर सृष्टि रचना की जो इच्छा होती है, उसे ही मूल प्रकृति कहते हैं।

नैन की पाओ पल में इसारत, कई कोट ब्रह्मांड उपजत खपत।
इत खेल पैदा इन रवेस, त्रैलोकी ब्रह्मा विष्णु महेस।।१६।।

अक्षर ब्रह्म के नेत्रों के संकेत मात्र से चौथाई पल में ही करोड़ों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और लय भी हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव के वर्चस्व वाले ब्रह्माण्डों का खेल उत्पन्न होता रहता है तथा लय होता रहता है।

भावार्थ– "नेत्रों के संकेत" का कथन यही दर्शा रहा है

कि अक्षर ब्रह्म अपने संकल्प मात्र से ही करोड़ों ब्रह्माण्डों वाली इस सृष्टि की रचना करने में समर्थ हैं। उनकी सृष्टि करने की इच्छा को ही लोक भाषा में स्वप्न की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये।

१४ लोकों को संक्षिप्त रूप से तीन लोकों (पृथ्वी, स्वर्ग, और वैकुण्ठ) में बाँटा गया है। ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिव का इनमें वर्चस्व होता है, किन्तु वास्तविक स्वामी तो आदिनारायण होते हैं जो अव्याकृत के महाकारण में स्थित पुरुष (सुमंगला पुरुष) के सांकल्पिक प्रतिबिम्बित रूप होते हैं।

कई बिध खेलें यों प्रकृत, आप अपनी इछासों खेलत।
या समें श्री बैकुंठ नाथ, इछा दरसन करने साथ।।१७।।

इस प्रकार अक्षर ब्रह्म अपनी प्रकृति के द्वारा करोड़ों

ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, पालन, एवं प्रलय रूप में अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं। ऐसा वह अपनी स्वाभाविक इच्छा से करते हैं। एक समय अक्षर ब्रह्म के मन में ब्रह्मसृष्टियों के दर्शन करने की इच्छा हुई।

भावार्थ– वेदान्त दर्शन के दूसरे सूत्र में कहा गया है कि "जन्मादियस्य यतः" अर्थात् जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, एवं प्रलय हो, वही ब्रह्म है। यही अक्षर ब्रह्म की अनेक प्रकार की क्रीड़ा है। जब "मेहर का दरिया दिल में लिया, तो रूहों के दिल में खेल देखने का ख्याल उपजा।" जब श्री राज जी ने आत्माओं एवं अक्षर ब्रह्म को अपने पूर्ण स्वरूप की पहचान देने की इच्छा की, तभी अक्षर ब्रह्म एवं सखियों के मन में एक–दूसरे की लीला को देखने की इच्छा हुई। यही इस खेल का महाकारण एवं कारण है।

अछर मन उपजी ए आस, देखों धनीजी को प्रेम विलास।
तब सखियों मन उपजी एह, खेल देखें अछर का जेह।।१८।।

मूल स्वरूप की प्रेरणा से अक्षर ब्रह्म के मन में यह इच्छा हुई कि अक्षरातीत अपनी अंगनाओं से प्रेम की जो लीला करते हैं, उसे मैं भी देखूँ। इसी प्रकार सखियों के भी मन में यह इच्छा हुई कि अक्षर ब्रह्म करोड़ों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और लय का जो खेल करते हैं, उसे हम देखें।

तब हम जाए पियासों कही, खेल अछर का देखे सही।
जब एह बात पिया ने सुनी, तब बरजे हांसी करने घनी।।१९।।

तब हमने अपने प्रियतम से यह इच्छा व्यक्त की कि हम अक्षर ब्रह्म की लीला को देखना चाहती हैं। जब धाम धनी ने हमारे मुख से इस प्रकार की बातें सुनीं, तो

उन्होंने हमारे ऊपर बहुत अधिक हँसी करने की इच्छा से मना किया।

मने किए हमको तीन बेर, तब हम मांग्या फेर फेर फेर।

धनी कहें घर की ना रेहेसी सुध, भूलसी आप ना रेहेसी ए बुध।।२०।।

श्री राज जी ने हमें माया का खेल देखने से तीन बार मना किया, किन्तु हमारे ऊपर उनके इस निर्देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और हमने बारम्बार (३ बार) माया का ही खेल देखने की इच्छा व्यक्त की। धाम धनी ने हमें बहुत प्रेम से समझाया कि माया के खेल में जाते ही तुम्हें परमधाम की नाम मात्र भी सुधि नहीं रहेगी। वहाँ जाते ही तुम स्वयं को भूल जाओगी। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास यहाँ की निज बुद्धि भी नहीं रहेगी।

तो मने करत हैं हम, हमको भी भूलोगे तुम।

तब हम फेर धनीसों कह्या, कहा करसी हमको माया।।२१।।

मैं तुम्हें बारम्बार इसलिये मना कर रहा हूँ कि उस मायावी संसार में जाकर तुम मुझे भूल जाओगी। यह सुनकर हम सबने धाम धनी से पुनः आग्रह किया कि यह माया भला हमारा क्या कर लेगी?

तब हम मिल के कियो विचार, कह्या एक दूजी को हूजो हुसियार।

खेल देखन की हम पियासों कही, तब हम दोऊ पर अग्या भई।।२२।।

तब हम सभी सखियों ने आपस में मिलकर इस सम्बन्ध में विचार किया कि माया से अपनी सुरक्षा कैसे करें? हमने एक–दूसरे को माया से सावधान रहने के लिये कहा। इसके पश्चात् हमने प्रियतम से माया का खेल दिखाने की अपनी रट लगायी (आग्रह किया)। तब धाम

धनी की ओर से हमें तथा अक्षर ब्रह्म को अपनी इच्छा को पूर्ण करने का आदेश मिला, अर्थात् हमारी सुरताओं के इस खेल में आने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

ए कहे दोऊ भिंन भिंन, खेल देखन को दोऊ कारन।
उपज्यो मोह सुरत संचरी, खेल हुआ माया विस्तरी।।२३।।

इस प्रकार इस मायावी खेल में हमारे आने के ये दो अलग–अलग प्रकार के कारण बताये गये हैं, अर्थात् हमारी इच्छा थी कि हम अक्षर ब्रह्म की माया की लीला देखें तथा अक्षर ब्रह्म की इच्छा थी कि वे हमारी प्रेममयी लीला को देखें। अन्ततोगत्वा मोह तत्त्व की उत्पत्ति हुई, जिसमें सबलिक (अव्याकृत के महाकारण) सुरत ने प्रवेश किया। इस प्रकार इस मायावी खेल का विस्तार हुआ।

भावार्थ– अव्याकृत का महाकारण ही सबलिक का स्थूल कहलाता है। अक्षर ब्रह्म के मूल स्वरूप में सृष्टि रचना का मात्र संकल्प होता है, जो उनके अहम् के स्वरूप सत्स्वरूप में प्रकट होता है। यह संकल्प बुद्धि (केवल) से होते हुए चित्त स्वरूप सबलिक ब्रह्म के द्वारा क्रियान्वित होता है। सबलिक के स्थूल में स्थित सुमंगला पुरुष समस्त सृष्टि रचना एवं प्रलय में अग्रणी भूमिका निभाता है। सुमंगला शक्ति से मोह तत्त्व उत्पन्न होता है, जिससे पुरुष का मन संकल्प रूप से प्रतिबिम्बित होता है। इसे ही स्वप्न देखना या विलास करना कहते हैं, जो आगे की चौपाई में दिया गया है।

इत अछर को विलस्यो मन, पांच तत्व चौदे भवन।

यामें महाविष्णु मन मन थें त्रैगुन, ताथें थिर चर सब उतपन।।२४।।

इस मोहसागर में अक्षर ब्रह्म के मन (अव्याकृत के महाकारण में स्थित पुरुष) ने विलास किया, अर्थात् स्वयं को अपने वास्तविक जैसे प्रतिबिम्बित् रूप में देखकर सृष्टि रचना का संकल्प (एकोऽहम् बहुस्याम) किया। मोहसागर में अक्षर ब्रह्म का यह प्रतिबिम्बित् मन महाविष्णु (आदिनारायण) कहलाया। इन्हीं आदिनारायण के संकल्प से मोहसागर (कारण प्रकृति) में विक्षोभ हुआ, जिससे उसके तीनों गुण सत्व, रज, और तम् जो पहले अव्यक्त अवस्था में थे, व्यक्त हो गये। इसके पश्चात् पाँच तत्वों वाले चौदह लोक के इस ब्रह्माण्ड तथा चर-अचर सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई।

भावार्थ- सृष्टि रचना में चौदह लोक का केवल हमारा ब्रह्माण्ड ही नहीं बना, अपितु असंख्य ब्रह्माण्ड बने, जबकि सारी सृष्टि में आदिनारायण एक ही होते हैं।

या बिध उपज्यो सब संसार, देखलावने हमको विस्तार।

जो अग्या भई हम पर, तब हम जान्या गोकुल घर।।२५।।

इस प्रकार हमें माया दिखाने के लिये इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई। संसार के बन जाने के पश्चात् धाम धनी के आदेशानुसार हमारी सुरता इस खेल में आयी और हमें ऐसा लगा कि जैसे हम गोकुल में गोपियों के रूप में प्रकट हो गयी हैं।

ज्यों नींद में देखिए सुपन, यों उपजे हम बृज वधू जन।

उपजत ही मन आसा घनी, हम कब मिलसी अपने धनी।।२६।।

जिस प्रकार नींद में सपना देखा जाता है, उसी प्रकार मूल मिलावे में बैठे–बैठे हमने देखा कि हम व्रज मण्डल में गोपियाँ बन गयी हैं। इस संसार में आते ही हमारे मन में यह तीव्र इच्छा हुई कि हम अपने प्राण प्रियतम से

शीघ्र–प्रतिशीघ्र (कब) मिलें।

जेती कोई हैं ब्रह्मसृष्ट, प्रेम पूरन धनी पर द्रष्ट।

कंस के बंध वसुदेव देवकी, इत आई सुरत चत्रभुज की।।२७।।

परमधाम की जो भी ब्रह्मसृष्टि होती है, वह प्रेम से परिपूर्ण होती है तथा उसकी अन्तर्दृष्टि मात्र अपने प्रियतम के प्रति ही केन्द्रित होती है। उस समय कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागार में डाल रखा था। वहाँ पर भगवान विष्णु प्रकट हुए।

भावार्थ– पौराणिक मान्यता में विष्णु भगवान को चार भुजा वाला अवश्य कहा जाता है, किन्तु वैदिक दृष्टि से यह आलंकारिक वर्णन है। शंख ज्ञान का प्रतीक है, चक्र संगठन का, गदा शक्ति का, एवं पद्म ऐश्वर्य का प्रतीक है। जो कार्य दो भुजाओं से हो सकता है, उसके लिये चार

भुजाओं की क्या आवश्यक्ता है? यह कथन वैसे ही है, जैसे ब्रह्मा जी को चतुर्मुखी तथा रावण को दशानन कहना।

उपरोक्त चौपाई में यह संशय उत्पन्न होता है कि केवल अखण्ड के स्वरूपों के लिये "सुरत" शब्द का प्रयोग होता है, जैसे– "उपज्यो मोह सुरत संचरी", "सो सुरत धनी को ले आवेस", तथा "यामें सुरत आई श्यामा जी की सार", किन्तु चौपाई २७ एवं २८ में भगवान विष्णु के लिये सुरत शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है? यदि यह कहा जाये कि भगवान विष्णु अपनी अंश कला से अवतार लेते हैं, तो उसका क्या आशय है? क्या उनका जीव खण्डित होकर अंश रूप में दूसरे जीव के रूप में अवतार लेता है? यदि भगवान विष्णु २४ अवतार लेते हैं तो क्या अपने जीव के २४ भाग करेंगे या २४ बार

वैकुण्ठ छोड़कर गर्भवास का कष्ट सहेंगे? क्या इस प्रकार की मान्यता के लिये वेद, उपनिषद, तथा दर्शन ग्रन्थ स्वीकृति देते हैं? २८वीं चौपाई में कहा गया है कि "पीछे फिरे केहे के हकीकत", तो जब भगवान विष्णु वैकुण्ठ चले गये, तो गर्भ में जीव के रूप में अब तक कौन रह रहा था?

संक्षिप्त रूप में इसका समाधान इस प्रकार है–

स्वप्न में मन द्रष्टा की प्रतिकृति बना लेता है , जो पूर्णतया वैसा ही दिखता है और बोलता है। यदि जीव की चैतन्यता पाकर जड़ मन इस प्रकार के चमत्कारिक कार्य कर सकता है, तो शुद्ध जीव अपने योगैश्वर्य से एक साथ कई तन भी धारण कर सकता है, जो उसके जैसे ही दिखायी देते हैं तथा लोक व्यवहार के कार्य भी कर लेते हैं।

अव्याकृत का प्रतिबिम्बित सांकल्पिक चेतन आदिनारायण है और आदिनारायण के प्रतिबिम्बित सांकल्पिक चेतन के रूप में संसार के अन्य सभी जीव, किन्तु यह कहना कि एक ही जीव कई टुकड़ों में बँटकर अलग–अलग शरीरों में अंश रूप से अवतार लेता है, उचित नहीं है। इससे गीता के सिद्धान्त "न एनम् छिन्दन्ति शस्त्राणि" का खण्डन होता है। परात्म की सुरता परात्म का प्रतिबिम्ब लेकर, आत्मा के रूप में, जीव पर विराजमान होकर इस खेल को देखती है। यही स्थिति श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म, एवं अव्याकृत के महाकारण की सुरत के लिये भी है।

यदि जीव भी गहन समाधि के द्वारा आत्मस्थ होकर अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाये, तो वह भी स्वयं को १६ सूर्यों के प्रकाश के बराबर तेजोमयी स्वरूप में

देखता है। उस समय वह "ब्रह्मविदो ब्रह्मेव भवति" के कथनानुसार स्वयं को आदिनारायण की प्रतिकृति ही मानने लगता है। किन्तु यदि वह ब्रह्मज्ञान का प्रकाश पाकर प्रकृति से परे हो जाये तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले, तो क्या वह स्वयं को ब्रह्मरूप नहीं मानने लगेगा?

इसी प्रकार यदि विष्णु भगवान अपने योगैश्वर्य से किसी जीव पर इतनी कृपा कर दें कि वह जीव भी स्वयं को विष्णु के भाव में मानने लगे तथा उनकी कुछ कलाओं को भी प्राप्त कर ले, तो इसमें क्या आश्चर्य?

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महाभारत द्रोण पर्व अध्याय श्लोक ८६,८७ में देखने को मिलता है, जब युद्ध से निराश होकर भागते हुए अश्वत्थामा को वेद व्यास जी समझाते हैं कि तुम जिस अर्जुन –कृष्ण को सामान्य

मानव समझकर अपने दिव्यास्त्रों से मारना चाहते थे, वह असम्भव है क्योंकि ये पूर्व जन्म के नर–नारायण ऋषि हैं।

जब एक पिता की सन्तान रूप एवं गुणों में अपने पिता की प्रतिकृति बन जाती है, जैसे कि प्रद्युम्न हुबहू श्री कृष्ण जी जैसे ही दिखायी देते थे तो भगवान विष्णु के द्वारा किसी पवित्र जीव को अपने गुणों तथा ऐश्वर्य से परिपूरित कर देना क्या सम्भव नहीं है? इस सम्बन्ध में वाल्मिकि रामायण का यह कथन देखने योग्य है–

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रिय दर्शिनः।

कालाग्नि सदृशो क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः।।

वस्तुतः यही अवतार है, अर्थात् जब भगवान विष्णु के गुण तथा ऐश्वर्य किसी पवित्र जीव में इस प्रकार समाहित हो जाते हैं कि दोनों समान प्रतीत होने लगें तो उसे

अवतार कहा जाता है। इसी सन्दर्भ में देखा जाये तो आदि शंकराचार्य को भी लोग शंकर जी का अवतार मानते हैं। वस्तुतः साक्षात् शंकर जी का जीव शंकराचार्य जी के रूप में अवतरित नहीं हुआ, अपितु उनमें भगवान शिव के कुछ गुणों का समावेश माना जा सकता है।

यही कारण है कि परशुराम जी को १० कला वाला, भगवान राम को १२ कला वाला, तथा भगवान श्री कृष्ण को १६ कला सम्पन्न अवतार माना जाता है, जो यह दर्शाता है कि इनमें भगवान विष्णु के इतने गुणों का समावेश हो गया था।

आदिनारायण की चेतना का अन्तःकरण में पड़ा हुआ प्रतिभास ही जीव कहलाता है। यह भला कैसे सम्भव है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड के विष्णु अपने अंश से स्वयं जीवों को उत्पन्न करें तथा पुनः अपने में लीन कर लिया करें।

जब विष्णु स्वयं जीव हैं, तो उन्हें नया जीव उत्पन्न करने का क्या अधिकार है?

यदि यह संशय किया जाये कि इसी प्रकास हिन्दुस्तानी की ६२वीं चौपाई में कहा गया है कि "तब बैकुण्ठ में विष्णु ना कहे, इत सोले कला संपूरन भए"? इसकी साक्षी में शिशुपाल की ज्योति का श्री कृष्ण जी में समा जाना भी यही सिद्ध करता है कि भगवान विष्णु ने ही जन्म लिया था।

उसके समाधान में संक्षिप्त रूप से यही कहा जा सकता है कि जब जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया, तभी तो श्री कृष्ण जी विष्णु रूप हुए। इसके पहले कोई न कोई जीव उस तन में विराजमान था, क्योंकि रास बिहारी की शक्ति तो राजसी वस्त्र धारण करते ही चली गयी थी। वस्तुतः अंशवाद और विलीनवाद का सिद्धान्त

केवल वैष्णवों का है, वेद–शास्त्रों का नहीं। श्री कृष्ण जी की त्रिधा लीला को दर्शाने के लिये भागवत में वर्णित वैष्णवों के इस सिद्धान्त को घटनाक्रम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे अक्षरातीत के कथन के रूप में नहीं मानना चाहिए।

सुरत विष्णु की चत्रभुज जोए, दियो दरसन वसुदेव को सोए।
पीछे फिरे केहेके हकीकत, अब दोए भुजा की कहूँ विगत।।२८।।

भगवान विष्णु की सुरत ने कारागार में आकर वसुदेव एवं देवकी को दर्शन दिया, तथा उन्हें पूरी बात समझा दी कि किस प्रकार जन्म लेने वाले बालक को नन्द के घर पहुँचा देना है, तथा उनकी नवजात कन्या को लाकर बालक का स्थान पर रख देना है। यह कहकर वे वापस वैकुण्ठ लौट गये। अब दो भुजा वाले स्वरूप की

वास्तविकता बताती हूँ।

मूल सुरत अछर की जेह, जिन चाह्या देखों प्रेम सनेह।
सो सुरत धनी को ले आवेस, नंद घर कियो प्रवेस।।२९।।

अक्षर ब्रह्म की आत्मा ने परमधाम में सखियों की धाम धनी के साथ होने वाली प्रेममयी लीला को देखने की इच्छा की थी। इसलिये उनकी आत्मा ने श्री राज जी का आवेश लेकर नन्द जी के घर गये हुए बालक (श्री कृष्ण) के तन में प्रवेश किया।

दो भुजा सरूप जो स्याम, आतम अछर जोस धनी धाम।
ए खेल देख्या सैयां सबन, हम खेले धनी भेले आनंद घन।।३०।।

यह जो दो भुजा वाला श्री कृष्ण जी का स्वरूप था, इसमें अक्षर ब्रह्म की आत्मा थी तथा श्री राज जी का

जोश था। सभी सखियों ने व्रज में ११ वर्ष ५२ दिन तक अपने प्राणप्रियतम के साथ प्रेम एवं आनन्द की लीला की तथा माया का खेल देखा।

भावार्थ– चौपाई ३९ में अक्षर ब्रह्म की आत्मा के साथ आवेश के होने का वर्णन है, जबकि चौपाई ३० में जोश का। इसका आशय यह नहीं समझना चाहिये कि आवेश और जोश भी प्रेम–इश्क या आशा–उमेद की तरह एक ही भाव को व्यक्त करने वाले हैं। इतना अवश्य है कि आवेश को अरबी में जोश कहा जाता है, किन्तु वह जोश जिसे जिबरील कहा जाता है, वह राज जी का आवेश नहीं हो सकता। वह अक्षर ब्रह्म का आवेश है।

जहाँ पर अक्षरातीत का आवेश होगा, वहाँ अक्षर ब्रह्म का आवेश (जिबरील) अवश्य होगा, किन्तु जहाँ (ईश्वरीय सृष्टि आदि) पर अक्षर ब्रह्म का आवेश

(जिबरील) होगा, वहाँ धाम धनी के आवेश का होना अनिवार्य नहीं है। जैसे अक्षर ब्रह्म की सुरता होने से कबीर, शुकदेव, शिव आदि पर मात्र अक्षर ब्रह्म का ही आवेश आयेगा, अक्षरातीत का नहीं।

बाल चरित्र लीला जोबन, कई विध सनेह किए सैयन।
कई लिए प्रेम विलास जो सुख, सो केते कहूं या मुख।।३१।।

व्रज मण्डल में गोपियों के तनों में विद्यमान आत्माओं ने श्री कृष्ण जी की बाल्यावस्था में भी, किशोरावस्था के भावों से युक्त होकर, अनेक प्रकार से प्रेम किया। इस प्रकार सखियों ने व्रज में प्रेममयी लीलाओं का जो सुख लिया, उसका वर्णन इस मुख से नहीं हो सकता।

ए काल माया में विलास जो करे, सो पूरी नींद में सब विसरे।
पूरी नींद को जो सुपन, काल माया नाम धराया तिन।।३२।।

इस नश्वर संसार के व्रज मण्डल में प्रेममयी लीला का आनन्द तो सबको अवश्य मिला, किन्तु सभी की अवस्था नींद जैसी थी, जिसमें उन्होंने स्वयं को, धाम धनी को, तथा निज घर को भुला रखा था। आदिनारायण की पूर्ण निद्रा में यह स्वप्न का जो ब्रह्माण्ड बना, उसे कालमाया का ब्रह्माण्ड कहते हैं, क्योंकि नींद के समाप्त होते ही यह लय को प्राप्त हो जाता है।

तब धाम धनिऐं कियो विचार, ए दोऊ मगन हुए खेलें नर नार।
मूल वचन की नाहीं सुध, ए दोऊ खेलें सुपने की बुध।।३३।।

तब धाम धनी ने अपने मन में विचार किया कि अक्षर ब्रह्म और श्यामा जी सहित सभी सखियाँ खेल में मग्न हो

गये हैं। ये दोनों स्वप्न की बुद्धि वाले ब्रह्माण्ड में हैं, इसलिये परमधाम के मूल वचनों की इन्हें स्मृति (याद) नहीं है। इसी का परिणाम है कि ये दोनों माया के खेल में मग्न हो गये हैं।

भावार्थ– अक्षर ब्रह्म और सखियों का इस मायावी जगत में आगमन सुरता के रूप में हुआ है, जो जीव के ऊपर बैठकर खेल को द्रष्टा के रूप में देख रहे हैं। जीव की बुद्धि स्वप्न की है, इसलिये अक्षर ब्रह्म और आत्माओं को स्वप्न की बुद्धि वाले जीव की लीला में खो जाने का दोष झेलना पड़ता है। यदि अक्षर ब्रह्म और आत्मायें सुरता से न आकर अपने आवेश स्वरूप से आयें, तो उनके ऊपर माया की नींद या विकारों का कोई भी दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा।

एह बात धनी चितसों ल्याए, आधी नींद दई उड़ाए।

अग्यारे बरस और बावन दिन, ता पीछे पोहोंचे वृन्दावन।।३४।।

अपने हृदय में इस प्रकार का विचार करके धाम धनी, ११ वर्ष और ५२ दिन की लीला के पश्चात्, सबको लेकर योगमाया के नित्य वृन्दावन में पहुँचे जहाँ आधी नींद और आधी जाग्रति थी। इस प्रकार सखियों के योगमाया में जाते ही माया की आधी नींद समाप्त हो गयी, अर्थात् श्री राज जी से अपने मूल सम्बन्ध का तो पता चल गया, किन्तु मूल घर (परमधाम) का पता नहीं चल पाया।

तहाँ जाए के बेन बजाई, सखियां सबे लई बुलाई।

तामसियां राजसियां चलीं, स्वांतसियां सरीर छोड़ के मिलीं।।३५।।

प्रियतम ने योगमाया के ब्रह्माण्ड में जाकर अति मोहक

स्वरों में बाँसुरी बजायी। फलतः सभी सखियाँ नित्य वृन्दावन में पहुँच गयीं। तामसी तथा राजसी सखियों ने अपना शरीर तुरन्त छोड़ दिया और बेहद मण्डल में पहुँच गयीं, किन्तु सात्विकी सखियों को परिवार की मर्यादा की चिन्ता करने के कारण देर हो गयी, परिणाम स्वरूप उन्हें विरह में तड़प–तड़पकर अपना शरीर छोड़ना पड़ा। इसके बाद ही वे नित्य वृन्दावन पहुँच सकी।

और कुमारका बृज वधू संग जेह, सुरत सबे अछर की एह।
जो व्रत करके मिली संग स्याम, मूल अंग याके नाहीं धाम।।३६।।

अक्षर ब्रह्म के द्वारा खेल देखने के लिये धारण की गयी सुरतायें ही कुमारिका सखियाँ हैं, जो गोपियों के साथ रहा करती थीं। अक्षर धाम या बेहद मण्डल में इनके मूल तन नहीं हैं। इन्होंने श्री कृष्ण जी को पति रूप में पाने के

लिये व्रत किया। फलतः इन्हें भी महारास का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बेन सुनके चली कुमार, भव सागर यों उतरी पार।

इनकी सुरत मिली सब सखियों मांहें, अंग याके रास में नांहें।।३७।।

बाँसुरी की मनमोहक ध्वनि सुनते ही २४००० कुमारिका सखियों ने भी अपना तन छोड़ दिया और इस संसार को छोड़कर नित्य वृन्दावन में पहुँच गयीं। इनके मूल तन रास में नहीं थे, इसलिये ब्रह्मसृष्टियों के द्वारा धारण किये गये एक–एक तन में ही दो–दो कुमारिकाओं की सुरता विराजमान हो गयी।

या विध मुक्त इनों की भई, कुमारका सखियां जो कही।

ए जो अग्यारे बरस लो लीला करी, काल माया तितही परहरी।।३८।।

इस प्रकार कुमारिका सखियाँ इस भवसागर से पार हो गयीं। प्रियतम अक्षरातीत ने ११ वर्ष ५२ दिन तक व्रज में लीला की थी। उनके तथा सखियों के इस ब्रह्माण्ड से परे बेहद में पहुँचते ही कालमाया के इस ब्रह्माण्ड का प्रलय हो गया।

भावार्थ– विशेष ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि रास में सखियों के जाने के पश्चात् केवल इस ब्रह्माण्ड का ही प्रलय हुआ, कालमाया के समस्त ब्रह्माण्डों का नहीं।

कछू नींद कछू जाग्रत भए, जोग माया के सिनगार जो कहे।
जोगमाया में खेले जो रास, आनन्द मन आनी उलास।।३९।।

सखियों ने योगमाया के जिन तनों को धारण किया था, उनमें कुछ जाग्रति थी और कुछ निद्रा थी, अर्थात् उन्हें अपने मूल सम्बन्ध का तो पता था किन्तु मूल घर का

बोध नहीं था। इस नित्य वृन्दावन में सखियों ने अति उल्लास में भरकर प्रियतम के साथ आनन्दपूर्वक रास लीला की।

जोगमाया में खेल जो खेले, संग जोस धनी के भेले।

जोगमाया में बाढ़यो आवेस, सुध नहीं दुख सुख लवलेस।।४०।।

योगमाया के ब्रह्माण्ड में सखियों ने प्रियतम के जोश के साथ महारास की रामतें की। उस लीला में प्रेम का इतना आवेश बढ़ा कि सखियों को व्रज लीला के सुख एवं ५२ दिन के विरह के दुःख की जरा भी स्मृति नहीं रही।

भावार्थ– श्री राज जी के अन्दर लीला करने वाला "आवेश" उनका निज स्वरूप है, जबकि चौपाई के तीसरे चरण में कथित आवेश प्रेम का आवेश है। श्री राज जी का आवेश घटने–बढ़ने या मात्रा में मापा जाने वाला

कोई पदार्थ नहीं है, अपितु इस संसार में प्रकट होने वाला उनका निज स्वरूप है। रास की रामतों में अंगों का स्पन्दन जोश के द्वारा ही होगा, आवेश तो लीला के केन्द्र में नियन्त्रक की भूमिका में है। यही कारण है इस चौपाई के दूसरे चरण में लीला के लिये जोश का उल्लेख किया गया है।

फेर मूल सरूपें देख्या तित, ए दोऊ मगन हुए खेलत।
जब जोस लियो खेंच कर, तब चित चौंक भई अछर।।४१।।

पुनः मूल स्वरूप ने देखा कि ये दोनों (अक्षर ब्रह्म और सखियाँ) तो रास लीला में भी मग्न हो गये हैं। जब उन्होंने श्री कृष्ण जी के तन से अपना जोश खींचा, तो अक्षर ब्रह्म की आत्मा चौंक उठी।

कौन बन कौन सखियां कौन हम, यों चौंक के फिरी आतम।

रास आया मिने जाग्रत बुध, चुभ रही हिरदे में सुध।।४२।।

यह कौन सा वन है, जहाँ इस प्रकार की प्रेममयी लीला हो रही थी? ये सखियाँ कौन हैं तथा इस प्रकार की विचित्र वेशभूषा (चोटी आदि) धारण करने वाला मैं कौन हूँ? इस प्रकार चौंककर अक्षर ब्रह्म की आत्मा अपने मूल तन में जाग्रत हो गयी। सम्पूर्ण रास लीला उनकी जाग्रत बुद्धि में अखण्ड हो गयी। अब तक होने वाली रास लीला की सम्पूर्ण स्मृति अक्षर ब्रह्म के हृदय में अंकित हो गयी।

भावार्थ– अन्तर्धान लीला के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विचारधारायें हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. श्री राज जी ने अपना आवेश श्यामा जी के अन्दर विद्यमान कर दिया था। वह परमधाम नहीं गया था। यह कथन तारतम वाणी प्रणालिका में दर्शाया गया है।

२. "पौढ़े भेले जागसी भेले" (कलस हिन्दुस्तानी) के कथनानुसार अक्षर ब्रह्म की आत्मा अपने मूल तन में नहीं जगी, अपितु उसने स्वयं को नित्य वृन्दावन में ही जाना और रास को अपने चित्त में अखण्ड किया।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये, तो यह स्पष्ट होता है कि श्री राज जी ने अपना आवेश श्यामा जी के धाम हृदय में अवश्य विराजमान किया, तभी उन्होंने सखियों के इस प्रश्न– "आप कहाँ चले गये थे, हमने वृन्दावन में आपको सर्वत्र खोजा, किन्तु आप कहीं भी नहीं मिले?" के उत्तर में कहा– "मैं तो वहीं था। मेरे और तुम्हारे बीच में एक पेड़ आ गया था, जिस कारण तुम मुझे देख न सकी।"

आवेश के हटते ही जोश भी हटेगा। इसी सन्दर्भ में यह बात कही गयी है कि "जब जोस लियो खैंचकर, तब

चित चौंक भई अक्षर।" अक्षर ब्रह्म की आत्मा रास मण्डल में ही चौंकी थी कि यह वन कौन सा है तथा ये सखियाँ कौन हैं, जो इस प्रकार विलख–विलखकर रो रही हैं? योगमाया में पूर्ण जाग्रति नहीं है, इसलिये अक्षर ब्रह्म को यह याद दिलाने के लिये कि तुमने जिस लीला की इच्छा की थी, उसे ही यहाँ दिखाया जा रहा है, किन्तु तुम परमधाम में नहीं अपितु केवल ब्रह्म में यह लीला देख रहे हो, धाम धनी ने उन्हें उनके मूल तन में जाग्रत किया। परिणाम स्वरूप अक्षर ब्रह्म को रास लीला सहित सब कुछ विदित हो गया कि मैंने ही इस लीला को देखने की इच्छा की थी। इस प्रकार, सम्पूर्ण रास उनके चित्त में अखण्ड हो गयी।

यदि यह संशय किया जाये कि "पौढ़े भेले जागसी भेले" के अनुसार अक्षर ब्रह्म की आत्मा अपने मूल तन में

जाग्रत नहीं हो सकती, तो इसका समाधान यह है कि अक्षर ब्रह्म सत अंग की वहदत (एकत्व) में है, आनन्द अंग की वहदत में नहीं। जब अक्षर ब्रह्म की आत्मा अरब में अकेले जा सकती है, तो रास के समय अपनी परात्म में जाग्रत क्यों नहीं हो सकती ? हाँ, रास के समय या इस जागनी लीला में कोई भी ब्रह्मात्मा अकेले अपनी परात्म में जाग्रत नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ एकत्व (वहदत) की लीला है।

"यों चौंक के फिरी आतम" का अभिप्राय ही यह है कि आवेश के हटते ही लीला बन्द हो गयी, जिससे सखियाँ विरह में तड़पने लगीं। इस दृश्य को देखकर अक्षर ब्रह्म की आत्मा चौंकी, तत्पश्चात् धनी की प्रेरणा से अपने मूल तन में जाग्रत हुई। "धनी दियो आवेश फेर आई सूरत" चौपाई ४५ का कथन भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि करता

है।

कई सुख रास में खेले रंग, सो हिरदे में भए अभंग।
या बिध रास भयो अखंड, थिरचर जोगमाया को ब्रह्मांड।।४३।।

महारास में अनेक प्रकार की आनन्दमयी क्रीड़ायें हुईं, जो अक्षर ब्रह्म के हृदय में अखण्ड हो गयीं। इस प्रकार महारास, नित्य वृन्दावन की चर–अचर सम्पूर्ण सामग्री सहित, योगमाया के ब्रह्माण्ड (सबलिक के महाकारण) में अखण्ड हो गयी।

तब इत भए अंतरध्यान, सब सखियां भई मृतक समान।
जीव न निकसे बांधी आस, करने धनीसों प्रेम विलास।।४४।।

इस लीला के मध्य प्रियतम जैसे ही ओझल हुए, सभी सखियाँ मरे हुए के समान अचेत सी हो गयीं। सखियों में

यह अटूट विश्वास था कि उनकी अपने प्राणेश्वर के साथ अवश्य ही प्रेममयी लीला होगी। इसी आशा में बँधकर उनके जीव ने शरीर को नहीं छोड़ा।

भावार्थ– यद्यपि बेहद मण्डल में कोई भी व्यक्ति मर नहीं सकता, किन्तु विरह की गहन स्थिति की पहचान कराने के लिये यह बात दर्शायी गयी है कि सखियों के जीव अपना तन नहीं छोड़ सके। केवलब्रह्म की जिस भूमिका में यह रास हो रही थी, वह दस रसों की भूमिका है। उसमें हास्य, करूण, बीभत्स, श्रृंगार आदि रस प्रमुख है। श्रृंगार रस में संयोग एवं वियोग दोनों की लीला अनिवार्य रूप से होती है, इसलिये रास में वियोग होना ही था।

विरह सैयों ने कियो अत, धनी दियो आवेस फेर आई सुरत।
तब सैयों को उपज्यो आनंद, सब विरहा को कियो निकंद।।४५।।

प्रियतम के अन्तर्धान के पश्चात्, सभी सखियाँ विरह के सागर में डूब गयीं। अक्षर की आत्मा पुनः उस तन में आयी और जब धाम धनी ने अपना आवेश अक्षर की आत्मा पर डाला, तो सबको श्री कृष्ण जी के रूप में अपने धाम धनी के दर्शन होने लगे। सखियों के विरह का सम्पूर्ण कष्ट समाप्त हो गया और उनके हृदय में अपार आनन्द छा गया।

आया सरूप कर नए सिनगार, भजनानंद सुख लिए अपार।
दोऊ आतम खेले मिने खांत, सुख जोस दियो कई भांत।।४६।।

प्रगट होने वाला यह नया स्वरूप भजनानन्द कहा गया। इसमें प्रेम का नये ही प्रकार का विशेष श्रृंगार था, अर्थात्

इस स्वरूप में सखियों को प्रेम से तृप्त कर देने की प्रबल चाहना थी। इस स्वरूप के साथ लीला करके सखियों ने अपार सुख लिया। अक्षर ब्रह्म की आत्मा एवं श्यामा जी सहित सखियों ने प्रेम की प्रबल चाहना के साथ क्रीड़ा की एवं उन्हें धाम धनी ने अपने आवेश–जोश के द्वारा अनेकों प्रकार से सुख दिया।

भावार्थ– अन्तर्धान से पूर्व का स्वरूप "ब्रह्मानन्द" तथा अन्तर्धान के बाद का स्वरूप "भजनानन्द" कहलाता है। सखियों ने विरह की अग्नि में जलकर प्रियतम को पुकारा, इसलिये उनके समक्ष जिस स्वरूप ने प्रकट होकर प्रत्यक्ष लीला की, उसे भजनानन्द स्वरूप कहते हैं।

ब्रह्मानन्दात्समुधृत्य भजनानन्द योजने।

लीलाया युज्यते सम्यक सा तुर्मे विनिरूप्यते।।

सुबोधिनी टीका के इस कथन के आधार पर ब्रह्मानन्द

और भजनानन्द लीला को तो अलग–अलग किया जा सकता है, किन्तु स्वरूप को नहीं, अर्थात् ब्रह्मानन्द लीला में जो स्वरूप था, भजनानन्द लीला में भी वही स्वरूप था।

विरह के पश्चात् प्रेम की घड़ियाँ बहुत ही मधुर होती हैं। यद्यपि दोनों स्वरूपों (ब्रह्मानन्द तथा भजनानन्द) की प्राप्ति विरह से ही हुई, किन्तु दोनों स्थितियों में सूक्ष्म सा अन्तर है। व्रज में बाँसुरी की ध्वनि सुनने के पश्चात् सखियों में जो विरह पैदा हुआ, वह व्रज लीला के सुख की याद में प्रगाढ़ हुआ, किन्तु रास में अन्तर्धान के पश्चात् होने वाला विरह पहले वाले विरह से अधिक असह्य था, भले ही बेहद की भूमिका होने के कारण सखियाँ अपना तन न छोड़ सकी। इसका मूल कारण यह था कि रास में व्रज की अपेक्षा सुख भी अधिक था तथा

उन्हें अपने मूल सम्बन्ध की भी पहचान हो गयी थी।

यद्यपि दोनों स्वरूपों में अक्षर ब्रह्म की आत्मा के ऊपर विराजमान होकर श्री राज जी के आवेश ने ही लीला की, किन्तु अन्तर्धान के पश्चात् होने वाली लीला में अधिक प्रेम वर्षा हुई, जिससे सभी तृप्त हो गये। यही कारण है कि भजनानन्द स्वरूप की विशेष महत्ता दर्शायी गयी है।

कई विरह विलास लिए मिने रात, अंग आनंद भयो जोलों प्रात।

रास खेल के फिरे सब एह, साथ सकल मन अधिक सनेह।।४७।।

रास की उस रात्रि में प्रातःकाल होने तक विरह एवं प्रेम की बहुत सी लीलायें हुईं, जिससे सबके हृदय में अपार आनन्द भर गया। रास क्रीड़ा के पश्चात् अक्षर ब्रह्म सहित सभी सखियों की आत्मायें अपने मूल तनों में जाग्रत हुईं।

सभी सुन्दरसाथ के मन में असीम प्रेम भरा हुआ था।

पीछे जोग माया को भयो पतन, तब नींद रही अछर सैयन।
बृज लीलासों बांधी सुरत, अखंड भई चढ़ आई चित।।४८।।

इसके पश्चात् योगमाया का पतन हो गया, अर्थात् बुद्धि स्वरूप केवल ब्रह्म की आनन्द योगमाया की भूमिका में खेली जाने वाली रास लीला चित्त स्वरूप सबलिक के महाकारण में अखण्ड हो गयी। यद्यपि इस लीला में सखियाँ तथा अक्षर ब्रह्म को अपार प्रेम और आनन्द का अनुभव हुआ था, किन्तु मूल घर के प्रति उनके मन में नींद (अनभिज्ञता) थी। अक्षर ब्रह्म ने जाग्रत अवस्था में व्रज लीला का ध्यान किया, जिससे वह चित्त (सबलिक के कारण) में अखण्ड हो गयी।

अछर चितमें ऐसो भयो, ताको नाम सदा सिव कह्यो।
बृज रास दोऊ ब्रह्मांड, ए ब्रह्म लीला भई अखंड।।४९।।

इस प्रकार अक्षर ब्रह्म के चित्त में व्रज लीला के अखण्ड हो जाने से उनका (सबलिक का) नाम सदाशिव चेतन पड़ा। व्रज और रास की ये दोनों लीलायें ब्रह्मलीला कही जाती हैं, जो योगमाया के ब्रह्माण्ड में अखण्ड हो गयी हैं (आज भी हो रही हैं)।

बृज रास लीला दोऊ मांहें, दुख तामसियों देख्या नांहें।
प्रेम पियासों ना करे अंतर, तो ए दुख देखें क्यों कर।।५०।।

व्रज और रास की लीला में तामसी सखियों ने दुःख का कोई अनुभव ही नहीं किया। उन्होंने प्रेम की राह में अपने और धनी के बीच में किसी भी प्रकार की मायावी बाधा नहीं आने दी। ऐसी स्थिति में भला उन्हें दुःख कैसे सता

सकता था?

कछुक हमको रहयो अंदेस, सो राखे नहीं धनी लवलेस।
ता कारन ए भयो सुपन, हुए हुकमें चौदे भवन।।५१।।

हमारे (तामसियों के) अन्दर माया का खेल (दुःख) देखने की कुछ इच्छा बाकी रह गयी थी। धाम धनी हमारी नाम मात्र की भी इच्छा अधूरी नहीं रहने देना चाहते, इसलिये उनके आदेश से चौदह लोकों का यह स्वप्नवत् ब्रह्माण्ड बना।

काल माया को ए जो इंड, उपज्यो और जाने सोई ब्रह्मांड।
ए तीसरा इंड नया भया जो अब, अछर की सुरत का सब।।५२।।

कालमाया में चौदह लोकों का यह जो ब्रह्माण्ड बना है, इसमें रहने वाले यही समझते हैं कि यह पहले वाला ही

ब्रह्माण्ड है। जागनी लीला का यह जो तीसरा ब्रह्माण्ड बना है, वह अक्षर ब्रह्म की सुरत से ही बना है।

भावार्थ– इस सृष्टि की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक सबलिक सुरत (अव्याकृत का महाकारण पुरुष) मोह सागर में स्वयं को आदिनारायण के रूप में न देखे। "उपज्यो मोह सुरत संचरी, खेल हुआ माया विस्तरी" (बेहद वाणी) का कथन यही सिद्ध करता है। प्रतिबिम्ब लीला का आनन्द लेने के लिये, बेहद मण्डल से वेदों द्वारा धारण की गयी वेदऋचा सखियाँ तथा कुमारिकाओं के जीवों की प्रतिबिम्ब रूप सखियाँ इस खेल में आयी हैं, इसलिये इन सखियों को अक्षर की सुरत रूप सखियाँ भी कहते हैं।

याही सुरत की सखियां भई, प्रतिबिंब वेद रूचा जो कही।

जाको कह्यो ऊधो ग्यान जोगारंभ, सोक्यों माने प्रेमलीला प्रतिबिंब।।५३।।

अक्षर ब्रह्म की उसी सुरत से २४००० कुमारिकाओं के जीवों की प्रतिबिम्ब रूप सखियों तथा १२००० वेदऋचा सखियों का इस संसार में आगमन हुआ। उद्धव जी ने इन्हीं सखियों को निराकार ब्रह्म का उपदेश देकर योग साधना करने के लिये कहा था। भला प्रेम से परिपूर्ण प्रतिबिम्ब लीला (सात दिन गोकुल, चार दिन मथुरा) में भाग लेने वाली सखियाँ, उनके शुष्क ज्ञान को कहाँ स्वीकार करने वाली थीं?

भावार्थ– कुमारिका सखियाँ तो रास में चली गयी थीं, किन्तु उनके जीव व्रज लीला में अखण्ड हो चुके थे। ये जीव ही इस नये ब्रह्माण्ड में २४००० प्रतिबिम्ब की सखियों के रूप में अवतरित हुए। अव्याकृत के

महाकारण (सबलिक के स्थूल) में प्रतिबिम्बित रास लीला के श्री कृष्ण जी के निर्देश पर वेदों ने भी १२००० सखियों का रूप धारण किया, जिन्हें वेदऋचा सखियाँ कहा जाता है। इस प्रकार पूर्व ब्रह्माण्ड की तरह ही ३६००० सखियाँ हो गयीं और किसी को भी पता नहीं चल सका कि यह नया ब्रह्माण्ड है।

जो ऊधो ने दई सिखापन, सो मुख पर मारे फेर वचन।
याही विरह में छोड़ी देह, सो पोहोंची जहां सरूप सनेह।।५४।।

उद्धव जी ने इन सखियों को ज्ञान का जो उपदेश दिया, उसे उन्होंने उनके मुख पर दे मारा अर्थात् उनकी किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया। १०० वर्षों तक श्री कृष्ण जी के विरह में तड़प–तड़पकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और वे वहाँ पहुँच गयीं जहाँ उनके

प्रियतम श्री कृष्ण जी अखण्ड प्रेम की लीला करते हैं।

अछर हिरदे रास अखंड कह्यो, ए प्रतिबिंब साथ तहां पोहोंचयो।

ए प्रतिबिंब लीला भई जो इत, सो कारन ब्रह्मसृष्ट के सत।।५५।।

अक्षर ब्रह्म के हृदय (सबलिक) में रास लीला को अखण्ड कहा गया है। प्रतिबिम्ब की लीला में भाग लेने वाली सखियाँ वहीं पर पहुँची। इस ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्ब की जो लीला हुई, वह ब्रह्मसृष्टियों के द्वारा खेली गई महारास की लीला को संसार में प्रकट करने के लिये हुई।

भावार्थ– सबलिक के महाकारण में जो रास लीला अखण्ड है, उसका प्रतिबिम्ब सबलिक के स्थूल (अव्याकृत के महाकारण) में भी पड़ा है। वेदऋचा सखियाँ इसी रास (सबलिक के स्थूल) में पहुँची। इसी

प्रकार प्रतिबिम्ब की २४००० सखियाँ सबलिक के कारण में अखण्ड होने वाली व्रज लीला में पहुँचीं, क्योंकि वे वहीं से आयी थीं। उपरोक्त चौपाई के दूसरे चरण में "प्रतिबिम्ब साथ" कहा गया है, जिसका अर्थ प्रतिबिम्ब की सखियाँ नहीं, अपितु प्रतिबिम्ब की लीला में भाग लेने वाली सखियाँ होता है।

जो प्रगट लीला न होवे दोए, तो असल नकल की सुध क्यों होए।

ता कारन ए भई नकल, सुध करने संसार सकल।।५६।।

यदि प्रत्यक्ष रूप से रास की ये दोनों लीलायें न हों, तो वास्तविक लीला जो बेहद में खेली गयी और उसकी नकल की लीला जो प्रतिबिम्ब लीला के रूप में इस संसार में खेली गयी, का पता कैसे चलता? इसलिये संसार को वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिये ही यह

प्रतिबिम्ब की लीला खेली गयी, जिससे सबको यह पता चल जाये कि महारास की लीला बेहद मण्डल में खेली गयी थी।

भावार्थ– सखियों के व्रज से रास में जाने के पश्चात् ही इस ब्रह्माण्ड का प्रलय कर दिया गया था। इसलिये इस ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा नहीं था जो यह जान सकता कि महारास कहाँ पर हुई थी। प्रतिबिम्ब की लीला होने से यह प्रमाण मिल जाता है कि वास्तविक लीला कहीं और हुई थी।

सारे अर्थ तब होवें सत, जो प्रगट लीला दोऊ होवें इत।
याही इंड में श्री कृष्णजी भए, सो अग्यारे दिन बृज मथुरा रहे।।५७।।

यदि तारतम वाणी के प्रकाश में दोनों लीलाओं का स्पष्ट ज्ञान इस संसार में प्रकट हो जाये, तभी सारे अनसुलझे

हुए रहस्यों का सत्य ज्ञान विदित हो सकता है। इसी संसार में श्री कृष्ण जी हुए, जिन्होंने सात दिन गोकुल में तथा चार दिन मथुरा में लीला की।

दिन अग्यारे ग्वालो भेस, तिन पर नहीं धनी को आवेस।
सात दिन गोकुल में रहे, चार दिन मथुरा के कहे।।५८।।

ग्यारह दिनों तक श्री कृष्ण जी ने ग्वालों का वेश धारण किये रखा। इसमें धाम धनी का आवेश नहीं था। उन्होंने सात दिन गोकुल में तथा चार दिन मथुरा में लीला की।

गज मल कंस को कारज कियो, उग्रसेन को टीका दियो।
काला ग्रह में दरसन दिए जिन, आए छुड़ाय बंध थें तिन।।५९।।

मथुरा जाकर उन्होंने कुबलयापीड़ नामक शक्तिशाली हाथी को मारा। इसके अतिरिक्त उन्होंने चाणूर और

मुष्टिक नामक पहलवानों, तथा अत्याचारी कंस का भी वध किया। तत्पश्चात् उग्रसेन को राज सिंहासन पर बैठाकर, उन्होंने वसुदेव–देवकी को भी बन्धन से मुक्त किया, जिन्हें जन्म के समय दर्शन दिया था।

भावार्थ– जन्म के समय दर्शन देने वाले विष्णु भगवान थे, जबकि श्री कृष्ण रूप में इस समय रास बिहारी की शक्ति ने दर्शन दिया। उसी शक्ति ने कंसादि का संहार किया तथा वसुदेव–देवकी को बन्धन से मुक्त किया।

वसुदेव देवकी के लोहे भांन, उतारयो भेख किए अस्नान।
जब राज बागे को कियो सिनगार, तब बल पराक्रम ना रह्यो लगार।।६०।।

वसुदेव–देवकी के हाथों एवं पैरों में पड़ी हुई हथकड़ियों एवं बेड़ियों को कटवाकर, उन्होंने ग्वालों का वेश उतार दिया तथा स्नान करके जैसे ही राजसी वस्त्र धारण

किया, वैसे ही रास विहारी की शक्ति उनके तन से चली गयी। अब उनमें अखण्ड धाम की कोई भी शक्ति नहीं रही।

आय जरासिंध मथुरा घेरी सही, तब श्री कृष्णजी को अति चिंता भई।
यों याद करते आया विचार, तब कृष्ण विष्णुमय भए निरधार।।६१।।

जब जरासिंध ने अति विशाल सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया, तब श्री कृष्ण जी को अत्यन्त चिन्ता हुई, क्योंकि उन्हें यह भली –भान्ति ज्ञान था कि इस समय वे शक्तिहीन हैं। अपने स्वरूप का चिन्तन करते ही उन्हें यह बोध हो गया कि वे तो विष्णु के अवतार हैं। तब विष्णु भगवान की सम्पूर्ण शक्ति उनके अन्दर प्रविष्ट हो गयी और निश्चित रूप में उस समय श्री कृष्ण रूप में मात्र विष्णु भगवान ही रह गये।

तब बैकुंठे में विष्णु ना कहे, इत सोलेकला संपूरन भए।
या दिन थें भयो अवतार, ए प्रगट वचन देखो विचार।।६२।।

हे साथ जी! यदि आप भागवत के प्रत्यक्ष वचनों को देखकर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि उस समय वैकुण्ठ में भगवान विष्णु नहीं थे। बल्कि वे श्री कृष्ण जी के रूप में १६ कला सम्पन्न पूर्णावतार हो गये। इसी दिन से विष्णु रूप श्री कृष्ण के अवतार की लीला प्रारम्भ होती है।

सिसुपाल की जोत बैकुण्ठे गई, समाई श्रीकृष्ण में तित ना रही।
आउध अपने मंगाए के लिए, कई बिध जुध असुरों सों किए।।६३।।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल के द्वारा अपशब्दों से बार-बार सम्बोधित किये जाने पर श्री कृष्ण जी ने उसका वध कर दिया। शिशुपाल के जीव की ज्योति

वैकुण्ठ गयी, किन्तु वहाँ भगवान विष्णु के न होने से वापस आकर श्री कृष्ण जी में प्रवेश कर गयी। विष्णु रूप श्री कृष्ण जी ने वैकुण्ठ से अपने अस्त्र–शस्त्र (शंख, चक्र, गदा आदि) मंगवाये और असुरों से अनेकों युद्ध कर पृथ्वी का भार हरण किया।

भावार्थ– जब जीव आदिनारायण की चेतना के सांकल्पिक प्रतिभास रूप हैं, तो उन्हें आदिनारायण में ही विलीन होना उचित है, विष्णु में नहीं। सारी सृष्टि में आदिनारायण एक ही हैं, जबकि विष्णु असंख्य हैं। बेहद वाणी ३१/६ में स्वयं विष्णु भगवान शिव जी से कहते हैं कि "और ब्रह्माण्ड की वारता, क्यों पाइए इन ठौर।" ऐसी स्थिति में प्रत्येक ब्रह्माण्ड के जीवों का आदिनारायण में लीन न होकर, अपने–अपने ब्रह्माण्ड के विष्णु में लीन होना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है

कि चौपाई का उक्त कथन श्रीमद्भागवत् से उद्धृत है, जिसमें वैष्णवों ने अपने साम्प्रदायिक विचारों को थोपा है। इसे श्रीमुखवाणी का व्यक्तिगत कथन नहीं मानना चाहिये।

यदि ऐसा कहा जाये कि पूर्व काल में वैकुण्ठ में भगवान का पार्षद होने के कारण ही उन्होंने अपने स्वरूप में उसे विलीन कर लिया तो ठीक है, अन्यथा श्री कृष्ण जी के द्वारा लाखों असुर मारे गये किन्तु सभी के इस प्रकार से श्री कृष्ण जी में लीन होने का वर्णन नहीं आता।

मथुरा द्वारका लीला कर, जाए पोहोंचे विष्णु बैकुंठ घर।
अब मूल सखियां धाम की जेह, तिन फेर आए धरी इत देह।।६४।।

मथुरा एवं द्वारिका में ११२ वर्ष तक लीला करने के बाद भगवान विष्णु पुनः अपने वैकुण्ठ धाम चले गये। अब

इस जागनी ब्रह्माण्ड में परमधाम की ब्रह्मसृष्टियों ने पुनः आकर मानवीय तन धारण किया है।

उमेदां तामसियां रही तिन बेर, सो देखन को हम आइयां फेर।
इन ब्रह्मांड को एह कारन, सुनियो आतम के श्रवन।।६५।।

व्रज–रास में तामसी सखियों की माया का दुःख देखने की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी थी, इसलिये हम सभी को इस मायावी खेल में पुनः आना पड़ा। हे साथ जी! इस ब्रह्माण्ड की रचना का यही मूल कारण है। आप इस तथ्य को अपनी आत्मा के कानों से सुनिए।

रास खेलते उमेदां रहियां तित, सो ब्रह्मसृष्ट सब आइयां इत।
यामें सुरत आई स्यामाजी की सार, मतू मेहेता घर अवतार।।६६।।

रास लीला के समय तामसी सखियों में माया का दुःख

देखने की इच्छा अधूरी ही रह गयी थी, इसलिये सभी ब्रह्मसृष्टियों को इस संसार में पुनः आना पड़ा है। इनमें श्यामा जी की आत्मा ने मतू मेहता जी के घर जन्म लेने वाले श्री देवचन्द्र जी के तन में प्रवेश किया।

कुंवरबाई माता को नाम, उत्तम काइथ उमर कोट गाम।
आए श्री देवचंदजी नौतनपुरी, सुख सबों को देने देह धरी।।६७।।

श्री देवचन्द्र जी ने सबको सुख देने के लिये ही यह मानव तन धारण किया था। उनकी माता का नाम कुँवर बाई था। सिन्ध के उमरकोट ग्राम में उत्तम कायस्थ कुल में उनका जन्म हुआ था। लगभग २६ वर्ष की अवस्था में वे नवतनपुरी (जामनगर) आ गये थे।

इन इत आए करी बड़ी खोज, चाहे धनी को मूल संजोग।

अंग मूल उपजी ए दृष्ट, सास्त्र सब्द खोजे कई कष्ट।।६८।।

यहाँ आकर उन्होंने बहुत खोज की। वे परमधाम के मूल सम्बन्ध से अपने प्राणेश्वर को पाना चाहते थे। उनकी आत्मा में सत्य को जानने की अलौकिक ज्ञान दृष्टि उत्पन्न हुई और उन्होंने अनेक कष्ट उठाकर भी शास्त्रों के ज्ञान में डुबकी लगायी (खोज की)।

भावार्थ– "मूल संजोग" का तात्पर्य है, परमधाम के मूल सम्बन्ध (आत्मभाव) से मिलन। इसी प्रकार "अंग मूल" का आशय आत्मा से है, क्योंकि परात्म ही मूल तन है और उसकी प्रतिबिम्ब स्वरूपा आत्मा ही मूल अंग है।

चौदे बरसलों नेष्टा बंध, वचन ग्रहे सारी सनंध।

कई जप तप किए व्रत नेम, सेवा सरूप सनेह अति प्रेम।।६९।।

श्री देवचन्द्र जी ने भागवत श्रवण के प्रति अत्यधिक निष्ठा–प्रतिबद्धता दर्शायी और कान्ह जी भट्ट से १४ वर्ष तक श्रीमद्भागवत् के वचनों की सारी वास्तविकता को ग्रहण किया। अपने प्राणवल्लभ को पाने के लिये गृहत्याग के पश्चात्, उन्होंने अनेकों पद्धतियों से जप किया, तप किया, एवं व्रतों तथा नियमों का पालन करते हुए साधनायें की। व्रज–रास के स्वरूपों के प्रति अत्यधिक प्रेम रखते हुए, उन्होंने सेवा–पूजा और चितवनि भी की।

कई कसनी कसी अति अंग, प्रेम सेवा में ना कियो भंग।
कई कसौटी करी दुलहिन, सो कारन हम सब सैयन।।७०।।

स्वयं को कष्ट देते हुए उन्होंने बहुत ही कष्टसाध्य साधनायें की और अपने प्रियतम की प्रेम भरी सेवा में जरा भी बाधा नहीं आने दी। श्यामा जी ने हम

सुन्दरसाथ को मार्गदर्शन देने के लिये ही इस प्रकार की कष्टमयी साधनायें की, जिससे सीख लेकर भविष्य में कोई भी सुन्दरसाथ इनके प्रपञ्च में न फँसे।

पिया किए अति प्रसन, तीन बेर दिए दरसन।

तारतम बात वतन की कही, आप धाम धनी सब सुध दई।।७१।।

श्री देवचन्द्र जी ने अपनी प्रेममयी साधना एवं सेवा के द्वारा प्रियतम को बहुत अधिक प्रसन्न किया, जिसके परिणामस्वरूप वे तीन बार उनका दर्शन पाने में सफल रहे– बारात के पीछे–पीछे जाते समय (सिपाही वेश में), चितवनि में (व्रज–विहारी के रूप में), तथा श्याम जी के मन्दिर में (परमधाम के श्रृंगार में)। धाम धनी ने तीसरी बार प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें परमधाम की सारी बातें बतायीं तथा तारतम ज्ञान का उजाला देकर उनके धाम

हृदय में विराजमान हो गये, जिससे श्री देवचन्द्र जी को पृथ्वी लोक से लेकर परमधाम तक का पूर्ण अनुभव हो गया।

धरयो नाम बाई सुन्दर, निज वतन देखाया घर।
इत दया करी अति घनी, अंदर आए के बैठे धनी।।७२।।

श्री राज जी ने इस खेल में श्यामा जी का नाम सुन्दरबाई रखा। प्रियतम अक्षरातीत ने उनके धाम हृदय में विराजमान होकर अपने मूल घर परमधाम का भी दर्शन कराया। इस प्रकार उन्होंने श्यामा जी पर अपनी प्रेमभरी अपार कृपा की।

दिया जोस खोले दरबार, देखाया सुन्य के पार के पार।
ब्रह्मसृष्ट मिने सुन्दरबाई, ताको धनीजीएँ दई बड़ाई।।७३।।

धाम धनी ने श्यामा जी के तन से अपने जोश के द्वारा, तारतम ज्ञान के प्रकाश में, मोह तत्त्व से परे बेहद एवं उससे भी परे अक्षर धाम और परमधाम का ज्ञान देकर सर्वसुलभ कर दिया। इस प्रकार ब्रह्मसृष्टियों में श्यामा जी को श्री राज जी ने विशेष शोभा दी।

भावार्थ– दरबार खोलने का अभिप्राय है– परमधाम के ज्ञान को सबके लिये सुलभ कर देना, जिससे सभी लोग चितवनि के द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकें।

सब सैयों मिने सिरदार, अंग याही के हम सब नार।

श्री धाम धनीजी की अरधंग, सब मिल एक सरूप एक अंग।।७४।।

श्यामा जी सभी सखियों में प्रमुख हैं और प्राणेश्वर अक्षरातीत की प्राणेश्वरी (अर्धांगिनी) हैं। हम सभी सखियाँ इन्हीं श्यामा जी की अंगरूपा हैं। इस प्रकार

श्यामा जी सहित हम सभी सखियाँ परमधाम के एकत्व में एक ही स्वरूप हैं तथा श्री राज जी की अंगरूपा हैं।

श्री धाम लीला बैकुंठ अखंड, बृज रास लीला दोऊ ब्रह्मांड।
ए सब हिरदे में चढ़ आए, ज्यों आतम अनुभव होत सदाए।।७५।।

श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में श्री राज जी के विराजमान होते ही अष्ट प्रहर की लीला सहित सम्पूर्ण परमधाम, अक्षर धाम, और अखण्ड व्रज–रास की शोभा उनके हृदय पटल पर अंकित हो गयी, तथा उनकी आत्मा पल–पल उस अनुपम शोभा का दर्शन करने लगी।

अब ए केते कहूं प्रकार, निजधाम लीला नित बड़ो विहार।
अछरातीत लीला किसोर, इत सैयां सुख लेवें अति जोर।।७६।।

परमधाम की लीला नित्य, अनादि, और अखण्ड है, तथा अपार आनन्द से भरपूर है। मैं उसका कहाँ तक वर्णन करूँ? अक्षरातीत श्री राज जी की लीला किशोरावस्था की प्रेममयी लीला है, जिसमें डूबकर सभी सखियाँ असीम आनन्द का अनुभव करती हैं।

मोहोल मंदिर को नाहीं पार, धाम लीला अति बड़ो विस्तार।
इन लीला की काहूँ ना खबर, आज लगे बिना इन घर।।७७।।

परमधाम के महलों तथा मन्दिरों की कोई सीमा ही नहीं है। वहाँ की आनन्दमयी लीला का विस्तार भी अपार है। श्री राज जी, श्यामा जी, एवं सखियों को छोड़कर आज दिन तक किसी को भी परमधाम की इस प्रेममयी लीला की जानकारी नहीं थी।

ब्रह्मसृष्ट बिना न जाने कोए, ए सृष्ट ब्रह्मथें न्यारी न होए।
सो निध ब्रह्मसृष्ट ल्याईयां इत, ना तो ए लीला दुनियां में कित।।७८।।

परमधाम की शोभा एवं लीला के सम्बन्ध में आज दिन तक ब्रह्मसृष्टियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता था। वे ब्रह्मात्मायें एक पल के लिये भी अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत से अलग नहीं होतीं। इस प्रकार परमधाम की शोभा एवं लीला का अनुपम ज्ञान ब्रह्मसृष्टियाँ ही इस संसार में लेकर आयीं, अन्यथा इस मायावी जगत् में परमधाम की लीला का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता था?

ए बानी धनी मुखथें कहे, सो ए दुनियां क्यों कर लहे।
गांगजी भई मिले इन अवसर, तिन ए वचन लिए चित धर।।७९।।

सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी अपने मुख से अखण्ड व्रज–रास तथा परमधाम की शोभा एवं लीला का वर्णन

तो किया करते थे, किन्तु इस मायावी संसार के लोग भला उसे क्यों सुनते? कोई उस ज्ञान में रूचि ही नहीं रखता था। ऐसे समय में गाँगजी भाई मिले, जिन्होंने सद्गुरु के वचनों को एकाग्रचित्त होकर सुना और उन्हें आत्मसात् किया।

कर विचार पूछे वचन, नीके अर्थ लिए जो इन।

जब समझाई पार की बान, तब धनी की भई पेहेचान।।८०।।

गाँगजी भाई ने सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी की चर्चा पर विचार किया तथा जिज्ञासावश अखण्ड व्रज–रास से सम्बन्धित तरह–तरह के प्रश्नों को पूछा। श्री निजानन्द जी के द्वारा दिये गये उत्तर को उन्होंने अच्छी प्रकार से ग्रहण किया। जब सद्गुरु ने अखण्ड व्रज–रास तथा परमधाम के ज्ञान की चर्चा सुनायी, तो गाँगजी भाई को

पूर्ण विश्वास हो गया कि इनके धाम हृदय में स्वयं परब्रह्म ही विराजमान होकर ज्ञान–चर्चा कर रहे हैं।

अपने घरों लिए बुलाए, सेवा करी बोहोत चित ल्याए।
सनेहसों सेवा करी जो घनी, पेहेचान के अपना धाम धनी।।८१।।

गाँगजी भाई ने सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी को अपने घर ले जाकर पधराया और बहुत ही प्रेमपूर्वक उनकी सेवा की। उन्होंने सद्गुरु को साक्षात् धाम का धनी मानकर प्रेम से उनकी बहुत सेवा की।

तब श्री मुख वचन कहे प्राणनाथ, ढूंढ काढ़नो अपनो साथ।
माया मिने आई सृष्ट ब्रह्म, सो बुलावन आए है हम।।८२।।

तब श्री देवचन्द्र जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत श्री प्राणनाथ (श्री राज) जी ने अपने श्री मुख

से कहा कि इस मायावी जगत् में परमधाम की ब्रह्मसृष्टियाँ आयी हुई हैं। उन्हें एकत्रित करके परमधाम ले जाने के लिये मैं आया हूँ। मुझे इस संसार में उनमें से एक–एक को खोजकर निकालना है।

हम आए है इतने काम, ब्रह्मसृष्ट लेने घर धाम।

तब गांगजी भाई पायो अचरज मन, कौन मानसी पार के वचन।।८३।।

ब्रह्मसृष्टियों को जाग्रत कर परमधाम ले जाने के उद्देश्य से ही मैं आया हूँ। यह सुनकर गाँगजी भाई के मन में बहुत ही आश्चर्य हुआ कि भला इस मायावी जगत में निराकार के पार की बातों को कौन मानेगा?

कह्या ब्रह्मसृष्ट क्यों मिलसी, चाल तुमारी क्यों चलसी।

मोहजल पूर तीखा अति जोर, नख अंगुरी को ले जाए तोर।।८४।।

गाँगजी भाई कहने लगे– हे धाम धनी! ब्रह्मसृष्टियाँ जाग्रत होकर कैसे आपके चरणों में आयेंगी और आपके द्वारा दर्शाये हुए मार्ग पर चलेंगी? मोहसागर के जल का बहाव इतना तीखा और तेज है कि यदि उसे छूने का भी प्रयास किया जाये तो नख समेत अंगुली को ही तोड़कर बहा ले जायेगा, अर्थात् आसक्तिवश मायावी भोगों का स्मरण मात्र ही उसे भवसागर में डुबो देता है।

तरंग बड़े मेर से होए, इत खड़ा ना रेहेने पावे कोए।
लेहेरें पर लेहेरें मारे घेर, मांहें देत भमरियां फेर।।८५।।

इस मोहसागर में सुमेरु पर्वत के समान ऊँची –ऊँची तृष्णा की लहरें उठा करती हैं। उन लहरों के बहाव से टकराकर कोई भी धर्माचरण के मार्ग पर खड़ा नहीं रह पाता है। उस पर एक–एक करके असंख्य लहरों का

ऐसा प्रहार पड़ता है कि वह उनमें घिर जाता है तथा विषय भोगों के भँवर (गोलाई में घूमता जल जिसमें नाव डूब जाती है) में पड़कर डूब जाता है, अर्थात् जन्म–मरण के चक्र में उलझ जाता है।

आड़े टेढ़े मांहें बेहेवट, विक्राल जीव मांहें विकट।

दुखरूपी सागर निपट, किनार बेट न काहूं निकट।।८६।।

तिरछे और टेढ़े इस भवसागर के जल में भयंकर बहाव है। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर रूपी भयंकर जीव रहा करते हैं। बहुत प्रयास करने पर भी, न तो इसमें कोई किनारा मिलता है और न इसमें कोई द्वीप (टापू) ही मिलता है। निश्चित रूप से यह भवसागर अत्यन्त दुःखमयी है।

भावार्थ– रोग, शोक, और वृद्धावस्था ही इस भवसागर

का तिरछापन और टेढ़ापन है। पल–पल होती परिवर्तनशीलता तथा जीवन की अनिश्चितता ही भवसागर का तीव्र बहाव है। ज्ञान किनारा है, तथा अटूट विश्वास ही वह टापू है, जिस पर ठहरकर कुछ समय के लिये सन्तोष रखा जा सकता है।

ऊँचा नीचा गेहेरा गिरदवाए, कठन समया इत पोहोंच्या आए।
हाथ ना सूझे सिर ना पाए, इन अंधेरी से निकस्यो न जाए।।८७।।

यह भवसागर सर्वत्र ही (चारों ओर) ऊँचा–नीचा और गहरा है, अर्थात् इसमें सुख–दुःख, संयोग–वियोग, तथा मान–अपमान आदि की विषमता, एवं दुःखों की तीक्ष्णता सदा ही बनी रहती है। संघर्षों से भरा हुआ यह समय बहुत ही कठिन है। इस संसार सागर में अज्ञानता का इतना अन्धकार छाया हुआ है कि किसी को भी न

तो अपना हाथ अच्छी तरह से दिख (सूझ) रहा है, न शिर, और न पैर। कोई कितना भी प्रयास क्यों न करे, किन्तु इस अज्ञानमयी अन्धकार से निकल पाना सम्भव नहीं दिखता।

भावार्थ– अपना ही हाथ, पैर, और शिर का न दिखना एक व्यंग्योक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य तृष्णा के पीछे पागल होकर स्वयं को इतना भूल गया है कि वह नहीं जानता कि कब वह बालकपन को छोड़कर युवा बना तथा अब बुढ़ापे की ओर अग्रसर है। उसके साथ कल क्या होने वाला है? वह यह भी नहीं जानता कि वह इस परिवार में कहाँ से आया है तथा यथार्थ रूप से उसका अपना कौन है?

चढ़यो माया को जोर अमल, भूलियां आप मांहें घर छल।
ना सुध धनी ना मूल अकल, इन मोहजल को ऐसो बल।।८८।।

ब्रह्मसृष्टियों के ऊपर भी माया का भयंकर नशा छाया हुआ है। वे इस मायावी प्रपञ्च में स्वयं को तथा अपने मूल घर को भी भूल गयी हैं। इनमें से न तो किसी को अक्षरातीत की पहचान है और न किसी के पास परमधाम की बुद्धि ही है। यह मोह जल इतना शक्तिशाली है।

वचन बेहद के पार के पार, सो क्यों माने हद को संसार।
त्रैगुन महाविष्णु मोह अहंकार, ए हद सास्त्रों करी पुकार।।८९।।

बेहद एवं अक्षर धाम से भी परे परमधाम की बातों को इस हद के जीव भला क्यों मानेंगे? शास्त्रों के आधार पर परब्रह्म की खोज करने वाले भी इस हद के ब्रह्माण्ड से परे नहीं जा पाते। उनका चिन्तन मोह, अहंकार के

मण्डल में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तथा आदिनारायण तक ही सीमित हो जाता है।

ब्रह्मसृष्ट भी धरे मोह के आकार, सो इत आवसी कौन प्रकार।
तब श्री धनीजीएँ कहे वचन, बेहेर दृष्ट होसी रोसन।।९०।।

ब्रह्मात्माओं ने भी माया का ही तन धारण कर रखा है। ऐसी अवस्था में वे आपके चरणों में कैसे आएँगी ? तब श्री राज जी ने कहा कि मैं उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने के लिये आड़िका (चमत्कारिक) लीला करूँगा।

ए बंधेज कियो अति जोर, रात मेट के करसी भोर।
प्रतछ प्रमान देसी दरसन, ए लीला चित धरसी जिन।।९१।।

मैंने यह निश्चय किया है कि मैं तारतम ज्ञान की बहुत अधिक प्रभावशाली चर्चा करूँगा, जिससे अज्ञानता की

यह रात्रि समाप्त हो जायेगी तथा ज्ञान के प्रातःकाल का उजाला फैल जायेगा। चर्चा के कथनों को सार्थक सिद्ध करने के लिये, प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मैं दर्शन भी दूँगा जिससे कि सुन्दरसाथ व्रज, रास, एवं परमधाम की उस लीला को अपने हृदय में धारण कर सकें।

भावार्थ– जब सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी अखण्ड व्रज, रास, या परमधाम की चर्चा करते थे, तो श्री राज जी के आवेश से वहाँ व्रज–रास का सम्पूर्ण दृश्य उपस्थित हो जाता था। लीला में यमुना जी का जल भी प्रवाहित होने लगता था। श्री राज जी का आवेश श्री कृष्ण जी के रूप में दर्शन देता था, जिसे देखकर सुन्दरसाथ को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि हम परमधाम से आये हैं तथा व्रज एवं रास में भी हम ही थे।

साथ कारन आवसी धनी, घर घर वस्तां देसी घनी।

साथ मांहें इत आरोगसी, विध विध के सुख उपजावसी।।९२।।

सुन्दरसाथ के विश्वास को दृढ़ करने के लिये, मैं प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर दर्शन दूँगा, जिससे सुन्दरसाथ अपनी भौतिक आँखों से भी मुझे देख सकेंगे। घर–घर में अनेक प्रकार की वस्तुएँ सुन्दरसाथ को भेंट में दूँगा। उनके मध्य में बैठकर प्रत्यक्ष रूप से भोजन भी करूँगा। इस प्रकार उनके हृदय में इन लीलाओं के द्वारा तरह–तरह के सुख उत्पन्न करूँगा।

अचरा पकर पिउ देखलावसी, एक दूजी को प्रेम सिखलावसी।

ए लीला बढ़सी विस्तार, साथ अंग होसी करार।।९३।।

इस प्रकार की अलौकिक लीला में सुन्दरसाथ इस प्रकार डूब जायेंगे कि वे मेरा ही आँचल (दामन)

पकड़कर अन्य सुन्दरसाथ को भी दर्शन देने के लिये विवश कर देंगे। परमधाम की आत्मायें इस लीला में डूबकर एक–दूसरे को प्रेम की राह पर चलने के लिये प्रेरित करेंगी। इस प्रकार इस लीला का विस्तार होता जायेगा और सुन्दरसाथ के हृदय भी अत्यधिक आनन्द से भर जायेंगे।

भावार्थ– जब श्री लीलबाई जी के धामगमन का समय आया, तो श्री राज जी ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर दर्शन दिया। लीलबाई जी ने उनका आँचल पकड़ लिया और कहा कि जैसे आपने मुझे दर्शन दिया है, वैसे ही अन्य सभी सुन्दरसाथ को भी दर्शन दीजिए। लीलबाई जी के इस प्रेम भरे आग्रह से धाम धनी को विवश होकर सभी को दर्शन देना पड़ा। उपरोक्त चौपाई के पहले चरण में यही बात संकेतों में कही गयी है।

तब बानी को करसी विचार, सब माएने होसी निरवार।

तब आवसी ब्रह्मसृष्ट, जाहेर निसान देखसी सृष्ट।।९४।।

तब वे विश्वास में भरकर मेरे द्वारा कही हुई वाणी (ज्ञान चर्चा) का विचार करेंगे। मेरे द्वारा होने वाली ज्ञान चर्चा के द्वारा सभी धर्मग्रन्थों के अनसुलझे रहस्यों का स्पष्टीकरण हो जायेगा। इस प्रकार चमत्कार से परिपूर्ण लीला को देखकर, ज्ञान चर्चा से विश्वस्त होकर, ब्रह्मसृष्टियाँ मेरे चरणों में आयेंगी।

ए बंधेज कियो उत्तम, पर धाम की निध सो कही तारतम।

जिन सेती होवे पेहेचान, नजरों आवे सब निसान।।९५।।

इस प्रकार की व्यवस्था से तो जागनी कार्य उत्तम रीति से होगा, किन्तु परमधाम की निधि तो तारतम ज्ञान ही है। इस तारतम ज्ञान के प्रकाश में ही परमधाम एवं

अक्षरातीत की पहचान होती है, तथा निजधाम के सभी पक्षों का दर्शन भी होता है।

तब गांगजी भाई पाए मन उछरंग, किए करतब अति घनें रंग।
सनेहसों सेवा करी जो अत, पेहेचान के धाम धनी हुए गलित।।९६।।

धाम धनी के इन कथनों को सुनकर गाँगजी भाई के मन में बहुत अधिंक उल्लास भर गया। उन्होने प्रेम के रंग में स्वयं को बहुत अधिक डुबा दिया तथा श्री राज जी की सेवा का अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया। वे अपने प्राणेश्वर अक्षरातीत की पहचान करके गलितगात हो गये (प्रेम में रोमाञ्चित हो गये) और उन्होंने अत्यधिक स्नेह भाव से सेवा की।

साथसों हेत कियो अपार, सुफल कियो अपनो अवतार।
मैं श्रीसुंदरबाई के चरने रहूँ, एह दया मुख किन विध कहूँ।।९७।।

गाँगजी भाई ने चर्चा सुनने के लिये अपने घर आने वाले सुन्दरसाथ से भी बहुत प्रेम किया और इस जागनी लीला में अपना आना सार्थक (सफल) कर लिया। श्री इन्द्रावती जी कहती हैं कि मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि मैं पल–पल श्यामा जी के ही चरणों में रहूँ। श्यामा जी ने मेरे प्रति जो अपार प्रेम (प्रेममयी दया भाव) दर्शाया है, उसका वर्णन मैं अपने इस मुख से किस प्रकार करूँ।

कह्यो ताको इंद्रावती नाम, ब्रह्मसृष्ट मिने घर धाम।
मों पर धनी हुए प्रसन्न, सोंपे धाम के मूल वचन।।९८।।

परमधाम की ब्रह्मसृष्टियों में एक प्रमुख नाम श्री इन्द्रावती जी का है। वे कहती हैं कि मेरे प्राणवल्लभ

अक्षरातीत ने मेरे ऊपर रीझकर (अत्यधिक प्रसन्न होकर) तारतम ज्ञान के रूप में परमधाम की अनमोल निधि मुझे प्रदान की है।

आद के द्वार ना खुले आज दिन, ऐसा हुआ ना कोई खोले हम बिन।
सो कुंजी दई मेरे हाथ, तूं खोल कारन अपने साथ।।९९।।

सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज दिन तक, मेरे अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं हुआ था जो परमधाम के अनसुलझे रहस्यों को स्पष्ट करता। प्रियतम अक्षरातीत ने उन सभी रहस्यों को खोलने की कुँजी तारतम वाणी के रूप में मुझे दी और आदेश भी दिया कि तुम परमधाम के अपने सुन्दरसाथ की आत्म–जाग्रति के लिये सभी रहस्यों को उजागर कर दो।

मोहे करी सरीखी आप, टालने हम सबों की ताप।

आतम संग भई जाग्रत बुध, सुपनथें जगाए करी मोहे सुध।।१००।।

सब सुन्दरसाथ के मायावी कष्टों को दूर करने के लिये धाम धनी ने मुझे साक्षात् अपने समान ही बना लिया। उन्होंने इस मायाजन्य संसार में मुझे जाग्रत करके अपनी पूर्ण पहचान दी तथा मेरी आत्मा में जाग्रत बुद्धि का प्रकाश भर दिया।

श्रीधनीजी को जोस आतम दुलहिन, नूर हुकम बुध मूल वतन।

ए पांचो मिल भई महामत, वेद कतेबों पोहोंची सरत।।१०१।।

अब मेरे धाम हृदय में श्री राज जी के जोश (जिबरील), श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म, आवेश स्वरूप श्री राज जी, तथा जाग्रत बुद्धि (इस्राफील), ये पाँचों स्वरूप विराजमान हुए तो मुझे महामति कहलाने की शोभा मिली। वेद–कतेबों

में इस प्रकार की भविष्यवाणियाँ लिखी थीं, जो सार्थक हो गयीं।

भावार्थ– "महामति" के सम्बन्ध में कई प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. ये पाँच शक्तियाँ हैं, पाँच स्वरूप नहीं।

२. इन शक्तियों में अक्षर ब्रह्म नहीं है , बल्कि तारतम ज्ञान है।

३. सभी के अन्दर पाँचों शक्तियाँ हैं तथा सभी महामति हैं।

संक्षेप में इनकी समीक्षा इस प्रकार है–

श्रीमुखवाणी या बीतक में कहीं भी "शक्ति" शब्द का कथन नहीं है, जबकि सेवा–पूजा में यह अवश्य कहा गया है– "आरती अंग चतुर्दश केरी, पांचों स्वरूप मिल एक भयेरी।"

हदीसों में इस प्रकार का कथन अवश्य है, जिसके भाव को दर्शाने वाली यह चौपाई आई है–

"पांच नेहेरे जबराईल पर, आइयां भिस्त से उतर" (८/६८) अर्थात् पाँच नहरें अर्स से जिबरील के परों पर उतरीं। नहर शब्द स्त्रीलिंग होने से यह कहना कि पाँच स्वरूप आये ही नहीं हास्यास्पद है। शक्तिमान में ही शक्ति निहित होती है। ऐसी स्थिति में शक्तिमान के अस्तित्व को ही नकार देना कदापि उचित नहीं है।

यद्यपि जाग्रत बुद्धि एवं श्यामा जी को हिन्दी में स्त्रीलिंग मानते हैं, किन्तु कतेब परम्परा में इन्हें पुल्लिंग माना गया है।

नूर अकल असराफील, ले पोहोंच्या पार बेहद।

सनद ३७/९४

माफक रूह अल्लाह के, कोई मरद नहीं बराबर।

किरंतन

सूर्य पुल्लिंग है, किन्तु उसकी तेजस्विता स्त्रीलिंग है। चन्द्रमा पुल्लिंग है, किन्तु उसकी शीतलता स्त्रीलिंग है।

इसी प्रकार इन पाँच स्वरूपों के गुणों को देखकर कदापि नहीं कहा जा सकता कि पाँच स्वरूप आये ही नहीं।

यह तो सर्वविदित है कि देवचन्द्र जी के अन्दर श्यामा जी थीं, जो उस तन को छोड़कर श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान हुईं। इस सम्बन्ध में कहा गया है–

यह विचार करते, श्री देवचन्द्र जी बैठे दिल पर।

बीतक १७/४६

यों करते दिल खुला, बैठे दिल सुन्दर रूप अनूप।

बीतक १७/४७

का कथन ही यह सिद्ध कर रहा है कि श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में युगल स्वरूप ने विराजमान होकर लीला की।

तब हार के धनिएं विचारियां, क्यों छोडूं अपनी अरधंग।
फेर बैठे मांहे आसन कर, महामती हिरदे अपंग।।

किरंतन ९९/११

श्री इन्द्रावती जी के धाम हृदय में विराजमान अक्षरातीत आते–जाते नहीं हैं, जैसे कि यह भ्रान्ति फैल गयी है कि जिबरील ही राज जी है, और वाणी कहकर चला जाता था तथा अवतरण के समय पुनः आ जाता था। यदि श्री राज जी का कथित स्वरूप जिबरील आता–जाता है, तो उस समय श्यामा जी कहाँ रहती हैं? क्या वे भी आती–

जाती हैं?

प्रश्न यह है कि श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान हुक्म का स्वरूप क्या है? सिन्धी ग्रन्थ में वर्णित हुक्म के प्रकरण से यही सिद्ध होता है कि श्री राज जी का आवेश ही हुक्म के रूप में सब कुछ कर रहा है। "तैसा इत होता गया, जैसा हजूर हुकम करत" (बीतक) का कथन इसी सन्दर्भ में है। यद्यपि बीतक के मंगलाचरण में कथित "हुकम नूर खुदाए का, जो है नूर जलाल" (बीतक ५२/५१) से यह तो सिद्ध होता है कि अक्षर ब्रह्म श्री राज जी के हुक्म के स्वरूप हैं, किन्तु आनन्द स्वरूपा आत्माओं पर उनका हुकम नहीं चल सकता। इसलिये श्री राज जी के आवेश स्वरूप को ही हुक्म का स्वरूप मानना उचित होगा, जिनकी इच्छा से सब कुछ हो रहा है।

कलस हिन्दुस्तानी २०/३४ में कहा गया है–

भगवान जी आए इत, जागवे को तत्पर।

हम उठसी भेले सबे, जब जासी हमारे घर।।

यदि अक्षर ब्रह्म आये हैं, तो वे किस तन में बैठकर लीला देख रहे हैं? यदि नहीं आये हैं, तो क्या उपरोक्त चौपाई निरर्थक है? यदि महामति जी के धाम हृदय में अक्षर ब्रह्म का अस्तित्व ही नहीं मानेंगे, तो इन चौपाइयों का क्या अर्थ करेंगे–

महंमद आया ईसे मिने, तब अहमद हुआ स्याम।

अहमद मिल्या मेंहदी मिने, ए तीनों मिल हुए इमाम।।

खुलासा १५/२१

अल्लफ कह्या महंमद को, रूह अल्ला ईसा लाम।

मीम मेंहदी पाक से, ए तीनों एक कहे अल्ला कलाम।।

खुलासा १५/२२

अव्वल खूबी अल्ला कलाम, दूजी खूबी गिरो इस्लाम।
तीसरी खूबी तीन हादी वजूद, आखिर आए बीच जहूद।।

बड़ा कयामतनामा ५/३६

अरब में अक्षर ब्रह्म की आत्मा आती है, जो बशरी सूरत कहलाती है। तीनों सूरतों (हादियों) का श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होना कहा गया है। पुनः किस प्रमाण के आधार पर अक्षर ब्रह्म के अस्तित्व पर ही प्रश्न खड़ा किया जाता है?

प्रकाश गुजराती की अन्तिम (२७वीं) चौपाई में कहा गया है कि "इन्द्रावती कहें उठसे अक्षर, लई आनन्द पोताने घेर।" यदि अक्षर ब्रह्म भी इस खेल में आये हैं, तो वे कहाँ हैं? यदि महामति जी के धाम हृदय में वे नहीं हैं, तो अन्य किसी तन में होने का वर्णन तो तारतम वाणी

या बीतक में कहीं भी नहीं दिया गया है। "धनी मैं अरधांग अछर मुझ माहीं" (किरंतन ५४/२) का कथन श्री महामति जी के धाम हृदय में अक्षर ब्रह्म की उपस्थिति दर्शाता है।

यद्यपि "नूर नाम तारतम" अवश्य कहा गया है, किन्तु यहाँ अलग प्रसंग है। ज्ञान, प्रेम, दया आदि गुण हैं, स्वरूप नहीं।

"ए बने सरूप मा जोतज एक, तेमे जोयूं करी विवेक" (प्रकास गुजराती २४/२) से यह सिद्ध है कि श्री महामति जी के धाम हृदय में युगल स्वरूप विराजमान हैं।

"श्री देवचन्द्र जी अम कारणे, रूदे तमारे आवया" (प्रकास गुजराती १०/२) का कथन भी यही सिद्ध करता है कि श्री महामति जी के धाम हृदय में श्यामा जी भी विराजमान थीं।

सभी सुन्दरसाथ के अन्दर पाँचों शक्तियों की विद्यमानता को सिद्ध करने के लिये श्री लालदास जी कृत बड़ी वृत्त के उद्धाहरण दिये जाते हैं–

जाग्रत बुद्ध दै इनों को, जिनसे देखी लेहरे बका हक।
सराब तहूरा उतरी इनों पर, पिलाया हादी हक इसक।।
दिया जोस इनों जबराईल, कर निगेहवानी हर मोमिन।
साफ रखे सब अंग, पल पल करे रोशन।।
कुंजी अरस अजीम से, पाया रूह अल्ला इस ठाम।
सो दई हाथ मोमिन के, देखी जासो बका इसलाम।।
हुकम हक सुभान का, सो रहे इनके साथ।
खेल देखाए अरस में, मिलावे हक की जात।।
ए पांचो न्यामत इनों वास्ते, आई अरस से उतर।
सिफत इन मोमिन की, नाहीं कोई पटन्तर।।

बड़ी वृत्त ९२/१०,११,१२,१४,१५

एह इलम लदुन्नी इलम, कुंजी बका की जे।

नुकता इलम इनों को, कहूं हक दिल सो आया ए।।

एह मेहर मोमिनों पर, पांचों चीजें करी रोशन।

हुकम जोस जबराइल, बुद्ध जाग्रत दिल मोमिन।।

बड़ी वृत्त ९४/१,२

यदि उपरोक्त चौपाइयों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करें, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि इनमें पाँच निधियों (नेमतों) का वर्णन है, स्वरूपों का नहीं। प्रकरण ९२ की चौपाइयों में जिन निधियों का वर्णन है, वे इस प्रकार हैं– १. जाग्रत बुद्धि, २. इश्क, ३. जोश (जिबरील), ४. तारतम ज्ञान, ५. हुक्म।

वस्तुतः ज्ञान और प्रेम निधियाँ (आध्यात्मिक सम्पदा) हैं, स्वरूप नहीं। क्या श्री महामति जी के धाम हृदय में

युगल स्वरूप (श्री राजश्यामा जी) के विराजमान हुए बिना, जिबरील एवं अस्राफील में श्री राज जी, श्यामा जी, एवं सखियों के नख से शिख तक की शोभा का वर्णन करने का सामर्थ्य है?

बड़ी वृत्त ९२/१५ में जिस हुक्म का वर्णन किया गया है, वह महामति जी के धाम हृदय में विराजमान श्री राज जी का आवेश स्वरूप (हुक्म) नहीं है, अपितु बीतक में वर्णित हुक्म के समान है– "जो मेरी सुध दयों औरों को, तित चले तुम्हारा हुकम", अर्थात् जो सुन्दरसाथ अन्य किसी को श्री प्राणनाथ जी की पहचान देगा, वह ज्ञान से जाग्रत होकर उस सुन्दरसाथ के निर्देशों का पालन करेगा। इसके अतिरिक्त जो सुन्दरसाथ अपने धाम हृदय में चितवनि के द्वारा युगल स्वरूप की शोभा बसा लेंगे, उनकी आध्यात्मिक एवं दूसरों का कल्याण करने वाली

प्रत्येक इच्छा को धाम धनी अवश्य पूर्ण करेंगे। ब्रह्मसृष्टियों के लिये यही हुक्म है।

यदि सभी सुन्दरसाथ महामति जी के समान हैं, तो वाणी चर्चा करने या चितवनि–चर्चनी सिखाने की क्या आवश्यक्ता है? क्या एक महामति जी दूसरे महामति जी को ज्ञान का उपदेश दे रहे हैं? जब सभी महामति जी के ही समान हैं, तो जो सुन्दरसाथ मद्यपान करते हैं, अण्डे व माँस खाते हैं, दुराचार करते हैं, क्या वे भी महामति जी के समकक्ष हैं? यदि यही सब धर्म है, तो अधर्म क्या है? तारतम वाणी में स्पष्ट कहा है–

सब थें बड़ी मुझे करी, ऐसी और न दूजी कोए।

किरंतन १०९/२

तारीफ महंमद मेहदी की, ऐसी सुनी न कोई क्यांहें।

कई हुए कई होएसी, पर किन ब्रह्माण्डों नांहें।।

सनंध ३०/४३

ऐसी स्थिति में श्री महामति जी से किसी की तुलना करने का प्रश्न ही नहीं है।

या कुरान या पुरान, ए कागद दोऊ प्रवान।

याके मगज माएने हम पास, अंदर आए खोले प्राणनाथ।।१०२।।

कुरआन और वेदादि पुरातन विद्या हमारे साक्षी ग्रन्थ हैं। इनके गुह्य भेद केवल हमारे पास हैं। अक्षरातीत श्री प्राणनाथ मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर उनके गुह्य रहस्यों को सबके लिये प्रकाश में ला रहे हैं।

आप भी ना खोले दरबार, सो मुझ से खोलाए कियो विस्तार।

मोहे दई तारतम की करनवार, सो काहूँ न अटको निरधार।।१०३।।

श्री देवचन्द्र जी के तन में लीला करते हुए भी आपने परमधाम के सर्वोपरि (मारिफत के) रहस्यों को उजागर नहीं किया। यह शोभा आपने मुझे दी और मेरे तन से अध्यात्म जगत के गुह्य रहस्यों को प्रकाश में लाकर तारतम वाणी में उसका विस्तार कराया। आपने मेरे हाथ में तारतम ज्ञान रूपी वह चप्पू दे दिया है, जिससे सर्वधर्मग्रन्थ रूपी नौका को भवसागर में चलाया जाता है, अर्थात् इन धर्मग्रन्थों के छिपे रहस्यों को प्रकाश में लाने से सबको अखण्ड में जाने का मार्ग मिलता है। अब तारतम ज्ञान के प्रकाश में कहीं भी अटकने की कोई सम्भावना ही नहीं है।

सब संसे को किया निरवार, कोई संसा न रह्या वार के पार।
रोसन करूं लेऊँ हुकम बजाए, ब्रह्मसृष्ट और दुनियां देऊँ जगाए।।१०४।।

प्रियतम अक्षरातीत ने मेरे धाम हृदय में विराजमान होकर सभी संशयों का निराकरण (समाधान) कर दिया है। अब निराकार के परे बेहद एवं परमधाम से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का कोई संशय नहीं है। धाम धनी के आदेश से उनकी इस श्रीमुखवाणी को मैं संसार में फैलाऊँगी, तथा ब्रह्मसृष्टि, ईश्वरीसृष्टि, एवं इस संसार की जीव सृष्टि को भी जाग्रत करूँगी।

द्वार तोबा के खुले हैं अब, पीछे तो दुनियां मिलसी सब।
जब द्वार तोबा के मूंदयो, रैन गई भोर जो भयो।।१०५।।

जब तक पाँचवें या छठें दिन की जागनी लीला में तारतम वाणी का प्रकाश फैल रहा है, तब तक अक्षरातीत को छोड़कर अन्य की भक्ति करने वालों तथा विषय–विकारों में लिप्त रहने वाले लोगों के लिये

प्रायश्चित का अवसर है। इसके बाद यह अवसर नहीं मिलेगा। परिणाम स्वरूप माया की जिस रात्रि (लैल–तुल–कद्र) में यह जागनी लीला चल रही है, उसके बीतते ही यह ब्रह्माण्ड भी समाप्त हो जायेगा तथा इस ब्रह्माण्ड के सभी प्राणी योगमाया के ब्रह्माण्ड में जाग्रत बुद्धि का प्रकाश प्राप्त करेंगे। यदि इस समय अपनी भूलों का प्रायश्चित नहीं किया, तो बाद में तो सारे संसार को श्री प्राणनाथ जी के चरणों में आकर प्रायश्चित की अग्नि में जलना ही पड़ेगा।

भावार्थ– तारतम वाणी के प्रकाश में रात्रि का अन्धकार मिटा और ज्ञान का सवेरा हुआ जिसमें अक्षरातीत की पहचान हुई, किन्तु इस प्रकाश को कुछ ही लोगों ने ग्रहण किया। इसे ही कतेब परम्परा में कियामत का आना कहते हैं।

जब योगमाया के ब्रह्माण्ड में संसार के सभी प्राणी एकत्रित होंगे (पहुँचेंगे), उस समय जाग्रत ब्रह्माण्ड (बेहद मण्डल) में होने से सभी को जाग्रत बुद्धि मिलेगी, जिससे सभी को यह बोध हो जायेगा कि अक्षरातीत कौन है और हमें किससे प्रेम करना चाहिए? इस बोध को ही प्रातःकाल का उजाला होना कहा गया है। कतेब परम्परा में इसे दूसरी कियामत कहा जाता है।

या भली या बुरी, जिनहूं जैसी फैल जो करी।

तब आगूं आई सबों की करनी, जिन जैसी करी आप अपनी।।१०६।।

योगमाया के ब्रह्माण्ड में जब न्याय की लीला होगी, उस समय जिसने जैसे भी कर्म किये होंगे, अच्छे या बुरे, सबके सामने प्रत्यक्ष हो जायेंगे। उस समय अपने–अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होगा।

तब कोई नहीं किसी के संग, दुख सुख लेवे अपने अंग।
करूं ब्रह्मसृष्ट को मिलाप, अखंड सूर उदे भयो आप।।१०७।।

उस समय कोई भी किसी की किसी भी प्रकार से सहायता नहीं कर सकेगा। सबको अपने–अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुःख भोगना पड़ेगा। स्वयं धाम धनी मेरे हृदय में अखण्ड ज्ञान के सूर्य के रूप में प्रकट हो गये हैं। इसके द्वारा मैं सभी ब्रह्मसृष्टियों को जाग्रत करके प्रियतम के चरणों में लाऊँगी।

विस्व मिली करने दीदार, पीछे कोई ना रहे मिने संसार।
ब्रह्मसृष्ट को पिया संग सुख, सो कह्यो न जाए या मुख।।१०८।।

इस जागनी लीला के समाप्त होते ही यह ब्रह्माण्ड भी लय हो जायेगा तथा ब्रह्मसृष्टियाँ अपने मूल तनों में जाग्रत हो जायेंगी। उस समय उन्हें अपने प्राणेश्वर से प्रेम का

इतना सुख मिलेगा कि उसका वर्णन इस मुख से नहीं हो सकता। सारे संसार के प्राणी बेहद मण्डल में विराजमान श्री प्राणनाथ जी का दर्शन करने के लिये एकत्रित होंगे। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रहेगा, जो उनका दर्शन न करे।

भावार्थ– इस जागनी ब्रह्माण्ड में श्री प्राणनाथ जी का स्वरूप एक पञ्चभूतात्मक तन में लीला कर रहा है। उस तन में ही अक्षरातीत पाँचों स्वरूपों (जोश, श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म, श्री राज जी का आवेश, एवं जाग्रत बुद्धि) के साथ विराजमान हैं। किन्तु न्याय के दिन सत्स्वरूप में श्री मिहिरराज जी का जीव ही श्री राज जी का प्रतिबिम्बित (हुबहू) नूरी रूप धारण करेगा तथा श्री देवचन्द्र जी का जीव श्यामा जी का रूप धारण करेगा। उस तन में अक्षर ब्रह्म भी नहीं रहेंगे , केवल जोश एवं जाग्रत बुद्धि ही विद्यमान रहेंगे। सारे ब्रह्माण्ड के प्राणी

यही समझेंगे कि ये ही साक्षात् पूर्णब्रह्म अक्षरातीत हैं।

ब्रह्मसृष्ट को ऐसो नूर, जो दुनियां थी बिना अंकूर।
ताए नए अंकूर जो कर, किए नेहेचल देख नजर।।१०९।।

इस संसार के जीव बेहद मण्डल में जाने के अधिकारी नहीं थे, क्योंकि उनका बेहद से सम्बन्ध ही नहीं था। किन्तु ब्रह्मसृष्टि की ऐसी महिमा है कि उन्होंने अपने तारतम ज्ञान से उन्हें बेहद मण्डल की अखण्ड मुक्ति का अधिकारी बनाया, तथा जिन जीवों पर उन्होंने विराजमान होकर इस खेल को देखा है, उन्हें अपनी प्रेम भरी दृष्टि से देखकर सत्स्वरूप की पहली बहिश्त (मुक्तिस्थान) में अपना ही स्वरूप प्रदान किया और अनन्त काल के लिये अखण्ड सुख का अधिकार भी दिया।

भावार्थ– उपरोक्त चौपाई में "अंकूर" शब्द से आशय सम्बन्ध या अधिकार प्राप्त करने से है।

श्री धनीजी को दीदार सब कोई देख, होए गई दुनियां सब एक।
किनहूँ कछुए ना कह्यो, क्रोध ब्रोध काहूको ना रह्यो।।११०।।

जब सत्स्वरूप में न्याय के सिंहासन पर विराजमान हुए श्री प्राणनाथ जी को संसार के समस्त लोग देखेंगे, तो वे सभी आपस में एक हो जायेंगे। कोई भी किसी को बुरा नहीं कहेगा तथा उनमें से किसी में भी किसी अन्य के प्रति क्रोध या विरोध नहीं होगा।

भावार्थ– इस मायावी जगत में रज और तम से काम, क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। योगमाया का ब्रह्माण्ड त्रिगुणातीत है, अतः वहाँ मायावी विकारों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

श्री धनीजी को ऐसो जस, दुनियां आपे भई एक रस।
तेज जोत प्रकास जो ऐसो, काहूं संसे ना रह्यो कैसो।।१११।।

श्री प्राणनाथ जी (श्री जी) की ऐसी महिमा है कि समस्त संसार उनके ज्ञान एवं उनकी कृपा से एकरस हो जायेगा। जाग्रत बुद्धि वाले उस बेहद मण्डल का तेज, ज्योति, एवं प्रकाश ऐसा होगा कि किसी के अन्दर किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहेगा।

सब जातें मिली एक ठौर, कोई ना कहे धनी मेरा और।
पिया के विरह सों निरमल किए, पीछे अखंड सुख सबों को दिए।।११२।।

उस बेहद मण्डल में संसार की सभी जातियां श्री प्राणनाथ जी के चरणों में विद्यमान होंगी। उस समय कोई भी यह नहीं कहेगा कि इनके अतिरिक्त कोई और भी परमात्मा है। संसार के सभी जीव अपनी इस भूल के

लिये पश्चाताप की अग्नि में जलेंगे कि परब्रह्म प्राणनाथ हमारे मायावी जगत में आये थे, किन्तु हमने उनकी पहचान नहीं की। इस प्रकार जब वे विरह में तड़प–तड़प कर निर्मल होंगे, तब उन्हें योगमाया की आठों बहिश्तों (मुक्ति स्थानों) में ब्रह्मानन्द का रसपान करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

ए ब्रह्मलीला भई जो इत, सो कबहूं हुई ना होसी कित।
ना तो कई उपज गए इंड, भी आगे होसी कई ब्रह्मांड।।११३।।

आज दिन तक इस सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड बने तथा प्रलय को प्राप्त हो गये और भविष्य में भी ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति–लय का चक्र चलता रहेगा, किन्तु यह जो ब्रह्मलीला (व्रज, रास, और जागनी) हुई है, ऐसी न तो पहले कभी हुई है और न कभी भविष्य में कभी होगी।

ए तीन ब्रह्मांड हुए जो अब, ऐसे हुए ना होसी कब।

इन तीनों में ब्रह्मलीला भई, बृज रास और जागनी कही।।११४।।

ये जो तीन ब्रह्माण्ड अब हुए हैं, ऐसे न तो पहले कभी हुए हैं और न कभी भविष्य में होंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि अनहोनी घटना के रूप में स्वयं सच्चिदानन्द परब्रह्म ने अपनी आत्माओं के साथ इनमें ब्रह्मलीला की है, जिन्हें व्रज, रास, और जागनी ब्रह्माण्ड कहते हैं।

ज्यों नींद में देखिए सुपन, यों बृज को सुख लियो सैयन।

सुपन जोगमाया को जोए, आधी नींद में देख्या सोए।।११५।।

जिस प्रकार गहरी निद्रा की अवस्था में स्वप्न देखते हैं, उसी प्रकार सखियों ने व्रज लीला का सुख लिया। योगमाया के ब्रह्माण्ड में होने वाली रास लीला को आधी नींद आधी जागृति की अवस्था में स्वप्न की तरह देखा,

अर्थात् इस लीला में प्रियतम से अपने सम्बन्ध का तो पता था किन्तु परमधाम का ज्ञान नहीं था।

कछुक नींद कछुक सुध, रास को सुख लियो या विध।
जागनी को जागते सुख, ए लीला सुख क्यों कहूं या मुख।।११६।।

कुछ नींद तथा कुछ जाग्रत अवस्था में सखियों ने रास का सुख लिया, किन्तु जागनी लीला का सुख तो जाग्रत अवस्था का है। मैं अपने इस मुख से जागनी लीला के सुख का वर्णन कैसे करूँ?

जागनी में लीला धाम जाहेर, निसान हिरदे लिए चित धर।
तब उपज्यो आनंद सबों करार, ले नजरों लीला नित विहार।।११७।।

इस जागनी ब्रह्माण्ड में परमधाम की अष्ट प्रहर की लीला तथा २५ पक्षों का ज्ञान प्रकट हो गया है। जब

सभी अपने हृदय में ज्ञान दृष्टि से युगल स्वरूप सहित २५ पक्षों की शोभा को बसा लेंगे तथा उनकी आत्मिक दृष्टि में अष्ट प्रहर की लीला भी दृष्टिगोचर होने लगेगी, तब सभी सुन्दरसाथ को अलौकिक आनन्द का अनुभव होगा।

द्रष्टव्य– "करार" शब्द अरबी भाषा का है। इसका आशय आनन्द से है।

इतहीं बैठे घर जागे धाम, पूरन मनोरथ हुए सब काम।
धनी महामत हँस ताली दे, साथ उठा हँसता सुख ले।।११८।।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर हमें ऐसा अनुभव होगा कि भले ही इस नश्वर तन से हम मायावी जगत में रह रहे हैं, किन्तु हमारी आत्मिक दृष्टि युगल स्वरूप तथा परमधाम के २५ पक्षों में विहार कर रही है। हमें यह भी

अनुभव होगा कि हमारी जो भी लौकिक–अलौकिक इच्छायें थीं, सभी पूर्ण हो गयी हैं। श्री महामति जी की आत्मा कहती है कि अब प्राणेश्वर अक्षरातीत इस खेल को समाप्त करने के लिये हँसते हुए ताली बजायेंगे, अर्थात् संकेत रूपी आदेश देंगे, तो समस्त सुन्दरसाथ हँसते हुए अपने मूल तनों में आनन्दपूर्वक जाग्रत हो जायेंगे।

भावार्थ– "ताली बजाना" संकेत देने के भाव में प्रयुक्त होता है। इसे बाह्य रूप में नहीं लेना चाहिए।

प्रकरण ।।३७।। चौपाई ।।११८५।।

प्रकरण तथा चौपाइयों की कुल संख्या

प्रकरण १४८ चौपाई ३८९८

।। प्रकास हिन्दुस्तानी – जंबूर ।।

।। संपूर्ण ।।